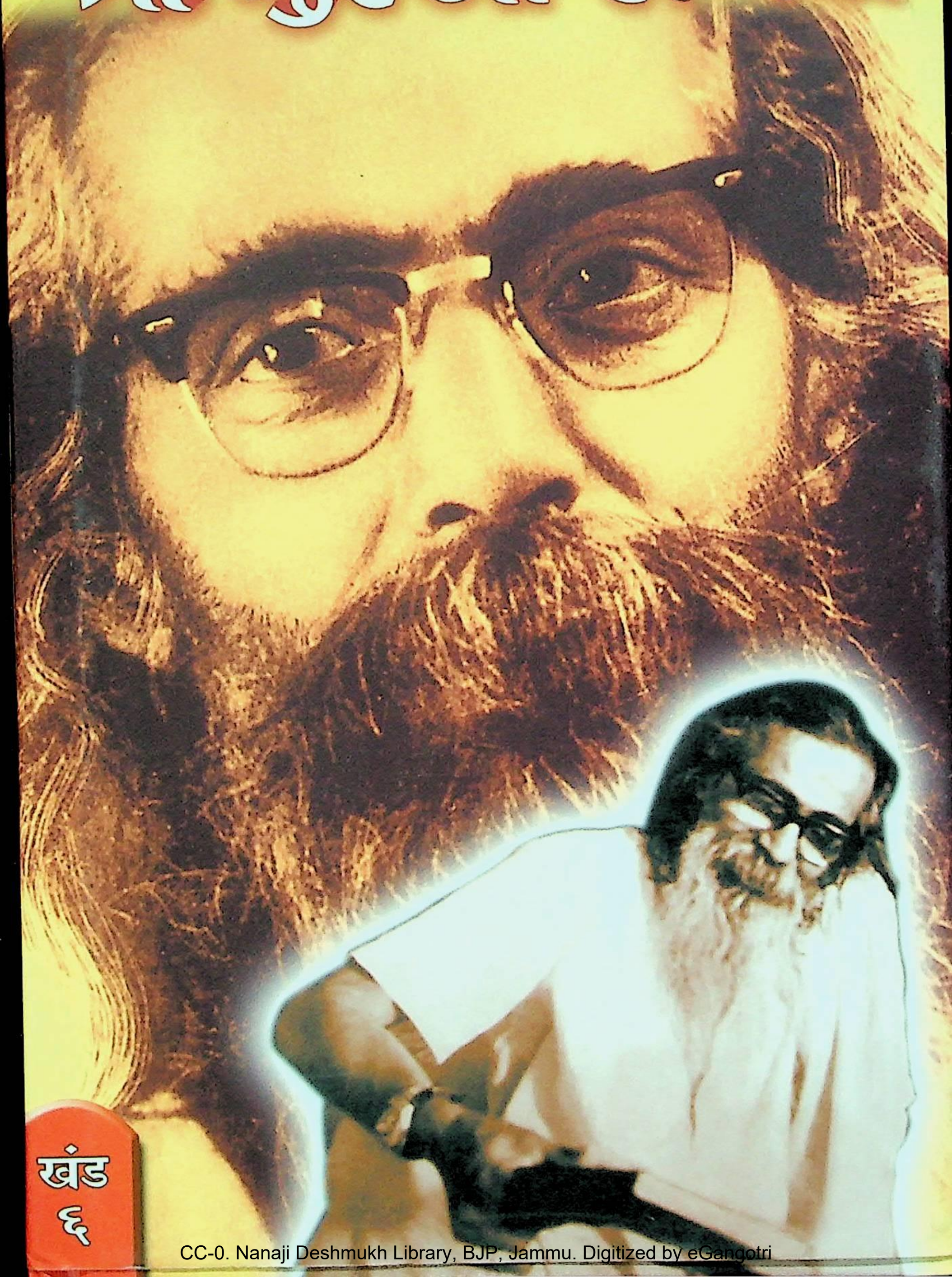
श्री गुरुजी समग्र



खंड
६

खंड १ : आदरांजलि

श्री गुरुजी का जीवन पट और महापुरुषों को दी गई श्रद्धांजलि।

खंड २ : संघ मंथन

प्रतिबंध के बाद नागपुर व उत्तरप्रदेश में दिए भाषण। सिंदी, इंदौर व ठाणे की चिंतन बैठकों में दिये गए भाषण।

खंड ३ : प्रबोधन

कार्यकर्ताओं को दिशादर्शन, बैठकें, प्रेरक पाथेय और कार्यक्रमों में दिए उद्‌बोधन।

खंड ४ : प्रशिक्षण

संघ शिक्षा वर्गों में १९३८ से १९७२ तक के बौद्धिक।

खंड ५ : समाजोद्‌बोधन

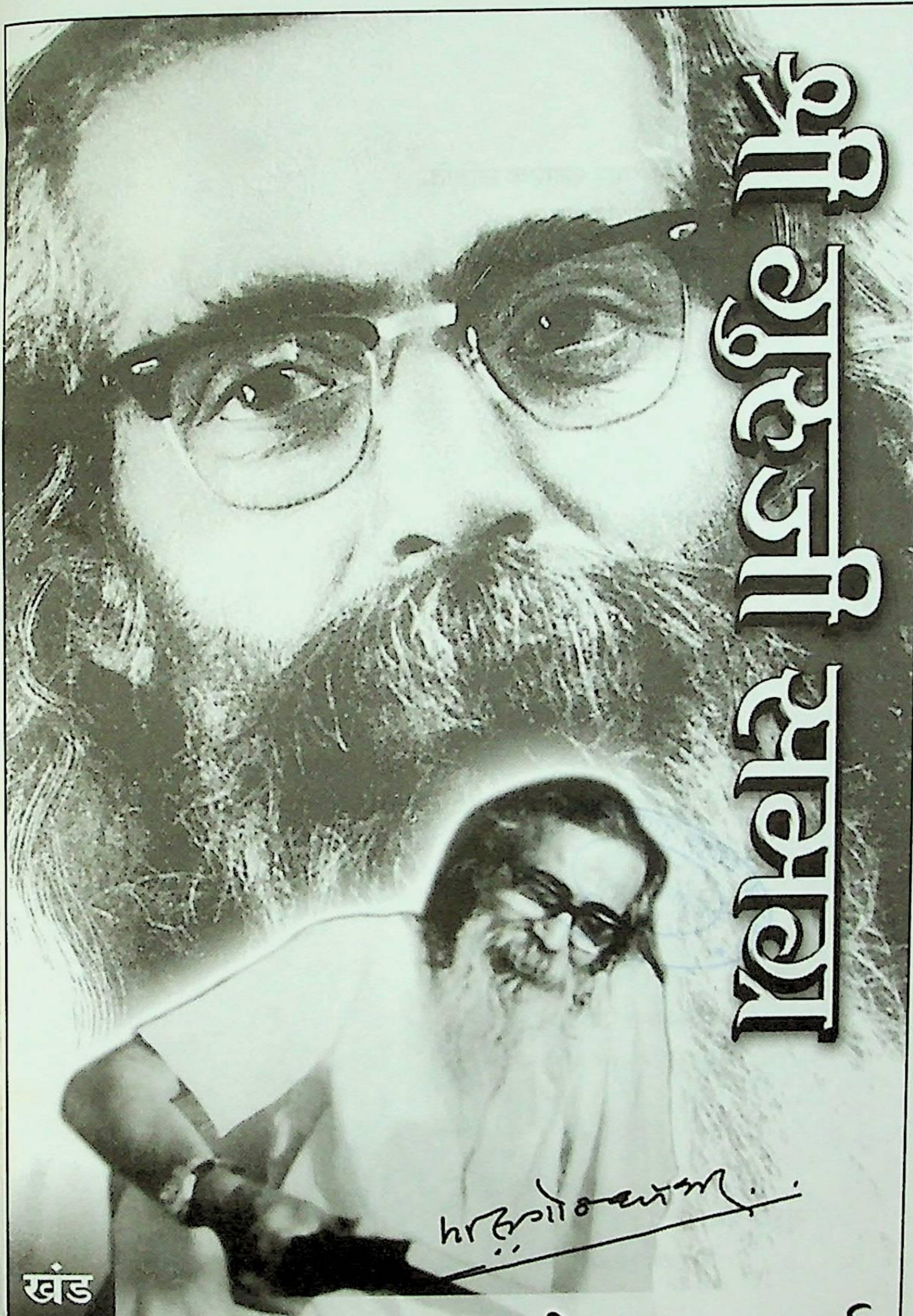
विविध संस्थाओं में दिए भाषण, विजयादशमी के बौद्धिक, उत्सवों पर दिए बौद्धिक।

खंड ६ : लेखन-कार्य

लेख, संस्थाओं की अभ्यागत–पुस्तिकाओं में अंकित अभिप्राय, पुस्तकों के लिए लिखी प्रस्तावनाएँ, छात्रकालीन पत्र, अंतिम तीन पत्र, सारगाछी आश्रम की दैनंदिनी।

6

A2→R2


श्री गुरुजी समग्र
खंड ६
लेखन कार्य

स्वत्वाधिकार :

डा. हेडगेवार स्मारक समिति
डा. हेडगेवार भवन,
महाल, नागपुर-४४००३२

प्रकाशक :

सुरुचि प्रकाशन
देशबंधु गुप्ता मार्ग,
नई दिल्ली-११००५५

प्रथम संस्करण :

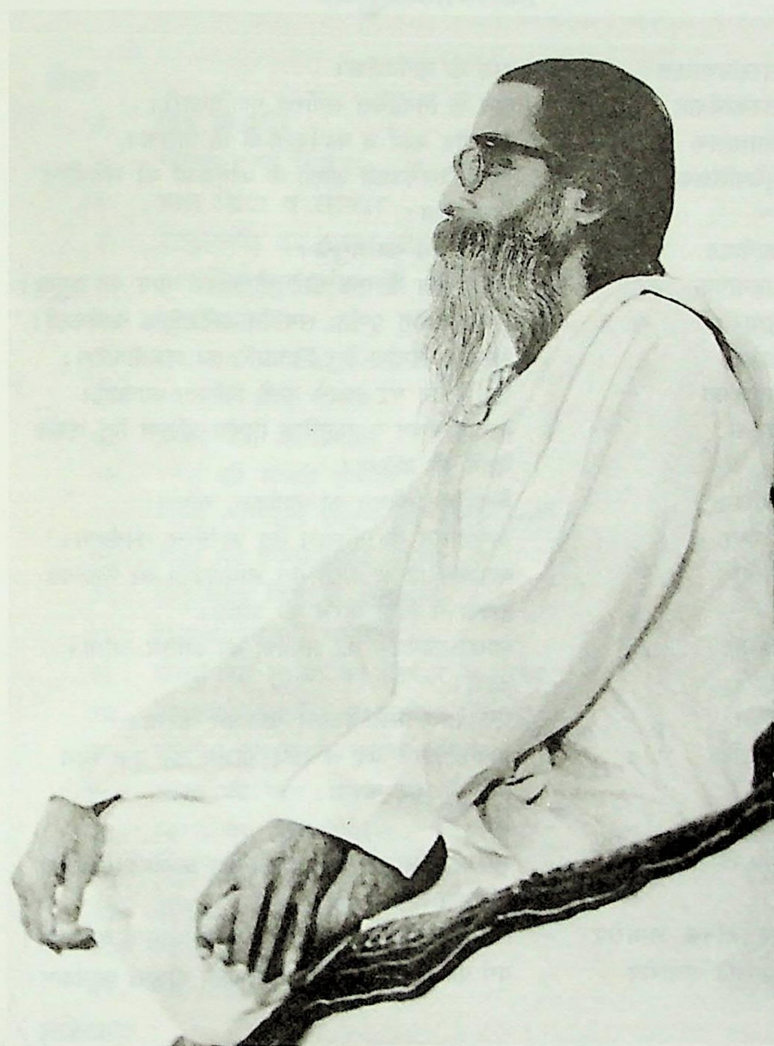
माघ कृष्ण एकादशी युगाब्द ५१०६

मुद्रक :

गोपसन्स पेपर्स लि.,
नोएडा-२०१३०१

मूल्य प्रति संच :

दो हजार रुपए



पारिभाषिक शब्द

सरसंघचालक	–	संघ के मार्गदर्शक।
सरकार्यवाह	–	संघ के निर्वाचित सर्वोच्च पदाधिकारी।
संघचालक	–	स्थानीय कार्य व कार्यकर्ताओं के पालक।
मुख्यशिक्षक	–	नित्य चलनेवाली शाखा के कार्यक्रमों को संचालित करनेवाला।
कार्यवाह	–	शाखा क्षेत्र का प्रमुख।
गटनायक	–	शाखा क्षेत्र के एक छोटे भौगोलिक भाग का प्रमुख।
प्रचारक	–	संघकार्य हेतु पूर्णतः समर्पित अवैतनिक कार्यकर्ता।
शाखा	–	संस्कार निर्माण हेतु नित्यप्रति का एकत्रीकरण।
उपशाखा	–	एक स्थान पर चलने वाली विभिन्न शाखाएँ।
बैठक	–	विचार-मंथन व सामूहिक निर्णय-प्रक्रिया हेतु एकत्र बैठने की प्रक्रिया।
बौद्धिक	–	वैचारिक प्रबोधन का कार्यक्रम, भाषण।
समता	–	अनुशासन के प्रशिक्षण हेतु शारीरिक कार्यक्रम।
संपत्	–	कार्यक्रम प्रारंभ करने हेतु स्वयंसेवकों को निश्चित रचना में खड़ा करने की आज्ञा।
विकिर	–	शाखा-कार्यक्रम की समाप्ति की अंतिम आज्ञा।
दंड	–	लाठी।
चंदन	–	एक साथ मिल-बैठकर जलपान करना।
सहभोज	–	अपने-अपने घर से लाए भोजन को एक साथ मिल-बैठकर करना।
शिविर	–	कैंप।
संघ शिक्षा वर्ग	–	संघ की कार्यपद्धति सिखाने हेतु क्रमबद्ध त्रिवर्षीय प्रशिक्षण योजना।
सार्वजनिक समारोप	–	शिविर तथा वर्ग का अंतिम सार्वजनिक कार्यक्रम।
खासगी समारोप	–	वर्ग का केवल शिक्षार्थियों के लिए दीक्षांत कार्यक्रम।

अनुक्रमणिका

लेख

अभिप्राय

खंड : ६

लेखन-कार्य

श्री गुरुजी ने राष्ट्र के सम्मुख धर्मनीति, अर्थनीति, सुरक्षा, इतिहास, राजनीति, सामाजिक व्यवस्था आदि विषयों के ज्वलंत प्रश्नों व समस्याओं पर अपने स्पष्ट विचार हिंदी, मराठी व अंग्रेजी पत्रिकाओं की माँग पर लेखबद्ध किए थे। उन्होंने इन लेखों द्वारा सामयिक परिस्थिति पर सर्वसामान्य व्यक्ति, समाज व राष्ट्रनेताओं को सावधान किया था। इन लेखों में भारत की अस्मिता व राष्ट्रोत्थान का सनातन चिंतन स्पष्ट और निर्भयता से प्रकट हुआ है।

लेख

इस खंड में श्री गुरुजी के द्वारा सन् १९५० से १९७२ के मध्य लिखे २६ लेख प्रस्तुत हैं जिसमें से अधिकतर 'कल्याण', 'राष्ट्रधर्म', 'पांचजन्य', 'ऑर्गनायजर' आदि में प्रकाशित हुए।

---

१. हिंदू-संस्कृति

(कल्याण 'हिंदू-संस्कृति' विशेषांक, जनवरी १९५०)

मनुष्य मात्र को परम सुख की प्राप्ति करवा देने का ध्येय सामने रखकर चलने का दावा करनेवाले बहुत से धर्म-पंथ तथा जीवन-रचनाएँ आज संसार में विद्यमान हैं। उनके स्थूल रूप से दो भेद किए जा सकते हैं - (१) ईश्वर का अस्तित्व मानकर उसकी उपासना द्वारा मनुष्य को सुख प्राप्त हो सकता है, ऐसा कहनेवाली और (२) प्रत्यक्ष दिखाई देनेवाले इस भौतिक जगत् के अतिरिक्त और कोई सत्य है ही नहीं और इस जड़ जगत् में पाए जानेवाले साधनों को सुलभता से प्रत्येक व्यक्ति को प्राप्त करवा देने पर उसकी स्वाभाविक आवश्यकताएँ या आकांक्षाएँ पूरी करने में ही सब सुख है, ऐसा प्रतिपादन करनेवाली। शारीरिक क्षुधाओं की पूर्ति में सुख तथा उस पूर्ति के लिए आवश्यक वस्तुओं की अप्राप्ति से जीवमात्र को दुःख होता है। अतः भौतिक कामनाओं की पूर्ति में सुख है। यह बात आपाततः ठीक जँचती है। इसी बात को लेकर अनेक आधुनिक विचार-प्रणालियाँ उत्पन्न हुई हैं। मानवों की आर्थिक अधिष्ठान पर रचना करना, जिसमें प्रत्येक मनुष्य अपने शारीरिक सुख-साधनों को प्राप्त करे और उस आर्थिक अधिष्ठान के अनुकूल ही मनुष्य का समाजजीवन और राजनैतिक रचना आदि का निर्माण करना— यह उन विचार-प्रणालियों का एकमात्र उद्दिष्ट है,

परंतु कुछ काल के लिए होनेवाली वासनापूर्ति, जीवसाधारण विषयप्राप्ति सुखकारक होने पर वह आगे चलकर मनुष्य को अशांत करती हुई दिखाई देती है। इसके दो कारण हैं। एक तो विषय वासनाओं की पूर्ति सर्वथा असंभव है। उनको तुष्ट करने की जितनी ही चेष्टा की जाती है, उतनी ही वे बढ़ती हैं। इस प्रकार व्यक्ति या समाज के लिए वासनाओं का उत्तरोत्तर बढ़ते जाना और उस पर सदा असंतोष का बना ही रहना, यही जगत् में बार-बार होनेवाले भयंकर युद्धों का प्रमुख कारण है। जगत् में अशांति तथा असुख बनाए रखने में, यही प्रबल कारण हैं। इस प्रकार वासनापूर्ति असंभव होने के कारण मानव-जीवन दुःखी होता हुआ दिखाई देता है। दूसरी बात यह कि मनुष्य केवल निर्बुद्ध प्राणी तो है नहीं। उसमें बुद्धि है, वह सोच सकता है और जीवसाधारण विकारों के कारण तथा जगत् का ही प्रथम अनुभव और उससे कुछ भौतिक सुख-लाभ की संभावना देखने के कारण, वह उसमें कुछ काल रमण करता है। परंतु आगे चलकर वह समझ जाता है कि इन आपाततः सुख देनेवाली वस्तुओं में वास्तविक सुख देने की कोई शक्ति नहीं है। सुख तो अपने ही अंदर समय-समय पर उठनेवाली वासना-तरंगों की शांति से होता है, याने सुख बाह्य वस्तु में नहीं, वासनापूर्ति में भी नहीं, किंतु वासना के शांत होने में है।

पंथों की उत्पत्ति

इस विचार के उत्पन्न होते ही मनुष्य भौतिक जीवन से मुँह मोड़कर जगत् की चित्र-विचित्र रचना करनेवाली ईश्वर नाम की कोई सर्वगुणसंपन्न सर्वसुखमयी शक्ति होनी ही चाहिए, ऐसा अनुमान करके भौतिक जीवन को केवल दुःखमय मान लेता है और उस शक्ति की उपासना करने से सुखप्राप्ति हो सकेगी, ऐसी भावना रखता है। ऐसी भावना और अनुमान ही धर्म-पंथों के जन्म में कारण होते हैं। (यहाँ निसर्गपूजा, प्रेतपूजा आदि अत्यंत प्राथमिक स्वरूपों की उपासनाओं का विचार नहीं किया है)। भौतिक सुख में सुख है ही नहीं, जीवन केवल दुःखमय है। इस जीवन के पश्चात् उस शक्ति की उपासना से चिरंतन सुख-प्राप्त हो सकेगा, इस भाव को लेकर केवल श्रद्धा पर आधारित ये पंथ बन जाते हैं।

परंतु मनुष्य केवल श्रद्धा के भरोसे, मृत्यु के पश्चात् आनेवाले ऐसे जीवन पर निर्भर रहकर, जिसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिलता, आज के प्रत्यक्ष जीवन के सुख-दुःखादि को भूल नहीं सकता। इन उपासनाओं में

प्रत्यक्ष मानव-जीवन की रचना और उससे निर्मित सुख का कुछ भी प्रबंध नहीं होता। अतः जब प्रत्यक्ष जीवन को दुःख से मुक्त करने के प्रयत्नों में इस प्रकार की केवल श्रद्धामूलक उपासनाएँ उसे अपर्याप्त दिखती हैं, तब उसे भयानक असमाधान का अनुभव होता है और तब वह श्रद्धाशून्य जड़वाद की ओर झुकता है।

मूलतत्त्व की खोज

परंतु मनुष्य में बुद्धि भी है। वह स्वयं के और सामने दिखनेवाले और दिन-प्रतिदिन अनुभव में आनेवाले सुख-दुःखमिश्रित जगत् के विषय में सोचता है। इस सारे दृश्य प्रपंच के किसी मूलभूत सत्तत्त्व की खोज करता है। उस सत्तत्त्व के विचार से प्राप्त निर्णयों का जीवन में उपयोग करके देखता है, किंतु सुख का मध्यबिंदु प्राप्त नहीं होता। यह स्वाभाविक भी है। किसी वर्तुल के मध्यबिंदु को खोजने के लिए उसकी परिधि के दो ही बिंदु लेने से काम नहीं चलता। एक तीसरा बिंदु भी लेना पड़ता है, तभी वर्तुल का मध्य पाया जा सकता है, अन्यथा सभी सत्तत्त्व व जिज्ञासाएँ असफल रहती हैं।

भारतीयेतर समाजों में, विशेषकर आज के भौतिक दृष्टि से प्रगत पाश्चात्य समाजों में उपर्युक्त तीनों प्रकार पाए जाते हैं। उन सब में मनुष्य के जीवन को समाजरूप से सुव्यवस्थित कर ऐहिक जीवन के सुख की ओर ध्यान देने में समर्थ केवल प्रथमोक्त जड़वादी विचार ही है। उर्वरित दोनों का प्रत्यक्ष जीवन से साक्षात् संबंध वे नहीं ला सके और इसीलिए उनके प्रति अधिकाधिक अश्रद्धा ही निर्माण होती जा रही है। प्रथम जड़वाद ही मनुष्य मात्र के अंतःकरण पर प्रभाव डालता हुआ दिखाई देता है। वह भी सुख का वास्तविक स्वरूप न जानने के कारण जीवन में एक तीव्र असमाधान और अशांति फैलाता हुआ प्रतीत होता है।

भारत में इस विषय पर सब पहलुओं से विचार किया गया है। इस शरीर के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, अतएव-

यावज्जीवं सुखं जीवेद् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्।
भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः।।

इस प्रकार के पूर्णतया जड़वादी विचार से लेकर 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' इस पूर्णतया तत्त्व-ज्ञानात्मक सिद्धांत तक सभी विचार अपने हिंदू-समाज के पूर्व ऋषि-मुनियों ने किए हैं। उन्होंने यह अनुभव किया कि

सुख की प्राप्ति किसी परलोक में, इस जीवन के अंत के पश्चात् होगी, अभी कुछ भी नहीं मिलेगा। इससे किसी का समाधान हो नहीं सकता। साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि ऐहिक जीवन के सुख-साधन पूर्णतया व्यर्थ न होने पर भी वे चिरकाल सुख देने में समर्थ नहीं हैं। सुख वस्तुनिष्ठ नहीं, आत्मनिष्ठ है। कामपूर्ति के समस्त साधन समीप होने पर भी मनुष्य दुःखी रह सकता है और ऐहिक सुख-लाभ के किसी साधन के बिना ही मनुष्य चिरंतन शांति का अनुभव कर सकता है। उन्होंने यह भी देखा कि कामपूर्ति के साधनों की विपुलता काम को पूर्ण कर देने के स्थान में काम की वृद्धि करके असमाधान और तज्जन्य दुःख को जन्म देती है, तथापि इस जीवन में भी सुख मिले और इस शरीर के अंत के पश्चात् भी यदि कोई जीवन हो, तो वह भी सुख-संपन्न हो, यही मनुष्य चाहता है। यही सोचकर हिंदू-तत्त्वज्ञों ने 'धर्म' की व्याख्या 'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः' इस प्रकार करके धर्म को अभ्युदय और निःश्रेयस, ऐहिक और पारलौकिक सुख, सिद्ध करने के लिए समाज की धारणा करनेवाला बतलाया।

अखंड सुख

मनुष्य मात्र को सुव्यवस्थित समाजरूप से धारण कर प्रत्येक व्यक्ति के ऐहिक सुखलाभ के साथ पारमार्थिक उन्नति करने की दृष्टि से हिंदुओं ने तत्त्व-विचारणा की। सर्वप्रथम विचार, अर्थात् सुख का वास्तविक स्वरूप निर्धारित करना रहा। अनुभव से वह आत्मनिष्ठ है, अर्थात् जीव सुखमय है। अतः समस्त सृष्टि सुखमय, आनंदमय चिरंतन सत्य का ही व्यक्त रूप है। इस विचार को पाकर उन्होंने जीव और जगत्– दो बिंदुओं के साथ सत्-चित्-आनंदमय ईश्वररूप तीसरे बिंदु की खोज की और इन तीन बिंदुओं को परस्पर जोड़कर इस अखंड-मंडलाकर विश्व का मध्य, एक अद्वितीय अनिर्वचनीय, जो मध्य के नाते सबको व्याप्त करता हुआ भी उससे परे और सर्वथा स्वतंत्र है, उस महान तत्त्व का आविष्कार किया और उसे उन्होंने 'ब्रह्म' शब्द दिया। इस ब्रह्म का साक्षात्कार ही अखंड सुख दे सकता है। मनुष्य, याने जीव एक ओर जगत् और दूसरी ओर ईश्वर से संबंधित होता हुआ इस ब्रह्म का साक्षात्कार कैसे करे और सुखी हो, यह प्रश्न उन्होंने उसके सामने रखा और उसके मार्ग प्रस्थापित किए– कर्मयोग, भक्तियोग और ज्ञानयोग। इन मार्गों को इसके साक्षात्कार के हेतु प्रकट करके, उन्होंने यह सिद्धांत प्रस्थापित किया कि ब्रह्म का ज्ञान हुए बिना

अंतिम और आत्यंतिक सुख की प्राप्ति हो नहीं सकती। किसी भी वस्तु का पूर्ण ज्ञान उससे एकात्म होने पर ही मिलता है। इस नियम के अनुसार यह स्पष्ट है कि जीव भी ब्रह्म होकर ही उसका यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर सुखी हो सकता है। जीव वस्तुतः ब्रह्म ही है, क्योंकि संपूर्ण विश्व को व्याप्त करता हुआ ब्रह्म ही जीवन का भी स्वरूप है। अंतर केवल इतना ही है कि जीवन मर्यादित (सीमित) है और ब्रह्म अमर्याद (असीम)। अतः जीव यदि अपनी मर्यादाओं को नष्ट कर दे, तो वह ब्रह्म ही है और सुख भी।

त्याग ही यज्ञ व ब्रह्म

इस पर से यह स्पष्ट होता है कि मनुष्य अपने व्यक्तित्व को, याने मर्यादित्व को, अल्पत्व को दूर कर जितनी विशालता का अनुभव करेगा, उतना ही उसे सुख मिलेगा। यही विचार 'यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति' इस श्रुतिवाक्य में प्रकट किया गया है। मनुष्य का अल्पत्व इसी कारण है कि वह अपने को एक शरीरधारी मात्र समझता है। अपने शरीर को ही सर्वस्व समझकर उसके सुख के निमित्त बाह्य साधन-परिवार, शरीर, भरण-पोषण के साधन इत्यादि में ही मग्न रहकर 'मैं' और 'मेरा' इस भावना की अपने चारों ओर संकुचित मर्यादाएँ डाल लेता है। अतः विशालता का अनुभव कर सुखी होने के लिए सर्वप्रथम इन मर्यादाओं को तोड़ना आवश्यक है। 'मैं' और 'मेरा' को छोड़ना– जीवन को स्वार्थ से हटाकर, कामनाओं की गुलामी को दूर कर उन पर विजय प्राप्त करना, त्यागी बनना है। हिंदू-तत्त्वज्ञ इस त्याग को सर्वप्रथम और श्रेष्ठ गुण इसलिए बतलाते हैं, क्योंकि इस गुण के बिना संकुचित मर्यादाओं को तोड़कर सुख की प्राप्ति करना असंभव है। त्याग की प्रखर अग्नि में स्वार्थ, कामना और ऐहिक सुख-लोलुपता का होम करना ही सच्चा जीवन है। यही 'यज्ञ' है और यज्ञ ही नारायण सर्वसुखमय ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप है।

त्याग से 'मैं' की संकुचित भावना को भंग कर देने पर सर्वप्रथम जो सामने आता है, वह है अपना समाज और राष्ट्र। 'मैं' कहनेवाले जीवन में जो ब्रह्म है, वही इसमें अधिक विशाल रूप में व्यक्त है, यह भाव उत्पन्न होता है। उपर्युक्त तीन बिंदुओं का इस दृष्टि से व्यष्टि, समष्टि और परमेष्टि (व्यक्ति, समाज और विश्वात्मा) इन नामों से विचार करके व्यक्ति विशाल हो जाता है और समाज के साथ तादात्म्य का अनुभव कर अंत में संपूर्ण विश्व और ब्रह्म का साक्षात्कार कर चिरंतन सुखलाभ करता है, यह

समझना सुलभ है। इस विशालता का अनुभव इसी जीवन में करना जगत् में सुख-प्राप्ति का साधन है।

समष्टि के साथ तादात्म्य

वैयक्तिक जीवन की संकुचितता से ऊपर उठकर समष्टि के साथ व्यक्ति के तादात्म्य का अनुभव होना, समाज के व्यावहारिक जीवन में वास्तविक सुख और शांति का निर्माण करता है। समाज जिन व्यक्तियों से बना है, उन सबमें एकात्मभाव से उत्पन्न निरतिशय प्रेम के बिना यह तादात्म्य नहीं हो सकता। अतः जब व्यक्ति संकुचितता को छोड़कर, वैयक्तिक वासनाओं पर विजय पाकर, त्यागी जीवन को अपनाकर इस बात को पहचान लेता है कि सारा समाज अपने जैसे ही व्यक्तियों का है, एक ही सत्तत्त्व से प्रकट हुआ है, अपने में और अन्य व्यक्तियों में अभेद रूप से वह एक ही सत्तत्त्व से भरा हुआ है, तभी वह वास्तविक प्रेम करने में समर्थ होकर समाज के साथ तादात्म्य का अनुभव कर सकता है और इस तादात्म्य से विशाल होकर सुखी होता है। समाज के साथ अभेद दृष्टि रखने से प्रेम का प्रादुर्भाव होते ही प्रत्येक व्यक्ति के सुख-दुःख की अनुभूति और प्रत्येक व्यक्ति के दुःख को हटाकर उसे सुखी करने के लिए उसकी सेवा करना तथा प्रत्येक व्यक्ति उस चिरंतन सत्तत्त्व ईश्वर का ही रूप है, इस सद्भाव से उसकी सेवा करना स्वाभाविक होता है। इस धारणा को आत्मसात कर समाजसेवा करनेवाले, समाज का मार्गदर्शन करनेवाले त्यागी, ज्ञानी जितनी मात्रा में जिस समाज में होंगे, वह समाज उतना ही सुखी, प्रगतिमान तथा श्रेष्ठ होगा।

हिंदू संस्कृति ने समाज-रचना में इस प्रकार के ब्रह्म को जाननेवाले ज्ञानी, समाज के साथ तादात्म्य का अनुभव कर सब व्यक्तियों की 'नारायणभाव' से सेवा करनेवाले वासनाजयी, त्यागी व्यक्तियों की आवश्यकता समझी। प्रयत्नपूर्वक सब व्यक्तियों का इस प्रकार बनना उसने वांछनीय समझा और यह व्यवस्था महान परिश्रमपूर्वक सत्संस्कार निर्माण के प्रयत्नों से ही प्राप्त हो सकती है। इस भाव को प्रकट करने के लिए जिस कालखंड में समाज की ऐसी अवस्था होगी, उसे 'कृतयुग' कहा। संपूर्ण समाज ही श्रेष्ठ चारित्र्य से पूर्ण होने के कारण समाज की सुव्यवस्थित धारणा कर, प्रत्येक व्यक्ति को अभ्युदय तथा निःश्रेयस सिद्ध करवा देनेवाला धर्म पूर्णरूप से वर्तमान रहता है और सब व्यक्तियों में परस्पर स्वार्थशून्य स्नेहपूर्ण संबंध

रखता है। अतः व्यक्तियों में अनाचार का नियमन कर समाज को स्वास्थ्य देनेवाली राजसत्ता, दंडनियम आदि इस अवस्था में अनावश्यक होते हैं। यही बात निम्नलिखित श्लोक में निःसंदिग्ध रूप से कही गई है

न वै राज्यं न राजाऽऽसीन्न च दण्डो न दाण्डिकः।
धर्मेणैव प्रजाः सर्वा रक्षन्ति स्म परस्परम्।।

(शांति पर्व ५९.१४)

आज भी लोग Anarchism-withering away of the State आदि का स्वप्न देख रहे हैं, किंतु उनके द्वारा उसके अधिष्ठान धर्म का विचार नहीं किए जाने के कारण वह अवस्था कैसी होगी? और किस प्रकार व्यक्ति समाजरूप में रहेंगे? इसका उन लोगों से समाधानकारक स्पष्टीकरण नहीं मिलता। उस अवस्था का यथार्थ वर्णन और उसकी प्राप्ति का साधन केवल हिंदू-संस्कृति ने ही पूर्ण समाधानकारक रीति से बतलाया है।

राज्यसत्ता का स्वरूप

जब तक यह वांछनीय अवस्था प्राप्त नहीं होती, तब तक समाजधारणा राजसत्ता के बिना नहीं होगी, यह बात हिंदू-संस्कृति ने मान ली। राजसत्ता की आवश्यकता होने के बाद उन्होंने यह भी अनुभव किया कि अनियंत्रित सत्ता समाज को स्वातंत्र्य-सुख देने के स्थान पर दासता और दुःख ही देगी। अतः उन्होंने सत्ता पर उपरिनिर्दिष्ट श्रेष्ठ पुरुषों का नियंत्रण डाला। राजसत्ता के द्वारा हो सकनेवाले अन्याय को अन्याय ही कहते हुए, उसे बदल देने का भी अधिकार उन्हें दिया, परंतु स्वयं स्वार्थनिरपेक्ष रहकर राजसत्ता के उपभोग से उन्हें सर्वथा दूर रखा। धर्म, न्यायदाता तथा राजसत्ता को विभक्त रखकर अनिर्बंध हो सकनेवाली और इसी कारण अत्याचारी एवं दुःखदायक हो सकनेवाली सत्ता को नियंत्रित रखने का सुप्रबंध किया।

इस विभक्तिकरण के अनुसार राजसत्ता और द्रव्योत्पादन– इन दोनों बातों को भी विलग रखने की दक्षता हिंदू-संस्कृति में दीख पड़ती है। धन एक शक्ति है, राजसत्ता भी शक्ति है। दोनों के द्वारा मद उत्पन्न होकर अन्याय की प्रवृत्ति हो सकती है। राजसत्ता और द्रव्योत्पादन के साधनों पर अधिकार, दोनों एकत्र होने पर कितनी उन्मत्तता उत्पन्न हो सकती है, यह कोई भी समझ सकता है। एक व्यक्ति में या व्यक्तिसमूह में दोनों शक्तियों

के केंद्रित हो जाने से शेष समस्त समाज का सर्वथा दीन-गुलाम होकर पतित होना या अत्याचार के नीचे पीसे जाने के कारण चिढ़कर विद्रोही बन जाना और इस प्रकार समाज की शांति तथा सुख का नाश हो जाना, स्वाभाविक ही है। इस विप्लवावस्था से समाज को बचाकर चिरशांति देने हेतु राजसत्ता को धनहीन और धनयुक्त व्यक्ति को सत्ताहीन रखकर, दोनों को परस्परावलंबी, अन्योन्याश्रित कर दोनों पर त्यागी, स्वार्थनिरपेक्ष व्यक्तियों का न्यायपूर्ण नियंत्रण प्रस्थापित कर, सत्ताधारी या धनवान बाकी के समाज से अन्यायपूर्ण व्यवहार कर उसे दुःखी न कर सके, अपनी समाज-रचना में हिंदू-संस्कृति ने इसके लिए सुव्यवस्था करने की चेष्टा की। इस प्रकार समाज को सुव्यवस्थित रखकर सब व्यक्तियों को सुख का जीवन प्राप्त करा सकता है। हिंदू-संस्कृति इस सिद्धांत को अपने सामने रखकर ही समाज-रचना का प्रयास करती है।

समाज रचना की हिंदू दृष्टि

व्यावहारिक जीवन में समाज की यह व्यवस्था करते हुए सब व्यक्तियों को यही भावना धारण करनी चाहिए कि यह समाज अमूर्त परमात्मा का ही व्यक्त रूप है। परमात्मा इस जगत् का स्वामी है, इसी दृष्टि से यह समाजरूपी, राष्ट्ररूपी परमात्मा भी इस राष्ट्र की सारी संपत्ति का स्वामी है। इस राष्ट्र का ज्ञान, सत्ता, धन, कला सब उसी का है। व्यक्ति तो उसके पास जो शरीर, शक्ति, गुण और संपत्ति आदि है, उसके द्वारा स्वार्थनिरपेक्ष होकर इस परमात्मा की सेवा करने का अधिकारी है। राजसत्ताधीश राज्य का उपभोगशून्य अधिपति, धन प्राप्त करनेवाला धन का उपभोगशून्य रक्षक एवं संवर्धक, इस प्रकार स्वार्थरहित होकर प्रत्येक के लिए अपने-अपने स्थान से, गुणादिकों के द्वारा इस समाजस्वरूप की एकात्मता, परमात्मा की सेवा करना ही परमश्रेष्ठ कर्त्तव्य है। व्यक्ति के लिए, विशाल होकर सुखमय परमात्मास्वरूप बनने के लिए इस व्यक्त परमात्मा की एकात्मभाव से, त्याग से, निःस्वार्थता से, शरीर-मन-वाणी से, तन-मन-धन का अर्पण करके सेवा करना ही परम कर्तव्य है। इस कर्तव्य को सर्वभाव से निभाने से ही जीवन में सफलता प्राप्त होती है, सुख मिलता है–

स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।

(गीता, १८-४६)

हिंदू-संस्कृति द्वारा निर्धारित समाज-रचना के स्वरूप का अंशमात्र विचार यहाँ किया गया है। यह विषय इतना विशाल है कि इस छोटे से लेख में उसके सब पहलुओं का उल्लेख करना असंभव है। अतः हिंदू-संस्कृति के श्रेष्ठ पुरुषों ने ऐहिक सुख को दृष्टि में रखते हुए किस प्रकार से धर्म की व्याख्या करने का प्रयत्न किया एवं उसके आधार पर समाज की सर्वांगपूर्ण रचना करने के उनके प्रयत्न, प्रत्येक व्यक्ति को ऐहिक तथा पारलौकिक सुख प्राप्त करवाकर, उसके जीवन का भौतिक, नैतिक और आध्यात्मिक स्तर ऊँचा उठाने हेतु कैसे रहे, इस ओर अंगुलिनिर्देश मात्र करने के लिए ही यह लिखा गया है। आज की अनेक समस्याएँ तथा अनेक विचार-प्रवाहों का अपनी सांस्कृतिक दृष्टि से कुछ विचार स्वभावतः ही इसमें हुआ है। यदि कोई विद्वान हिंदू-संस्कृति का सांगोपांग अभ्यास कर उसकी सुखमयी विचारधारा तथा व्यवहार को प्रकट करे तथा आज की अवस्था में जगत् को भिन्न-भिन्न विचारों से यही विश्वशांति प्रदान करने में समर्थ है, यह बात सबको सुगमता से समझा दे तो उत्तम होगा और आज अपनी ही संस्कृति को भूलनेवाले हिंदू-समाज का योग्य मार्गदर्शन होगा। मैं तो इस लेख में कुछ अंश में ही विचार कर सका हूँ। मेरे विचार की जिस दिशा का निर्देश इसमें है, वह यदि किसी के लिए उपयुक्त हुआ और उससे अपनी सर्वश्रेष्ठ संस्कृति के अध्ययन, मनन तथा आचरण की प्रेरणा हुई, तो मैं इस त्रुटियुक्त प्रयत्न को सफल ही मानूँगा। अंत में हिंदू-संस्कृति के विश्वशांति महामंत्र-

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखमाप्नुयात्।।

का स्मरण कर इस अल्प लेख को अपने हिंदूराष्ट्ररूपी परमात्मा के चरणों में समर्पित करता हूँ।

२. गोवंश-हत्या निषेध

(गोपाष्टमी, १९५२ पर प्रसारित लेख)

अति प्राचीनकाल से भारत में गोवंश की महिमा गाई गई है। वेदों में अनेक स्थानों पर गोपूजा, गोरक्षा, गोसंवर्द्धन इत्यादि विषयक आदेश पाए जाते हैं। गोरक्षा एवं पूजा में मानव का संपूर्ण हित सन्निहित है, ऐसा गोवंश का गौरवपूर्ण उल्लेख किया गया है। इन बातों को सब विद्वान

जानते हैं। अब भी अनेक सत्प्रवृत्त महानुभावों ने संबंधित रचनाएँ, श्लोक आदि प्रकाशित कर इस विषय का यथार्थ ज्ञान भारतवासियों को प्राप्त करवाने का सुयोग्य प्रयत्न किया है। इस कारण यहाँ उपर्युक्त वचन उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं है।

गो पूजा की प्राचीन परंपरा

पौराणिक एवं ऐतिहासिक काल में गोविषयक श्रद्धा प्रस्फुटित होती हुई स्पष्ट दिखती है। भारतीय जीवन के सर्वव्यापी आदर्श पूर्णावतार भगवान श्रीकृष्ण तो स्वयं गोपाल, गोविंद आदि नामों से पुकारे जाते हैं। आज का यह गोपाष्टमी दिवस भी उन्हीं के तथा उनके गोपवासियों के गोपालन के श्रद्धापूर्ण स्मरणार्थ ही मनाया जाता है। अनेक राजा, सम्राट, चक्रवर्ती अपने को गो-ब्राह्मण प्रतिपालक के ब्रीदवाक्य से गौरवान्वित करने में धन्यता का अनुभव करते थे। भारतीय राष्ट्रजीवन में से पराभूतता का पराभव कर आक्रमणकारियों का दमन करनेवाले स्वराज्य संस्थापक श्री छत्रपति शिवाजी महाराज अपने निकटतम अतीत के तेजस्वी, सर्वगुणसंपन्न युगपुरुष इसी ब्रीदवाक्य से उद्घोषित किए जाते थे। बाल्यकाल से ही गोवध के प्रति उनकी उग्रता प्रकट हुई, यह सर्वविदित ही है। भारतीय सांस्कृतिक आधार पर पुनरुत्थान के कार्य से संलग्न अपने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के जन्मदाता के जीवन में आए ऐसे रोमहर्षक प्रसंगों से सब परिचित हैं। उन्होंने अपने धन या प्राणों को सहर्ष संकट में डालकर वधिकों से गोरक्षा की थी। आज की अन्यान्य संस्थाओं में जो अग्रगण्य रहे, उन सबने गोरक्षा एवं गोसंवर्धन अपने जीवन का सर्वश्रेष्ठ भूषण माना। महात्मा गाँधी ने तो गोहत्या का पूर्णतया बंद होना स्वराज्य-प्राप्ति से भी अधिक महत्त्व का माना, यह तो सब जानते ही हैं।

भारत में गोहत्या का कारण

अनादिकाल से इस प्रकार पूज्य एवं अवध्य होने पर भी भारत में गोवध कैसे चल पड़ा– इस प्रश्न का उत्तर भी इतिहास देता है। जब कोई असंस्कृत आक्रमणकारी समाज किसी देश में विजेता के उन्माद से रहने लगता है, तब अपने विजय का मानो रस लेने के लिए पराजित जाति को अपमानित करना, उसके श्रद्धास्थानों को नष्ट-भ्रष्ट करना, उसका धन, मान आदि लूटना इत्यादि नृशंस अत्याचार करने के लिए वह प्रयत्नपूर्वक प्रस्तुत होता है। साथ ही अपनी विजय तथा नवस्थापित सत्ता को बनाए

रखने के लिए विजितों के सब मानबिंदुओं को ठेस लगाकर, नष्ट-भ्रष्ट कर उनकी चित्तवृत्तियाँ इतनी आहत एवं स्वाभिमानशून्य बनाना कि उनके मन में कभी पुनरुत्थान का विचार ही उत्पन्न न हो और प्राप्त दासता में ही सुखानुभव हो। नूतन स्वामी का तन-मन-धन से, स्त्री-पुत्रादि के समर्पण से भी सेवा कर उसे प्रसन्न रखने में ही जीवन-साफल्य है, ऐसा भाव उनके हृदय में रहे। कहीं पुनरुत्थान का प्रयत्न हुआ, तो उसको जघन्य स्वामीद्रोह मानने की विकृति ही उनका स्थायी स्वभाव बने, इस प्रकार की नीति विजेता आक्रामक अपनाते रहते हैं। इस ऐतिहासिक सिद्धांत को ध्यान में रखते ही विजेता सत्ताधीश बनकर यहाँ बसे हुए मुसलमानों ने एतद्देशीय राष्ट्रीय समाज की अनन्य श्रद्धा के विषय चुन-चुनकर क्यों नष्ट किए, अनेक पवित्र मंदिरों को तोड़कर उनके भग्नावशेषों पर मस्जिदें क्यों खड़ी कीं, धर्मग्रंथों को क्यों भस्मसात् किया, प्रायः संपूर्ण देश में पूज्य देवताओं की मूर्तियों के नाक, कान, हस्तपादादि खंडित कर उन्हें विरूप क्यों किया, इन सब आसुरी कृतियों के पीछे की मनोभावना स्पष्ट हो जाती है। इस दृष्टि से देखने पर मुसलमानों के ये दुष्कृत्य, केवल उनके मुसलमान होने के कारण नहीं, अपितु मानव-समाज की अविकसित, असंस्कृत, अर्थात् आसुरी प्रवृत्ति के कारण हुए हैं, यह भी स्पष्ट होता है।

इसी प्रवृत्ति के फलस्वरूप भारत में स्थित मुसलमानों ने गौहत्या को मानो धार्मिक सत्कृत्य माना। ईद आदि त्योहारों पर गोहत्या मानो अनिवार्य विधि मानकर प्रकट रूप में ऐतद्देशीय जनता की भावनाओं को चोट पहुँचाने में अपने को धन्य माना। अन्यथा कुरान शरीफ में गोवध का विधि या आदेश कहीं भी न होते हुए और गो-पालन पुण्यकारक है, ऐसा उल्लेख होते हुए भी गोहत्या का उनके द्वारा यह विपरीत आग्रह क्यों? यह ठीक है कि गोमांस-भक्षण उस धर्म में निषिद्ध नहीं है, परंतु आग्रहपूर्वक गोहत्या करने का आदेश भी नहीं है। फिर ऊपर कहे कारण के अतिरिक्त, याने केवल हिंदुओं को दुःख देकर अपने विजय की भावना को तृप्त करना, इसके अतिरिक्त भारत की आत्यंतिक श्रद्धा के स्थान गोवंश की हत्या कराने के लिए अन्य कोई कारण प्रतीत नहीं होता।

अंग्रेजों द्वारा गोहत्या को प्रोत्साहन

बाद में परकीय शासन के रूप में आए हुए अंग्रेजों ने भी श्रद्धा-भंग के इस कार्य को अधिक कुशलता से कैसे चालू रखा, संपूर्ण

राष्ट्रजीवन को किस प्रकार संस्कृति-भ्रष्ट कर छोड़ा तथा इस राष्ट्र के जीवन के सनातन लक्ष्य से मानव का चिरंतन आध्यात्मिक चतु:पुरुषार्थ प्राप्तिरूप विकास पर से उसकी दृष्टि उठाकर, उसे हीन भौतिक अर्थ-काममय जीवन को ही सर्वस्व मानने की निकृष्टावस्था में कैसे पतित किया, इत्यादि बातें किसी से छिपी नहीं हैं। उनकी नीतियाँ प्रतिपल-प्रतिपद सत्प्रवृत्त राष्ट्रभक्तों को चुभती रहती हैं, यह बात भी नित्य अनुभव की है।

अंग्रेज शासकों की इस नीति व गोमांस-भक्षक होने के कारण और साथ ही मुसलमानों के स्वभाव को देखकर उनको एतद्देशीय समाज के साथ संघर्ष करने में प्रोत्साहन देने से अपना आसन अधिक काल तक दृढ़ रह सकेगा, यह सोचकर गोवध बहुत बड़े परिमाण में चलता ही रहा।

वर्तमान की आवश्यकता

अब तो अंग्रेज का शासन नहीं है। मुसलमान भी यहाँ विजेता के रूप में नहीं हैं, किंतु इसी देश में एतद्देशीय हिंदू-समाज के साथ रहने के लिए विवश (उक्त समाज की आज की दृगोचर होनेवाली भावनाओं को देखकर यह शब्द प्रयोग करना पड़ता है) है। इस अवस्था में परस्पर की भावनाओं, श्रद्धाओं का आदर कर सुव्यवस्थित, सुसूत्र शासन निर्माण करने के लिए प्रयत्नशील होना परमावश्यक है। हिंदू-समाज ने सदा ही सब धर्म-मतों का सत्कार कर अपना कर्तव्य पूरा किया है। अब मुसलमान, ईसाई आदि समाजों को अपने कर्तव्य को समझकर चलने की, भारतीय राष्ट्र-जीवन की श्रद्धाओं को, सांस्कृतिक आधारों को अपनाने की, उन्हें जीवन में उतारने की आवश्यकता है।

संसार के परिवर्तनशील चक्र में जब कभी किसी देश पर दूसरे देशवासी अपना अधिकार करते हैं, तब वहाँ अपनी सत्ता दृढ़मूल करने हेतु किस प्रकार स्थानीय जाति की जीवनधारा को हीन बतलाते हुए अपने चालचलन, विचार-व्यवहार आदि का विजितों पर बलात्कार से या कूटनीति से संस्कार करते हैं तथा उनको अपमानित एवं स्वाभिमानशून्य बनाने के लिए उनके श्रद्धा के विषयों को जानबूझकर आहत या नष्ट करते हैं, इसका कुछ उल्लेख ऊपर किया गया है। जिन-जिन देशों पर ऐसी आपत्ति आई, उनके इतिहास को खोलकर कोई भी इसका प्रमाण पा सकता है। भारत में भी यही हुआ। इसका अनुभव स्पष्टतया आ रहा है, यह भी करतलामलकवत् स्वयंसिद्ध है।

पवित्र श्रद्धाओं को जागृत करें

जब वर्षानुवर्ष प्रयत्न कर, अंतर की भग्न-श्रद्धाओं का आवाहन कर, पुनरुज्जीवित कर नवचैतन्य से युक्त हुई जाति इस परकीय सत्ता के चंगुल से अपने आपको मुक्त करने में सफल होती है, उसके सम्मुख सर्वप्रमुख कर्तव्य यही रहता है कि वह अपनी परंपरा-प्राप्त जाति, जीवनधारा, पवित्र श्रद्धाओं को जागृत करे। उनपर किए गए प्रहारों के लघु से लघुतम चिह्न भी मिटा दे। परावलंबिता-दासता के कारण उत्पन्न जीवन की भ्रष्टता को जड़ से उखाड़कर अपनी चिरंतन राष्ट्रीय अस्मिता व्यक्ति-व्यक्ति के हृदय में साक्षात् खड़ी करे। जो जाति इस महान कर्तव्य को पूर्ण करने की ओर दुर्लक्ष्य करेगी, उसकी स्वाधीनता नाममात्र ही कहलाएगी। वह जाति मन से, व्यवहार से भूतपूर्व स्वामियों की दास बनी रहकर, अपने जीवन में उसके पुनर्निर्माण की, वैभवप्राप्ति की, जगत्वंद्यताप्राप्ति की प्रबल आकांक्षा अनुभव नहीं कर सकेगी। फलतः राष्ट्र में दायित्वहीनता, स्वार्थपरता तथा उच्छृंखलता का बोलबाला होकर, राष्ट्र के कर्णधार कितनी ही उन्नतिकारक आकर्षक योजना क्यों न बनाएँ, सर्वसाधारण व्यक्ति उससे उत्साहित एवं कार्यप्रवृत्त नहीं होगा। अपने भारत की आज की स्थिति दुर्भाग्य से यही है। अंग्रेजों का शासन समाप्त हुआ। स्वायत्तता प्राप्त हुई। धूमधाम से स्वतंत्रता-प्राप्ति मनाई गई, परंतु सहस्र वर्षों से राष्ट्रजीवन पर लगे हुए लांछन को दूर करने के लिए, जीवन के मूल से अटूट रूप से संलग्न श्रद्धाओं की ओर का दुर्लक्ष्य दूर कर उनके पुनर्जागरण के लिए, उनपर लगे कलंक धोने के लिए कोई पग नहीं बढ़ाया गया। आक्रमणकारियों की तात्कालिक विजय के चिह्न आज भी विद्यमान हैं। उनके जीवन का प्रभाव हटाने के स्थान पर दासता में अपनाई गई चाल-चलन, वेष-भूषा, भाषा, गृह-व्यवस्था, कुटुंब-व्यवस्था खेल आदि मनोरंजन के प्रकार, इतना हीं नहीं, विचार, आचरण आदि जीवन के अंग-प्रत्यंग की विकृतियों को ही स्वीकार करने की प्रवृत्ति, इन दास संस्कारों को ही श्रेष्ठ मानने की दुष्ट प्रवृत्ति पनपती हुई, पनपाई जाती हुई दिखाई देती है। इसका परिणाम चैतन्यहीन, कर्तृत्वहीन, चारित्र्यहीन अपमानित राष्ट्रजीवन के रूप में हुआ है, यह कोई भी देख सकता है। नाममात्र स्वतंत्रता, स्वतंत्रप्रज्ञाहीन राष्ट्रजीवन, यह आज का अपना चित्र है। अनादिकाल से चली आई अपनी पवित्र श्रद्धाओं की उपेक्षा का ही यह फल है। राष्ट्रजीवन की धारा परकीय आक्रमण से सहस्र वर्षों तक दबी हुई थी, लुप्त थी। परकीय शासन जाने के पश्चात् आज का जीवन उस पवित्र

धारा के जीवन-स्रोत से जोड़ा नहीं गया। अतः चारों ओर विफलता का, निःसत्वता का, जीवन की उमंग की कमी का चित्र खड़ा है। एक भीषण निराशा की छाया सब पर पड़ी है।

अपनी सर्वप्रिय भूमाता, अपनी मातृभूमि खंडित हुई। पश्चिम पंजाब, पूर्व बंगाल नोच लिया गया। कश्मीर को मानो विलग होने का प्रोत्साहन मिल गया। ब्रह्मदेश तथा सिंहल द्वीप तो भारत के गौरवपूर्ण अविभाजनीय अंग हैं, मगर मानो उनका अपना कभी नाता नहीं था, ऐसे बिछुड़ चुके हैं। पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण माता का अंग-भंग हुआ। किसी ने दुःख से एक आह भी नहीं भरी। अनेक महाभाग अंग-भंग का समर्थन करते हैं और सर्वसाधारण समाज को तो औदासीन्य ने इतना ग्रस लिया है कि उसके अज्ञान-आवरण को यह महान आपत्ति भेद न सकी। कहीं दुःख नहीं, कहीं क्षोभ नहीं, क्योंकि राष्ट्र की चिरकालिक श्रद्धाएँ सो रही हैं। उन्हें जगाने के स्थान पर अधिक मूर्च्छित ही करने के आयोजन हो रहे हैं।

राष्ट्रभक्ति जागरण गोहत्या-बंदी से

इस श्रद्धाविनाश के होते हुए राष्ट्रोत्थान की आशा करना व्यर्थ है। अतः राष्ट्रजीवन की मूलभूत श्रद्धाओं का पुनर्जागरण अनिवार्य आवश्यकता के रूप में अपने सम्मुख है। राष्ट्र-परंपरा में निर्मित मानबिंदुओं की मानमर्यादा का संरक्षण करने की, उनके ऊपर हुए आक्रमण के छोटे बड़े सब चिह्नों को मिटाकर उन्हें पुनः शुद्ध स्वरूप में उपस्थित करने की नितांत आवश्यकता है। अपने चिरकालीन श्रद्धा के विषयों के प्रति पुनः पूज्यभाव जगाकर, अपने समाज के व्यक्ति-व्यक्ति में नवोत्साह फूँकने की आवश्यकता है। अपने राष्ट्रोत्थान के लिए, राष्ट्रसम्मान की रक्षा के लिए सर्वस्व का बलिदान भी विशेष बात नहीं, इस शुद्ध भाव से परिपूरित कर्तव्यप्रेरणा जिससे जाग उठेगी, ऐसी महान श्रद्धा का पुनः स्थापन करने के अतिरिक्त और कोई श्रेष्ठ कर्तव्य नहीं है।

अपने राष्ट्रजीवन में ऐसा पवित्र श्रद्धा का विषय कौन-सा है, यह आबाल-वृद्ध सब जानते हैं। गौमाता-भूमाता का जीता-जागता स्वरूप, जीवन की शक्ति, तेज, ओज की प्रदात्री, शुद्ध सात्विकता की प्रत्यक्षमूर्ति, निरपेक्ष उपकार में रत आदर्श मातृस्वरूप, अपनी उत्कट श्रद्धा का, पूजा का विषय है। इस पवित्र श्रद्धा को प्रतिदिन गोहत्या द्वारा ठेस लगते-लगते

हृदय बधिर एवं सद्भावरहित होने के कारण ही राष्ट्रभाव का भी लोप हो गया और सब प्रकार के राष्ट्रीय अपमान होकर भी जनसाधारण एवं जनाग्रणी उससे दुःखित या लज्जित नहीं हुए, न हो रहे हैं। अतः राष्ट्रोत्थान की तीव्र इच्छा, मातृभूमि के प्रति उत्कट भक्ति उत्पन्न होने के लिए सर्वप्रथम गोहत्या रूपी राष्ट्रीय भावों का ही उन्मूलन जहाँ चलता रहे, उसे स्वायतत्ता व स्वाधीनता की विकृति ही मानना पड़ेगा।

जैसा उल्लेख हो चुका है, आजकल परकीय प्रभावों के कारण भारत ने भी अपने जीवन का लक्ष्य छोड़कर, केवल क्षुद्र अर्थ को ही अपना लक्ष्य बनाना प्रारंभ किया है। अतः आजकल बड़े-बड़े विद्वान, ख्यातनाम सज्जन भी गोहत्या का आर्थिक दृष्टि से समर्थन करते हुए दिखाई देते हैं। गोहत्या-निषेध से चर्मव्यापार से होनेवाली आर्थिक डॉलर-प्राप्ति रुक जाएगी आदि अनेक आक्षेप खड़े करते हुए भी दिखाई देते हैं। गोहत्या निषेध के विचार को वायुमंडल में प्रेषित करने के उपरांत अनेक विद्वानों ने इन सब आक्षेपों का सांगोपांग विवेचन करने का निश्चय किया है। इसके पूर्व भी अनेक विद्वानों ने इस संबंध में आँकड़ों द्वारा इन आक्षेपों का खोखलापन सिद्ध किया हुआ है, परंतु मैं समझता हूँ कि इस प्रश्न की ओर आर्थिक दृष्टि से देखना ही भूल है। यह तो अपने मानबिंदुओं की रक्षा का विषय है, रुपए-आने-पाई का कोई संबंध नहीं। श्रद्धा के विषय के संबंध में आर्थिकता का मापदंड लगाना अनुचित है। उदाहरण के लिए अपने राज्य का ध्वज है। कोई उसे उतारकर तोड़-फोड़ दे तो कौन बड़ी हानि होगी? एक डंडा, कुछ थोड़ा सा कपड़ा इतना ही आर्थिक दृष्टि से उसका स्वरूप है, परंतु यदि कोई आक्रमणकारी इस अपने राज्यध्वज को अपमानित करने के लिए दलबल सहित सजकर आता है, तो आर्थिक दृष्टि से अत्यल्प मूल्य के उस वस्त्र के निमित्त अपना अपरिमित धन, असंख्य लोगों के प्राण आदि उस पर न्योछावर कर उसकी मानमर्यादा सुरक्षित करना ही अपना कर्तव्य होता है। राष्ट्र को एकत्र कर उसमें चैतन्य फूँकनेवाला वह मानबिंदु, कितना भी धन-जन का मूल्य क्यों न देना पड़े, सर्वथा रक्षणीय है। उसी प्रकार अनादिकाल से भारतीय एकात्मता का स्वरूप, सर्व पंथोपपंथों में एक-सा ही पूज्य होने के कारण सबके समन्वय का आधार, सर्वदेवताओं को अपने शरीर में धारण करने के कारण अति पूज्य, पावन, पवित्रता-निर्मात्री, जीवनदात्री आदि सर्व प्रकार से राष्ट्र की उत्कटतम श्रद्धा का स्थान गौ-गोवंश सर्वथा रक्षणीय है। फिर आर्थिक दृष्टि से लाभ-हानि कुछ भी क्यों न हो।

गौवंश की हत्या पूर्णरूपेण बंद हो

राष्ट्रोत्थान के लिए अनिवार्य भावनाओं का पुनर्निर्माण करने की दृष्टि से अपने राष्ट्र की सनातन सांस्कृतिक जीवनधारा के खंडित प्रवाह को पुनः पूर्ण शक्ति से प्रवाहित करने की दृष्टि से, राष्ट्र की भावना का सनातन, चिरकालिक, परमोच्च श्रद्धा-केंद्र गोवंश का सर्व प्रकार से आदर हो, रक्षण हो, संवर्धन हो और गौवंश की हत्या के रूप में चल रहा राष्ट्रीय जीवन पर का लांछन पूर्णरूपेण नष्ट हो, इस विशुद्ध दृष्टि से गोहत्या-निषेध की माँग करने का यह शांतिमय कार्यक्रम हम लोगों ने अपनाया है। यह माँग अखिल भारतीय जनता के हृदय की है। उसे प्रस्फुट करने के लिए राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ का यह आयोजन है। संघ तो केवल निमित्त मात्र है। कहीं न कहीं, किसी न किसी को कार्यारंभ करना होता है। इस विषय में संघ ने यह पग आगे रखा है, इतना ही।

अब समस्त भारतीय जनता ने अपने राष्ट्र की विशुद्ध दृष्टि रखकर मत-मतांतर, पंथोपपंथ भेद, धर्म, जाति आदि बातों को हृदय से निकालकर इस कार्य में संलग्न होने की आवश्यकता है। कोटि-कोटि हस्ताक्षर संग्रहित कर संपूर्ण भारत की संगठित एकमुखी माँग भारत के अनाद्यतन राष्ट्रपुरुष के अंतःस्थल की प्रबल पुकार के रूप में प्रकट हो, जिससे कि अपनी जनतंत्रीय सरकार जनता की श्रद्धा को समझकर संपूर्ण गोवंश-हत्या निषेध विषयक योग्य निर्बंध (कानून) बनाकर सहस्राधिक वर्षों से चल रहा यह राष्ट्रीय अपमान का कलंक सदा के लिए धो डाले।

३. बाल शिक्षा व संस्कार

(कल्याण, 'बालक विशेषांक', जनवरी १९५३)

मनुष्य-समाज के जीवन प्रवाह में बालक का स्थान अनन्य साधारण महत्त्व रखता है। वह अतीत का परिपाक एवं भावी काल की आशा है। अतः उसके जीवन की महत्ता कितनी है, यह समझना कठिन नहीं। जिन संस्कारों से युक्त होकर, जिन विचारों को, भावों को ग्रहण कर वह पूर्ण रूप से खड़ा होगा, उस पर मानव-उन्नति या अवनति निर्भर होगी। बाल्यकाल में संस्कार ग्रहण करने की शक्ति अत्यधिक मात्रा में विद्यमान रहती है। इस अवस्था में जैसा वायुमंडल बालक को प्राप्त होगा, जिस प्रकार के विचार

उसके कोमल अंतःकरण पर प्रभाव डालते रहेंगे, चारों ओर के उसे प्रिय एवं आदरणीय व्यक्ति व्यवहार करते रहेंगे, वैसा ही उसका जीवन बनेगा। बहुत काल तक जो संस्कार उसे प्रभावित करते रहेंगे, उनका उसपर अमिट परिणाम होकर उन्हीं का वह जीवन-भर अपने आचरण में आविष्कार करेगा। एक बार इस कोमल, संस्कार-सुलभ अवस्था में उसने अपने अंतःकरण को बनाया, तो फिर उत्तरायुष्य में लाख प्रयत्न करने पर भी उनसे छुटकारा पाना या उनमें परिवर्तन करना उसके लिए असंभव होगा। फलतः मानव-समाज की प्रगति की दृष्टि से बालक की शिक्षा-दीक्षा का महत्त्व अत्यंत श्रेष्ठ है। इसलिए अपने-अपने समाज की भलाई चाहनेवालों को इस प्रश्न को सर्वप्रथम स्थान देकर इसपर सांगोपांग विचार करने की आवश्यकता है।

संस्कार रूप

जिन संस्कारों के कारण व्यक्ति का जीवन बनता है, उनके दो प्रमुख विभाग किए जा सकते हैं। एक तो आनुवंशिक और दूसरे जो उसके वैयक्तिक जीवन में उसे प्राप्त होते हैं। इनमें प्रथम विभाग के दो प्रकार माने जा सकते हैं। जिस समाज में बालक जन्म लेता है, उसकी सामूहिक जीवनधारा के कारण संपूर्ण समाज के कुछ सामान्य गुणधर्म, जीवन-दृष्टि, जीवन का लक्ष्य, इस लक्ष्य की उपासना के कारण स्वाभाविक रीति से गुणावगुण, पुण्य-पाप आदि का सहज सिद्ध विवेक इत्यादि का जन्मसिद्ध संस्कार उसकी बुद्धि पर पड़ता है। इसकी अभिव्यक्ति कम-अधिक परिणाम में समाज में जन्म पाए हुए प्रत्येक व्यक्ति के जीवन में होती है। योग्य वायुमंडल प्राप्त होने पर इन संस्कारों में से श्रेष्ठ, कनिष्ठ या मिश्र संस्कार भिन्न-भिन्न व्यक्तियों में प्रकट होते रहते हैं। यह एक प्रकार है। दूसरा, जिन माता-पिता से वह जन्म पाता है, उनके विशिष्ट संस्कार, गुणावगुण तथा रहन-सहन। इस प्रकार का महत्त्व इतना है कि एक तत्त्वज्ञ ने कुछ विचित्र-सा शब्द प्रयोग कर लिखा है 'A man should be very careful in the choice of his parents' जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि माता-पिता के संस्कार आदि के परिणाम से छुटकारा पाना किसी के लिए संभव नहीं है। इन आनुवंशिक संस्कारों के ऊपर किसी का नियंत्रण चलना कठिन है।

राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में बालविकास

इन दो प्रकारों के आनुवंशिक संस्कारों से मुक्त होना यद्यपि कठिन

है, विशेष रूप से प्रत्यक्ष माता-पिता से प्राप्त गुणावगुण अत्यंत उत्कटता में विद्यमान होने के कारण व्यक्ति-जीवन पर उनका प्रभाव पड़ कर व्यक्ति उनसे सीमित हो जाता है, तथापि योग्य वायुमंडल, शिक्षा आदि के कारण सामाजिक जीवन-धारा से मिलने वाले उत्तम गुणों का विकास कर, अपने व्यक्तित्व पर पड़े हुए अपने माता-पिता के जीवन-संस्कारों को परिमार्जित कर व्यक्ति का उन्नति करना असंभव नहीं। संस्कारों का दूसरा विभाग, अर्थात् अपने व्यक्ति-जीवन में बाल्यादारभ्य प्राप्त होनेवाले संस्कार अपना असीम महत्त्व रखते हैं। इसलिए इन्हीं संस्कारों की ओर ध्यान देकर 'बालक' के जीवन का विचार करने का संकल्प किया गया है।

मानव-समाज की उन्नति ही होती रहे, इसकी कामना तो सब करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का चरम विकास हो और ऐसे विकसित व्यक्ति अपनी सुसंस्कृतता के कारण अपने को सुव्यवस्थित सुखी समाज रूप में सुगठित करें, यही लक्ष्य लेकर सब चलते हैं। कितने ही देशों में समाज-विषयक तथा व्यक्ति-विकास विषयक जैसी धारणाएँ बनी हैं, तदनुसार बालकों की देखभाल करने की योजनाएँ बनी हैं। उन योजनाओं के फलस्वरूप बालकों को उन देशों की विचार-प्रणाली के कट्टर समर्थक पुरुषों के रूप में परिणत किया जाता है, यह तो सर्वविदित है। संपूर्ण पृथ्वी का मानव एक पारिवारिक जीवन का अनुभव अभी तो नहीं कर रहा है। वह दैशिक आदि भेदों में विभक्त है। भिन्न-भिन्न देशों के बीच मित्रता का भाव भी नहीं दिखता। सर्वत्र स्पर्धा तथा संघर्ष का ही बोलबाला है। फलस्वरूप प्रत्येक देश में अपनी-अपनी अलग प्रकृति के यथोचित स्वाभिमान के साथ-साथ अन्य सब मानवों को अपने से पृथक, हीन तथा संघर्ष योग्य मानने का दुराग्रह भी प्रत्येक व्यक्ति के हृदय पर अंकित किया जाता है। यह आज का वास्तविक चित्र है। दुर्भाग्यपूर्ण है, किंतु है– इसे कोई अमान्य नहीं कर सकता। संसार की इस अवस्था में स्थित हम लोगों को भी अपने बालकों के विकास का विचार करना है। वह भी अपनी विश्व कौटुंबिक अंतःप्रवृत्ति के अनुकूल। उचित स्वाभिमान के निर्माण के साथ ही दुराग्रह, हठ आदि दुष्ट प्रवृत्तियों का निर्मूलन करते हुए इस विकास का विचार करना आवश्यक है।

विकास का स्वरूप

व्यक्ति का चरम विकास, विकसित सुसंस्कृत व्यक्तियों की समष्टि, याने सुव्यवस्थित उन्नतिशील समाज, इन शब्दों में अपनी जीवन-रचना की

भावना प्रकट होने के पश्चात् यह आवश्यक होता है कि सर्वप्रथम व्यक्ति का चरम विकास होने का अभिप्राय क्या है, इसका विचार होना चाहिए। व्यक्ति क्या है– इस प्रश्न पर जगत् के सब तत्त्वज्ञों ने गंभीर विचार किया है। सबसे महत्त्व का प्रश्न भी यही है। उसका योग्य उत्तर मिलने पर जीवन से संबंधित अन्य सब बातों का विचार होना सुलभ हो जाता है। इसी कारण अपने पूर्वजों ने 'कस्त्वम्?, कोऽसि?' आदि प्रश्नों को प्राधान्य देकर अपने तत्त्व-मंदिर का निर्माण किया। सूक्ष्म विचार से तथा आत्मानुभूति से उन्होंने इन प्रश्नों का पूर्ण उत्तर भी खोज निकाला। इस उत्तर का साधारण स्वरूप मात्र दिग्दर्शित करना यहाँ संभव है। अधिक गहन युक्तिवाद में पड़ने के लिए यहाँ न तो अवसर है, न उसका कुछ औचित्य ही है।

यह चराचर एक महान सत्य के आधार पर दृश्यमान है। अचर से जीव-सृष्टि में उस सत्य का आविष्कार अधिक स्पष्ट होता जाता है और मानव में समस्त जीव-सृष्टि की अपेक्षा भावना, बुद्धि विवेक आदि के अस्तित्व के कारण उसका आविष्कार स्पष्टतम हुआ दिखता है। प्रत्येक जीव सत्तत्व होने के कारण, अपने जीवन में स्पष्टतया, असंदिग्ध रूप में सत्तत्त्व की अनुभूति करना, स्वतः के व्यक्ति-जीवन की सीमाओं को बढ़ाकर चराचर-सृष्टि के साथ, समष्टि के साथ तादात्म्य का अनुभव करना, इस विशाल सृष्टि-तादात्म्य की अनुभूति से परिपूर्ण जीवन बनने के कारण असीम सुख, अकुतोभय वृत्ति, निर्वैरत्व, विश्वकुटुंबत्व, सर्वत्र समदर्शन करने की बुद्धि, आत्यंतिक दुःखराहित्य, चरम सत्य के साक्षात्कार के कारण जगदुपकार के कर्तव्य का ज्ञान एवं कृति आदि गुणों से अलंकृत परिपूर्ण मानव का एकमात्र लक्ष्य नर का नारायण बनना ही होता है। इस लक्ष्य को पाने के लिए सर्वसाधारण को मार्ग सूझता नहीं। परंतु अपने पूर्वजों ने कुशाग्र संशोधक बुद्धि को शुद्ध जीवन एवं तपस्या से परिष्कृत एवं तीव्रतम बनाकर उस साध्य की ओर जानेवाले मार्गों को भी प्रकट किया है। इन मार्गों में तीन प्रमुख हैं– ज्ञान, भक्ति और कर्म। तत्त्व-ग्रंथों में इन मार्गों का सांगोपांग विवेचन किया गया है। यहाँ केवल उनपर चलने की पात्रता व्यक्ति-व्यक्ति में आने के लिए क्या किया जाए, इसका उल्लेख करने का प्रयत्न पर्याप्त है।

शिक्षा का लक्ष्य

प्रत्येक व्यक्ति के गुणधर्मों का विचार कर यह कहा गया है कि सर्वसाधारण रीति से तीन प्रकार के व्यक्ति मानव-समाज में विद्यमान हैं–

सात्विक, राजसिक एवं तामसिक। प्रत्येक व्यक्ति में तीनों गुण कम-अधिक मात्रा में रहते हैं। तमःप्रधान व्यक्ति के लिए उपरिनिर्दिष्ट किसी भी मार्ग का अवलंब करना असंभव-सा है। रजःप्रधान व्यक्ति सत्कर्म, स्वकर्तव्य का श्रेष्ठ पुरुषों से ज्ञान प्राप्त कर सश्रद्ध हृदय से उसका पालन, स्थूल रूप में पूजा आदि के द्वारा भक्ति का प्रयत्न कर सकता है। इस प्रकार अपने जीवन की दिशा निश्चित कर वह उन्नति के पथ पर अग्रसर हो सकता है। सत्त्वप्रधान व्यक्ति स्वभावतः ही उत्तम गुणों से युक्त होने के कारण, उदात्त भावों से पूर्ण होने के कारण ज्ञानादि मार्गों पर चलकर उन्नति के शिखर तक पहुँच सकता है।

तीनों प्रकार के व्यक्तियों को उनकी प्रकृति देखकर योग्य अनुशासन द्वारा इन मार्गों पर चलने के लिए सिद्ध करने से वह जीवन के लक्ष्य को पाने में समर्थ होता है। अतः बाल्यकाल से ही इस सिद्धता की ओर ध्यान देना आवश्यक है। इनमें से किसी भी मार्ग का पथिक बनने के लिए अंतर्बाह्य-शुचिता, साधनचतुष्ट्य संपन्नता तथा अमानित्वादि सद्‌गुणों की उपासना अनिवार्य है। शिक्षा का लक्ष्य यही होना चाहिए। केवल कुछ विषयों की जानकारी के द्वारा बालबुद्धि को ठूँस-ठूँसकर भर देने से, जैसा आजकल की शिक्षा-प्रणाली में होता दिखाई देता है और वह भी अधूरा और विकृत, कोई लाभ नहीं। उससे सुसंस्कारों से युक्त योग्य मानव का विकास कदापि संभव नहीं। योग्य शिक्षा प्रदान करने की दृष्टि से सर्वप्रथम आवश्यकता घर के वायुमंडल का शुद्ध रहना है। माता-पिता को यह जानना चाहिए कि उनके ऊपर बहुत बड़ा दायित्व है। जिस समय उन्होंने किसी जीव को जगत् में प्रविष्ट कराया, उसी समय से उनपर यह भार है कि वह जीव अपना आत्यंतिक कल्याण कर सके, ऐसा वायुमंडल उसके चारों ओर रखकर, उसे सुयोग्य संस्कारों से पूर्ण करें। इसलिए प्रत्येक गृह में कुछ नियमों का पालन अनिवार्य होना चाहिए। अपने पूर्वजों ने ये नियम भी स्पष्ट कर रखे हैं। उनका कुछ निर्देश करने का प्रयत्न करता हूँ।

माता-पिता का दायित्व

सर्वप्रथम सूर्योदय के पूर्व निद्रा त्यागकर, शारीरिक शुद्धिकर, चराचर सृष्टि के स्वपिता, स्वामी, नियंता परमेश्वर का जो कोई ध्यान अपनी श्रद्धा का विषय हो, उसका मनःपूर्वक स्मरण करें। अनेक भावपूर्ण स्तोत्र सगुण एवं निर्गुण स्वरूप की आराधना के निमित्त निर्मित हैं। उनको

कंठस्थ कर पठन करना और साथ ही हृदय की शुद्ध भावना से उस परमात्मा का कुछ समय तक समाहित चित्त से चिंतन करना चाहिए। स्नानादिक क्रिया, सूर्य नमस्कार जैसा पवित्र व्यायाम, सात्विक आहार-विहार, कुलाचार का पालन, प्रतिदिन कुछ न कुछ दान, समाज सेवा के कर्तव्य का निरलस पालन, सायंकाल तथा निद्रा के पूर्व ईश-चिंतन इत्यादि श्रेष्ठ व्यवहार अत्यंत नियमपूर्वक करना आवश्यक है। माता-पिता को स्वयं इन नियमों का पालन कर शुद्ध संस्कार करने के लिए घर का वातावरण समर्थ रखना तथा केवल शाब्दिक उपदेश मात्र से नहीं तो अपने प्रत्यक्ष आदर्श से बालकों को सत्त्वगुण प्राप्ति द्वारा सत्तत्त्व साक्षात्कार के लिए सिद्ध करना अत्यंत आवश्यक है। ऐसा वातावरण बना रहा तो मनुष्य मात्र को हीनता की ओर खींचनेवाले क्षुद्र आकर्षण बालकों पर प्रभाव नहीं डाल सकेंगे और वे कदापि कुमार्गगामी नहीं होंगे। दुर्भाग्यवश आजकल बहुत से परिवारों से, विशेषतः आधुनिक शिक्षाप्राप्त परिवारों से ये सब नियम, कुलाचार, सदाचार के आदर्श लुप्त ही हो गए हैं।

पाठशाला में उसे नाममात्र शिक्षा मिलती है, क्योंकि वहाँ चारित्र्य-गठन का कोई विचार ही नहीं है। जीवन के लक्ष्य का किसी को न पता है, न उसकी प्राप्ति का विचार। केवल निकम्मे नौकर बनाने के कारखानों से अधिक उनका महत्त्व नहीं है। हीन अनाचार को प्रवृत्त करनेवाले, क्षुद्र पशुभाव को, विषयलोलुपता को उद्दीपित करनेवाले, निरंकुश स्वच्छंद स्वैराचार को प्रोत्साहन देनेवाले, स्वार्थपरता, भौतिक सुखोपभोग की कामना, कर्तव्य-विस्मृति आदि भयानक दुर्गुणों को उत्पन्न करनेवाले, मानवता-विघातक अनेक प्रबल आकर्षण, यही आज के बालक के चारों ओर का भीषण वायुमंडल है। इस भयंकर अवस्था में आज का बालक संस्कार प्राप्त करता है। इस स्थिति में उसमें मानवता का प्रकाश उत्पन्न होकर वह श्रेष्ठतम जीवन प्राप्त कैसे कर सकेगा, इस प्रश्न पर गंभीर विचार करने की नितांत आवश्यकता है। माता-पिता को अपने बालकों के आनुवंशिक संस्कारों में से अनिष्ट संस्कारों को नष्ट कर, योग्य संस्कारों की अभिवृद्धि करने के लिए घर का वायुमंडल प्रबल शुद्ध संस्कार निर्माण कर सके, इस दृष्टि को सामने रखकर, उन्हें अपने पारिवारिक जीवन में उक्त अनुशासन, नियमबद्धता एवं शुद्धता लाने की तथा समाज के श्रेष्ठ गुणों का आनुवंशिक संस्कार विशुद्ध रूप में प्रकट हो, ऐसी चेष्टा करने की अतीव आवश्यकता है।

समाज का दायित्व

समाज के आनुवंशिक संस्कारों का विचार सामने आने पर आध्यात्मिक व राष्ट्रीय, ऐसी दो दृष्टियों से विचार करना आवश्यक होता है। प्रथम, समाज-जीवन का आध्यात्मिक संस्कार और दूसरा व्यावहारिक आविष्कार- राष्ट्रीय संस्कार। अपने समाज का विचार करते हुए व्यक्ति-विकास के विचार के समय जिसका कुछ उल्लेख किया गया, वे जीवन के लक्ष्यभूत आध्यात्मिक तत्त्व मुख्यतः सम्मुख आते हैं। व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास में उसके व्यक्तित्व की मर्यादाओं को विस्तृत कर समाज के साथ व्यक्ति की एकरूपता का अनुभव, व्यष्टि-समष्टि-तादात्म्य होना ही चाहिए। इस दृष्टि से शिक्षा के द्वारा ऐसे ही संस्कारों का निर्माण होना आवश्यक है, जिनसे व्यक्ति अपने वैयक्तिक या कौटुंबिक स्वार्थ से ऊपर उठकर अपने को समाज के अविभाज्य अंग के रूप में पहचान सके। इसलिए सामूहिक खेल आदि शारीरिक कार्यक्रम, सामुदायिक समाजोपयोगी कार्यों द्वारा समाज सेवा की शिक्षा देनेवाले कार्यक्रम, सामुदायिक प्रार्थना आदि का आयोजन कर बालकों को उसमें सम्मिलित करना और इन आयोजनों द्वारा उनमें सुसूत्र सामाजिक भावों के संस्कार निर्माण करना आवश्यक है। इन संस्कारों के निर्माण से सहज में ही एक और श्रेष्ठ लाभ होता है कि व्यक्ति निःस्वार्थ, त्यागी, सेवाभावयुक्त, सत्कार्यरत होकर हीन भावों को त्यागने में समर्थ होता हुआ परमोच्च आध्यात्मिक अनुभव प्राप्त करने के लिए अधिकाधिक पात्र बनता है। इस प्रकार वह अपने समाज-जीवन की परंपरा-प्राप्त आध्यात्मिक संपत्ति का अधिकारी बनकर अपने दैनंदिन व्यवहार में राष्ट्र के उत्कृष्ट अंग के रूप में खड़ा हो सकता है।

अपनी जीवनधारा में अंतिम लक्ष्य-प्राप्ति हेतु समाज धारण करनेवाले धर्म का, जो व्यक्ति के लिए अभ्युदय तथा निःश्रेयस का हेतु है, पालन करना अत्यंत अनिवार्य कहा गया है। उपरिनिर्दिष्ट शिक्षा, वायुमंडल, माता-पिता के आचरण, सामूहिक जीवन आदि के द्वारा समाज के साथ अविच्छेद्य एकात्मता का संस्कार तथा कर्तव्यनिर्देश होने के कारण समाज की सुव्यवस्थित धारणा करनेवाले धर्म का परिपालन करने में व्यक्ति समर्थ होता है। धर्मपालन से स्वतः के जीवन में निःश्रेयस तक पहुँचने की पात्रता प्राप्त कर आत्यंतिक अभ्युदय का भी वह लाभ पा सकता है। आत्यंतिक अभ्युदय का विचार धर्म में से निर्माण होने के कारण अपने राष्ट्रजीवन में उससे केवल किसी व्यक्ति मात्र के जीवन का ऐहिक उत्कर्ष अभिप्रेत न

होकर, संपूर्ण समाज का, राष्ट्र का अभ्युदय, राष्ट्र का सर्व प्रकार सुख-संपत्ति, वैभव, ऐश्वर्य, गरिमा, जगत्-प्रतिष्ठा आदि से युक्त श्रेष्ठ जीवन अभिप्रेत है, यह स्पष्ट है। अर्थात् अपने राष्ट्र की महिमा का ज्ञान, उसके श्रेष्ठ भाव, बाल्यकाल में ही अंकुरित हों और फलतः व्यक्ति सर्वोत्तम राष्ट्र हितकारी संस्कारों से प्रभावित होकर राष्ट्र-सेवा में काया-वाचा-मनसा संलग्न होने के लिए सिद्ध हो, इसे लक्ष्य बनाकर वायुमंडल बनाना आवश्यक है।

इस इष्ट फल की प्राप्ति हेतु अति प्राचीनकाल से आज तक जो श्रेष्ठ राष्ट्र-पुरुष हुए, उनके जीवनेतिहास की शिक्षा देकर, उनके जन्मदिनादि पर्वों पर महोत्साह के साथ उनका सश्रद्ध स्मरण कर, उनके दीप्त पद-चिह्नों पर चलने की प्रेरणा उत्पन्न हो, ऐसे अमिट संस्कार हृदय पर अंकित करना अतीव आवश्यक है। वैदिक साहित्य से लेकर आधुनिकतम इतिहास-साहित्य में अनेकानेक श्रेष्ठ पुरुषों की बाल अवस्था का वर्णन आता है। बाल्यकाल से ही उनके द्वारा प्रकट किए श्रेष्ठ गुण, ज्ञान, त्याग, आत्मबलिदान, स्वाभिमानयुक्त राष्ट्रसेवा, धर्मभक्ति आदि का रसपूर्ण वर्णन विद्यमान है। इन श्रेष्ठों की बाल अवस्था का इतिहास पढ़ाकर बालकों के हृदय के सद्भाव जागृत करना, उनके अंतःकरण में स्वयं भी उनके सद्गुण आत्मसात कर उनके ही समान आदर्श राष्ट्रभक्त बनने की आकांक्षा जागृत करना अत्यन्त आवश्यक है। आज की स्थिति में तो इस प्रकार की शिक्षा का अभाव ही दिखता है।

श्रेष्ठ राष्ट्र-पुरुषों को आदर्श-रूप में बालकों के सम्मुख रखने के स्थान पर, उन पर विकृत संस्कार पड़ें, ऐसे आदर्शों को तोड़-मरोड़कर रखा जा रहा है। उनके जीवन-लक्ष्य की उपेक्षा कर उन्हें उनके आदर्श पद से खींचकर क्षुद्र बनाने की राष्ट्र-विघातक चेष्टाएँ हो रही हैं। इससे सर्वसाधारण बालक के विकास को गहरी चोट पहुँच रही है। आनुवंशिक संस्कारों के कारण रक्त के बिंदु-बिंदु में जो स्मृतियाँ गूँजती हैं, उनको हृदय-सिंहासन से स्थान भ्रष्ट करने के हानिकर प्रयत्नों के कारण रिक्त हुआ बालक-हृदय, भ्रष्ट विचारों से भर जाता है और मानवता के श्रेष्ठत्व से च्युत होता है। यही बात आज सर्वत्र दिखाई देती है। अपने ही अनुभव का एक उदाहरण देकर इस दुरवस्था को स्पष्ट करना चाहता हूँ।

स्वर्गीय सरदार वल्लभभाई पटेल का देहांत होने पर मैं उनकी शवयात्रा में सम्मिलित होने गया था। शवयात्रा में अपार जनसमुदाय था।

प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू आदि अनेक श्रेष्ठ पुरुष दुःख में डूबे हुए गंभीर भाव से धीरे-धीरे चल रहे थे। शवयात्रा जब एक चौराहे से गुजर रही थी, तब मैंने देखा कि लोग शवयात्रा की दुःखद गंभीरता, अपने नेताओं का सामीप्य आदि सब भूलकर अत्यंत आनंदित भाव से किसी की जय बोल रहे हैं। तब मैं बड़े असमंजस में पड़ गया। साथ चलनेवाले व्यक्तियों से पूछने पर उन्होंने बताया कि पास के मकान में ऊपर की मंजिल पर कोई प्रसिद्ध सिनेमा-कलाकार शवयात्रा देखने के लिए खड़ा है, उस कारण लोग इतने आनंदमत्त हो रहे हैं।

अतः शिक्षा में सर्वप्रमुख स्थान अपने रक्त के संबंध से सहज आदर, सहज आत्मीयता, सहज ही जिनके आदर्श का अनुसरण करने की प्रेरणा होती है, ऐसे अपने अतीत के श्रेष्ठ पुरुष, जो कि अपने उज्ज्वल गुणों के कारण जगद्वंद्य हैं, इतिहास को देना आवश्यक है। उन्हीं के चारित्र्य-पठन से उत्कृष्ट संस्कार की निर्मिति होकर वैयक्तिक जीवन में हीन प्रवृत्तियों का हृदय में प्रवेश असंभव होगा और प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक आनुवंशिक संस्कारों से युक्त माता-पिता के सद्गुण ही प्राप्त करेगा और उनके अनुपकारक गुणों से मुक्त होकर अपने राष्ट्र का उत्कृष्ट अंग बन सकेगा तथा अपने वैयक्तिक जीवन में भी जीवन के लक्ष्य अभ्युदय एवं निःश्रेयस को प्राप्त कर सकेगा।

अपने भारत की उज्ज्वल परंपरा में वैभवसंपन्न ऐहिक राष्ट्रजीवन और साथ ही प्रत्यक्ष परमात्मदर्शन कर सृष्टि की समस्या सुलझानेवाला आध्यात्मिक जीवन, इन दोनों का परमोच्च आदर्श प्राप्त है। उचित संस्कारों द्वारा वही श्रेष्ठत्व फिर भारत को प्राप्त हो, इस दृष्टि से अपने बालक-बालिकाओं को शिक्षित करना अपना श्रेष्ठतम कर्तव्य है। आशा है, सब समझदार बंधु इस समस्या की महत्ता को समझ कर उचित प्रबंध करने हेतु आगे बढ़ेंगे।

४. राष्ट्रोन्नति का सच्चा मार्ग

(साप्ताहिक 'राष्ट्रशक्ति' नागपुर, २५ अक्तूबर १९५५)

अंग्रेजों को अपने देश पर प्रत्यक्ष राज्य करना छोड़े और एतद्देशीय नेताओं के हाथों सत्ता सौंपे ८ वर्ष पूर्ण हो चुके हैं। इस अवधि में देश में अनेक महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई हैं। अपने ही देशबांधवों ने देश के लिए नया

संविधान तैयार किया और तदनुसार नए चुनाव कराकर राज्य-शासन प्रारंभ हुआ है। बड़ी-बड़ी औद्योगिक योजनाएँ सामने आईं। कुछ का काम भी प्रारंभ हुआ। ऐसी विस्मयकारी बातें, जिनका वर्णन परकीयों के सामने किया जाए, तो वे भी दाँतों तले उँगली दबा लेंगे। ये सारे कार्य विदेशी ऋणों और बढ़ते कर-भार के द्वारा पूर्ण करने का प्रयत्न शुरू हुआ। नया इतिहास, नई समाज-रचना आदि बातें नया रंग भरने लगीं। इनके गुण-दोषों की सराहना-आलोचना कर भिन्न-भिन्न राजनैतिक संस्थाएँ अपनी-अपनी लोकप्रियता बढ़ाने के प्रयत्नों में मग्न हो गईं। विदेशों में दूतावासों की स्थापना, नेताओं के दौरे, विभिन्न देशों के सम्मेलन, पंचशील आदि समझौते, देश के महान व्यक्तियों की भेंट-प्रतिभेंट, तथाकथित सांस्कृतिक सम्मेलन और सांस्कृतिक प्रतिनिधिमंडलों की यात्रा-प्रतियात्राएँ, विश्व-शांति की घोषणा आदि से वातावरण व्याप्त हो गया। अपने प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का शांतिदूत के रूप में असामान्य गौरव हुआ देखकर देशवासी फूले नहीं समाए।

यह सब कुछ हुआ है, फिर भी सुख-संतोष, स्वाभिमान और स्पष्ट ध्येय के कारण प्राप्त होनेवाली दृढ़ता का अनुभव दिखाई नहीं देता। प्रतिदिन कहीं न कहीं किसी-न-किसी के द्वारा आंदोलन, सत्याग्रह, उन्हें नियंत्रित करने के लिए लाठीचार्ज, गोलीबारी, सज्जनों को कारावास, जुलूस, प्रदर्शन, भिन्न मतानुवर्ती संस्थाओं द्वारा एक-दूसरे पर कटुतापूर्ण हमले और उसके परिणामस्वरूप दिखाई देनेवाला केवल पारस्पारिक द्वेष ही नहीं, तो शत्रुभाव आदि दुःखद बातों का पग-पग पर अनुभव हो रहा है। स्वकीयों व अपने मतों के अनुसार चलनेवालों को छोड़ शेष सभी पराए हैं, देशद्रोही हैं, निर्मूलन करने योग्य हैं – ऐसी असहिष्णु भावनाएँ उभर आई हैं। कोई किसी का नहीं, सभी अपने-अपने स्वार्थ में लीन एकाध दल के सहारे एकत्र तो आते हैं, परंतु स्वार्थवश और आहत मिथ्या व्यक्तिगत अभिमान के कारण पक्षांतर करने की शोचनीय अवस्था दिखाई देती है।

केवल व्यक्ति के सुख का विचार करें तो उसका भी अभाव बढ़ा है। भावी सुखों की आशा से नए-नए करों तथा जीवनस्तर ऊँचा उठने की भ्रामक धारणा में से अनेक प्रकार के नए-नए खर्चों का भार, आय की अनिश्चितता, आय हो भी तो उसकी अपर्याप्तता, ऐसी अधिकांश समाज की अवस्था है।

सामाजिक जीवन की नींव ही ढह गई

समाज की ओर समाज के रूप में देखा जाए तो प्रतीत होता है कि सामाजिक जीवन की नींव ही ढह गई है। एक सहस्र से भी अधिक वर्ष तक न्यूनाधिक प्रमाण में दासता का अनुभव करने के फलस्वरूप आत्मविश्वास, समाजधारणा-विषयक श्रद्धा, समाज की जीवन-रचना संबंधी आस्था, सभी कुछ ढह गया है। स्वतः की सभी बातों के प्रति घृणा, अवज्ञा और अनादर की प्रवृत्ति बलवती हो गई है। साथ ही साथ, जिन्होंने दासता थोपी, उन परकीयों के विषय में श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न होकर, उनकी समाज-रचना, उनका ज्ञान, उनका राज्य-शास्त्र, आर्थिक नीतियाँ, नीतिकल्पनाएँ, रीति-रिवाज, वेशभूषा आदि बड़ी बातों से निरर्थक क्षुद्र बातों तक, सभी में उनके ये वैशिष्ट्य ही उनकी विजय के लिए कारणीभूत माने जाकर, यह आशा होने लगी कि उनके अनुकरण से हमें भी श्रेष्ठता प्राप्त हो सकती है। इस मनोभूमिका के कारण समाज-सुधार संबंधी जो-जो परिवर्तन सूझे, उन्हीं का आजकल ढिंढोरा पीटा जा रहा है।

इस समय हिंदू-समाज की जाति-व्यवस्था नष्ट करने के आंदोलन की लहर चली है। सामाजिक परिषदों का आयोजन हो रहा है। विद्वत्-चर्चाओं के लिए दो-दो सप्ताहव्यापी सम्मलेन भी हो रहे हैं। इनमें जाति-व्यवस्था समाप्त करने के संकल्प प्रकट हो रहे हैं? किंतु जाति-व्यवस्था नष्ट करने के बाद समाज की क्या रचना होगी, इसका स्पष्ट चित्र कोई प्रस्तुत नहीं कर रहा। यही राग आलापा जा रहा है कि साधारणतः पाश्चिमात्य समाज के समान समाज की रचना की जाए। किंतु जाति-व्यवस्था केवल हिंदू-समाज में ही परंपरा से चलती आ रही है। अति प्राचीनकाल में क्या था, इसका विचार फिलहाल छोड़ दें। विगत सहस्र-डेढ़ सहस्र वर्षों का इतिहास देखने पर विदित होता है कि यह व्यवस्था दुनिया में अन्यत्र कहीं नहीं थी, वह केवल हिंदू-समाज में ही थी। इस अवधि में, इस्लाम का उदय होकर, उसने धर्मप्रसार के साथ ही साम्राज्य-विस्तार करना भी ठान लिया। संपूर्ण यूरोप, अफ्रीका का संपूर्ण उत्तरी हिस्सा, एशिया में अरबस्तान, ईरान, मध्य रूस व चीन का भी बहुत सा क्षेत्र उन्होंने जीत लिया और ईरान आदि देशों में संपूर्ण जनता को मुसलमान बना लिया। यूरोप में उस समय जो रोमन साम्राज्य था, वह नष्ट हो गया। अत्यंत शक्तिशाली माना जानेवाला ईरान का साम्राज्य धूल में मिल गया और इस्लामी साम्राज्य की शक्ति अत्याधिक बढ़ गई। जब शक्ति कम थी, तब भी उन्होंने इन प्रदेशों पर सहजता से

विजय प्राप्त की थी, परंतु साम्राज्य-वृद्धि और प्रबल शक्ति हो जाने के बाद जब वे हिंदुस्थान को जीतने के लिए आए, तब कदम-कदम पर कड़ा संघर्ष करते हुए उन्हें संकट में ही समय बिताना पड़ा। लगभग एक सहस्र वर्षों तक प्रयत्न करने के बाद भी वे बहुत ही थोड़ी जनसंख्या को मुसलमान बना पाए। यहाँ के साम्राज्य के उनके सपने धूल में मिल गए। घमंड से निर्मित दिल्ली के 'तख्त' के टुकड़े-टुकड़े हो गए। बादशाह हिंदू सेनापति के कृपाकटाक्ष पर जीवन व्यतीत कर रहा है, यह देखना उनके नसीब में आया।

तात्पर्य केवल यही कि जाति-संस्था का न होना शक्ति का कारण नहीं है। वैसे ही केवल जाति-व्यवस्था दुर्बलता व पराभव का कारण नहीं। अतः यह कहा जा सकता है कि आजकल स्वस्थ समाज-रचना का वैज्ञानिक अनुशीलन कर, जातिविरहित दृढ़ समाज-रचना का विचार नहीं हो रहा, अपितु केवल परकीयों की तात्कालिक विजय के कारण अपने विचारों पर आघात होकर, उनका अनुकरण करने की आत्मग्लानिपूर्ण भावना में से ये विचार हो रहे हैं।

यही बात विवाह-विच्छेद, पैतृक-धनाधिकार आदि विषयक कानूनों के संबंध में भी कही जा सकती है। विवाह-विच्छेद में तो सामान्य मानवता के दृष्टिकोण से भी विचार हुआ है– यह दिखाई नहीं देता, अन्यथा पति या पत्नी दुर्धर रोग से पीड़ित होने पर या पागल हो जाने पर मानवता का स्मरण कर, आमरण पीड़ित जीवन सहयोगी की सेवा करना छोड़, उसका त्याग करने की छूट देने का विचार किसी के मन में भी न आता, परंतु तब तो यह दिखाई देता कि विजयी विदेशियों की दासता में रहने के कारण हुए संस्कार धुल गए हैं। स्वतंत्र मन, स्वाधीन बुद्धि, स्वतः के तेजस्वी जीवन के संस्कार का अभाव है। इसीलिए समाज जीवन अन्य समाजों की विकृत प्रतिकृति बनता दिखाई दे रहा है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सब प्रकार की अव्यवस्था फैली हुई है, स्वत्व लुप्त हो गया है, झूठे आदर्शों का बोलबाला है, जीवन की स्वाभिमानपूर्ण स्वत्वाधिष्ठित निष्ठा का लोप हो गया है। इस तरह का एक दुःखद चित्र आँखों के सामने खड़ा है।

उन्नति का वास्तविक मार्ग

विचारकों को चाहिए कि वे इसका कोई उपाय खोजने का प्रयास

करें। किंतु उसके पूर्व दृढ़ता से विचारों की शुद्धि होना चाहिए। यह अभिमान हो कि यह अपना देश है, यह भरतभूमि अपनी मातृभूमि, पितृभूमि, धर्मभूमि, कर्मभूमि है। इस भूमि के सच्चे पुत्र कौन हैं, इसका विवेकपूर्वक विचार करें। हम सब हिंदू हैं। सभी जातियाँ, संप्रदायों, पंथों, भाषाओं, रीति-रिवाजों आदि वैविध्य से विभूषित यह संपूर्ण समाज, जो नगरों, ग्रामों और वनों में जीवन व्यतीत करता है और जिसमें मूलभूत एकता विद्यमान है, इस पवित्र भू-माता की संतान है। इसी हिंदू-समाज का जीवन इस भूमि का राष्ट्रजीवन है। यहाँ की राष्ट्रीय परंपरा, राष्ट्रीय आदर्श, राष्ट्रीय श्रद्धा, संस्कृति, धर्म, तत्त्वज्ञान, कला, इतिहास, सभी कुछ हिंदू-समाज का ही है। उसमें अन्य कोई ऊटपटाँग और जबरदस्ती से की गई मिलावट असहनीय है। ऐसे शुद्ध राष्ट्रजीवन का अभिमान ही राष्ट्रीय वृत्ति है। उसपर किया गया आघात, राष्ट्र पर आक्रमण है। इस प्रकार विचार-शुद्धि होगी, तभी अपने इतिहास के अनुरूप अपना जीवन प्रवाह द्रुतगति से आगे बढ़ाने और उस प्रगति में से अपने राष्ट्रजीवन के आज भी अज्ञात असंख्य पहलू प्रकट करने की पात्रता उत्पन्न होगी। इन स्वाभिमानी भावनाओं से जीवन गतिहीन नहीं होगा। साथ ही नवीनता या परकीय विचारों की दासता के परिणामस्वरूप विपरीत अवस्था भी निर्माण नहीं होगी, वरन् उसमें सच्चे अर्थ में राष्ट्र की स्वतः की शुद्ध नींव पर उन्नति करने की भावना रहेगी। उसमें यह भ्रांति भी नहीं रहेगी कि जो कुछ पुराना है, वह सब सोना समझकर उससे चिपके रहा जाए या फिर यह अविवेकपूर्ण धारणा भी नहीं रहेगी कि जो-जो कुछ नया है या पाश्चिमात्य है, वह सब ग्रहण करने योग्य ही है। आवश्यकता यह है कि राष्ट्रभावना पर आधारित सदसद्विवेक बुद्धि का उपयोग कर, अपनी मानवी बुद्धि की दुर्बलताओं को ध्यान में रखकर, अपने समाज और समष्टि बुद्धि से सहस्रों वर्षों के प्रत्यक्ष संघर्षमय जीवन की कसौटी पर कसकर निश्चित किए गए सिद्धांतों के अनुरूप विचार कर जीवन की प्रगति करना है। विचारक इसका विचार करें।

योग्य शिक्षाक्रम

इस संबंध में मुख्य उपाय तो यही है कि शिक्षा-प्रणाली, शिक्षाक्रम व शिक्षा को निर्दोष किया जाए। भाड़े की शिक्षा-प्रणाली अपनी परंपरा में नहीं बैठती। उदर-भरण के ढेर सारे विषयों की भीड़ बढ़ाने से उत्तम मानव, राष्ट्र के उत्तम अवयव का निर्माण नहीं होता। इसके लिए ऐसी शिक्षा आवश्यक है, जिसमें दृढ़ चारित्र्य, शरीर व मन की बलोपासना,

राष्ट्र-परंपरा के उज्ज्वल नररत्नों के गुणों की अमिट छाप निर्माण कर सकनेवाले चरित्रों और धर्म के शाश्वत तत्त्वों को बिंबित करने जैसी पवित्र बातों के संस्कार बाल्यकाल से ही दृढ़ करते रहने की योजना हो। शिक्षा आगे यथावकाश दी जा सकती है। प्रथम चारित्र्य, शुद्ध राष्ट्रभावना और धर्मश्रद्धा की नींव पक्की की जानी चाहिए। इस दृष्टिकोण से शिक्षाक्रम और पाठ्यक्रम निर्धारित करना समुचित होगा। यह कहा जा सकता है कि इस तरह का थोड़ा-बहुत प्रयास होता है। किंतु दीर्घकाल के बाद अकस्मात सत्ता-प्राप्ति के कारण बड़ों-बड़ों के विचारों में भ्रांति उत्पन्न हो गई और तमोगुणी व्यक्ति जिस प्रकार आकाश को अपनी मुट्ठी में बाँधने का अद्‌भुत, किंतु हास्यास्पद प्रयास करता है, उसी प्रकार जागतिक, अंतर्राष्ट्रीयता, मानवता आदि मोहक और भव्य, किंतु जीवनोपयोगी गुणों की अभिव्यक्तिहीन भावनाओं पर जोर देने की धुन सवार हो गई। इसके फलस्वरूप अपने राष्ट्रजीवन की परंपरा के अनुरूप धर्म, श्रेष्ठ चारित्र्य आदि के अध्ययन की आवश्यकता का विचार जाता रहा और जागतिक कहलानेवाली अनिश्चित ध्येयविहीन बातों पर जोर देने का प्रयास हुआ। उसी प्रकार ऐसा भी कहा जा सकता है कि विशुद्ध राष्ट्रज्ञान न होने के कारण या देश के अन्यान्य विरोधी समाजों के अस्तित्व को देखते हुए उनकी सहानुभूति संपादन करने की लालसा के फलस्वरूप श्रेष्ठ राष्ट्रीय पुरुषों के जीवन-चरित्रों के पठन की हेतुपूर्वक उपेक्षा हुई है। इसलिए इन संभ्रांतियों से सावधान रहकर योग्य शिक्षाक्रम का अनुसरण अनिवार्य है।

दासता के अवशेष

दूसरा महत्त्व का उपाय यह है कि दिन-प्रतिदिन के व्यवहार से विदेशी शासनकर्ताओं की विजय के अवशेषों का निर्मूलन हो। शताब्दियों तक दासभाव से जिन बातों को प्रेम व आदर की भावना से स्वीकार किया, उन बातों के विषय में आकर्षण की जड़ें अंतःकरण में गहराई तक चली गई हों, तो कोई आश्चर्य नहीं। किंतु यह आकर्षण दृढ़ राष्ट्रभावना के पोषण की दृष्टि से प्रतिकूल है। इसलिए इन सभी अवशेषों का सर्वथा त्याग किया जाना चाहिए। एक बार छोटे से बड़ों तक देशभर में दृढ़ प्रखर व स्थायी राष्ट्रभाव दृढ़मूल हो जाए और जगत् के विभिन्न समाजों से क्या लेना, क्या न लेना आवश्यक व उचित है, ऐसा विवेक करने और सुनियोजित रूप में उन्हें आत्मसात करने की पात्रता आ जाए, तब फिर यह देखा जाएगा कि किससे क्या ग्रहण किया जाए। परंतु विचित्र प्रतीत होने

और अनुदारता का दोषारोपण होने पर भी सर्वप्रथम विदेशी दासता के अवशेषों को समूल उखाड़ फेंकना चाहिए। इसी से प्रखर राष्ट्रभक्ति निर्माण होगी और विश्व के विभिन्न देशों के समाजों की ओर निर्भयता के साथ, निःशंक होकर देखने की स्वाभिमानी दृष्टि प्राप्त होगी, अन्यथा अन्य सभी को श्रेष्ठ मानने की व स्वतः के राष्ट्र की अवज्ञा करने की संप्रति जो दासवृत्ति फैली है, वह हम पर सवार रहेगी और सम्मान के साथ, गौरव के साथ उन्नतमस्तक राष्ट्र के रूप में अपना जीवन कभी श्रेष्ठ नहीं बनेगा।

इन अवशेषों का विचार करने पर एक अत्यंत महत्व की बात ध्यान में आती है। अपने देश में ऐसे बंधु बड़ी संख्या में हैं, जो मुसलमान और ईसाई बन गए हैं। इनमें से बहुतांश पीढ़ी-दर-पीढ़ी से इसी देश में रहनवालों के वंशज हैं। उन्होंने नए राज्यकर्ताओं के पंथ के प्रति भक्ति जागृत होने के कारण नहीं, वरन् परकीय आक्रमण के आघातों के समय भय, बलात्कार, प्रलोभन आदि के कारण अन्य कोई मार्ग शेष न रह जाने पर निरुपाय होकर, अगतिकता के कारण प्राणरक्षा के लिए उनका पंथ स्वीकार किया था, अर्थात् उनका आज उन पंथों में बने रहना सहस्राधिक वर्षों की दासता का फल है। यह बात इसका प्रमाण है कि उनमें दासभाव विद्यमान है। यदि स्वतंत्रता का सच्चा उपभोग लेना हो तो हिंदू वंशज सभी मुसलमान व ईसाईयों को चाहिए कि परकीय बलात्कार के चिह्नरूप अपमानकारक पंथों व मतों का त्याग कर, वे फिर से अपने पूर्वजों के स्वधर्म में लौट आएँ। तभी राष्ट्र की स्वतंत्रता को पूर्णता प्राप्त होगी और हमारे नेताओं को संत्रस्त करनेवाली स्थिति का अंत हो जाएगा और अपने देश में एकात्म संघ, एकरस जीवन निर्माण होगा। समाज-जीवन में सभी बंधुओं को अपने पवित्र धर्म के आदर्शों का अभ्यास होगा और फलतः एकजुट से समर्थ, स्वाभिमान के साथ विश्व के अन्यान्य आक्रामकों की चुनौतियों को स्वीकार कर व उन्हें पराभूत कर स्वतः का वैशिष्ट्यपूर्ण, वैभवसंपन्न राष्ट्र पुनः प्रस्थापित हो सकेगा।

अपने देश का वर्तमान बिखरा हुआ, असंगठित, आत्मविस्मृत जीवन बदलने का यही एकमेव मार्ग है। इसी से वर्तमान दुरवस्था, पारस्परिक विरोध, विद्वेष, शत्रुभाव आदि दोष दूर होंगे और दैन्यपूर्ण परानुवर्ती लांछित जीवन समाप्त होगा। ऐहिक सुख, ऐश्वर्य व सम्मान प्राप्त करने के लिए आवश्यक बुद्धि की परस्परानुकूल अनुशासित स्थिति उत्पन्न होगी और सनातन हिंदूराष्ट्र पुनरपि जगद्गुरु के रूप में मानव-जाति के अग्रभाग में सुशोभित होने लगेगा।

५. आण्विक युग और धर्म

(ऑर्गनायजर, १४ नवंबर १९५५)

इतिहास बताता है कि मानव जीवन में परिवर्तन होता रहता है। दृश्य और अदृश्य कारणों, संपर्कों व संबंधों के कारण उसका विकास होता है, समझ व व्यवहार बदलता रहता है। भौतिक विज्ञान के विकास के साथ सृष्टि के रहस्य क्रमशः अनावृत्त होते जा रहे हैं, जिसके कारण मनुष्य का प्राकृतिक शक्तियों पर नियंत्रण एवं सजीव सृष्टि पर प्रभुत्व बढ़ा है। गत सौ वर्षों में प्रकृति के रहस्यों के ज्ञान में अद्‌भुत प्रगति हुई है। इस प्रगति के करण वर्तमान युग को, जिसमें हम जी रहे हैं, आण्विक युग कहा जाता है।

प्रकृति से खिलवाड़

अत्यंत प्रभावशाली इन शक्तियों पर नियंत्रण के परिणामस्वरूप कई नई एवं विकट समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं, क्योंकि ऊर्जा अपने उपयोग के अनुरूप समान रूप से अच्छी-बुरी अथवा लाभ-हानिकारक होती है। इसके कारण पृथ्वी स्वर्गमयी बन सकती है, वहीं उसके विखंडित होने का खतरा भी उतना ही उत्पन्न हुआ है, अर्थात् वह अभिशाप देने अथवा वरदान प्रदान करने, दोनों में ही समान रूप से सक्षम है।

इसका उपयोग सब प्रकार की प्रसन्नता, रोगमुक्ति एवं मानव की वर्तमान परिकल्पना से भी उच्च जीवन-सुविधाएँ प्राप्त करने में किया जा सकता है। परंतु यह निर्दयी विनाश का यंत्र भी बन सकती है, क्योंकि मनुष्य ने ही इन विकराल शक्तियों को खोजा है। इन्हें उपयोग में लाने हेतु मार्ग आविष्कृत किए हैं। अतः उसी पर इसकी मानवीय अथवा पैशाची वृत्ति निर्भर करती है। मानव को दैवी अथवा आसुरी गुणों से सुसज्जित करने के अनुरूप ही यह विश्व स्वर्ग अथवा नरक बनेगा। लेकिन आज का मनुष्य शेष सृष्टि, यहाँ तक कि अपने ही वर्ग के बांधवों के साथ जो व्यवहार कर रहा है, उसके क्या परिणाम होंगे?

व्यक्ति जिस तरह पहाड़ों को समतल करने का प्रयास कर रहा है, जंगल काटता जा रहा है, यहाँ तक कि धरती माता को संपदाविहीन बना रहा है, प्राकृतिक स्रोतों के जल-प्रवाहों को प्रतिबंधित करते हुए उन्हें अपनी पसंद एवं निर्मिति के अनुरूप प्रवाहित होने के लिए बाध्य कर रहा है, वह सब सृष्टि के प्रति उसके अत्यल्प सम्मान को बतानेवाला है। अति

आत्मतुष्टि व स्वकेंद्रित दर्प से युक्त होकर वह अति विशाल प्रकल्पों को हाथ में ले रहा है, मानो वह त्रिकालदर्शी एवं सर्वशक्तिमान हो, अथवा प्रकृति की उत्पत्ति व लय में सक्षम द्वितीय विधाता बन गया है। वह अपनी हठधर्मिता के कारण विशाल उद्यमों के प्रभावों को देखने को तैयार नहीं है।

प्रकृति जब तक प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं करती, तब तक उसके साथ खिलवाड़ करना सरल है, किंतु जब वह पलटकर वार करेगी (अनिवार्य रूप से करेगी ही), तब मनुष्य को कौन बचाएगा। किंतु वह तो बिना विचार किए, शीघ्रता से प्रकृति की स्वाभाविक दिशा को ही बदलना चाहता है।

जीवन से खिलवाड़

वहीं जीव-सृष्टि के प्रति उसका दृष्टिकोण गुलामों-सा है। जैसे वह उन सबका निर्माता है, मालिक है और शेष जीवों का अस्तित्व उसके लाभ एवं मनोरंजन के लिए ही है। निरपराध, दीन, उपयोगी पशुओं की हत्या कर, उन्हें स्वादपूर्वक खाकर अपनी भूख मिटाता है। विज्ञान के नाम पर उन्हें अवर्णनीय दारुण यातनाएँ देता है। वह इस की कल्पना करने तक को तैयार नहीं है कि प्राणियों में भी मनुष्यों की तरह संवेदनाएँ होती हैं। सृष्टि का स्वामी बनने की अनधिकार चेष्टा कर वह समझने लगा है कि उसका स्वाभाविक अधिकार है कि वह उनकी भावनाओं का अनादर करे। उसके इस व्यवहार से यदि उस जीव-प्रजाति का संपूर्ण विनाश भी हो रहा हो, तो उसे कोई चिंता नहीं होती।

मानव मन की यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल होती जा रही है कि वह मनुष्य जीवन के सुख, सुरक्षा एवं उन्नति के प्रति उदासीन होता जा रहा है। शेष मानव-जाति पर राज करने की महत्वाकांक्षा इसी अहंकार का परिणाम है। किंतु अकेला एक व्यक्ति वर्चस्व प्रस्थापित करने में अक्षम है, इसलिए साथ रहने वाले शक्तिशाली मानव-समूह, जिनकी आशा-आकांक्षाएँ समान हैं, के सहारे शेष संसार पर नियंत्रण प्रस्थापित करने का प्रयत्न करता है। ऐसे समूह विज्ञान की सहायता से प्राकृतिक शक्तियों को खोजकर और उनपर नियंत्रण कर, अपने स्वार्थी उद्देश्यों की पूर्ति करने में जुटे हुए हैं। इसी का परिणाम है कि वर्तमान में विश्व विनाश की आशंका से भयकंपित है, उसकी कृष्णछाया में जीने के लिए विवश है। एक ओर तो मनुष्य को सुखी बनाने के लिए योजनाएँ बनाई जा रही हैं तो दूसरी ओर प्रकृति की गूढ़ शक्तियों को नियंत्रण में लाकर सृष्टि पर विजय प्राप्त कर

स्वामी बनने के अनधिकार प्रयास कर आत्मविनाश को निमंत्रण दिया जा रहा है।

मानवतावाद अपर्याप्त

नेता और दार्शनिक सर्वतोमुखी विनाश के लक्षण देखकर भयभीत हैं तथा इस संकट को दूर करने और मनुष्य को सर्वांगसुखी बनाने के लिए सभी प्रकार के साधन खोजने में प्रयासरत हैं। साथ ही दूसरों पर अधिकार जतानेवाले मानव-समूहों को एकत्र लाकर तालमेल बैठाते हुए सद्भावना व शांति से समस्याओं को सुलझाने एवं विनाशकारी आपसी संघर्ष को टालने का प्रयत्न कर रहे हैं।

किंतु मनुष्य जब तक अहंकारी, उद्दंड बना रहेगा, तब तक जीवमान और निर्जीव सृष्टि पर अधिकार की भावना रखेगा। समझौते, आश्वासन, विश्वास दिलाने आदि से तात्कालिक समस्या तो सुलझाई जा सकती है, पर आसन्न विनाश को नहीं टाला जा सकता। इस कारण सच्ची शांति एवं वैभव की प्राप्ति नहीं हो सकती। राजनैतिक, आर्थिक तालमेल बैठाने से या शांति-सम्मेलनों से, मित्रता की शाब्दिक स्वीकृति से समस्याओं का हल नहीं हो सकता। हल प्राप्त होगा मूलभूत विचारों में परिवर्तन, हृदय-परिवर्तन तथा जीवनमूल्यों के परिवर्तन से। केवल बाह्य व्यवस्था बदलने से शांति नहीं आ सकती, आंतरिक परिवर्तन चाहिए।

क्या मानवतावाद या धर्मनिरपेक्षिता से इष्ट परिणाम प्राप्त किए जा सकते हैं? इससे तथाकथित पंथ-भेद दूर किए जा सकते हैं? समन्वय एवं शांति प्रस्थापित की जा सकती है? मानवतावाद में यह शक्ति नहीं, जब तब वह चराचर सृष्टि में निहित एकात्मता को स्वीकार कर आधारभूत एकता की अनुभूति न करे।

इस एकात्मता की अनुभूति के बिना मनुष्य इस जगत् में अन्यों के समान मात्र एक प्राणी बनकर ही रह जाएगा। अपने सुख के लिए अधिक शक्तिशाली एवं चतुर प्राणी जिसका उपयोग करेंगे। आज की दुनिया में जो उथल-पुथल मच रही है, वह धर्मनिरपेक्षता का ही परिणाम है। मजहबी लड़ाइयाँ तथा क्रूसेड तो धर्मयुद्ध का बहाना मात्र हैं। उनका मुख्य उद्देश्य साम्राज्य-विस्तार एवं प्रभुता प्राप्त कर सांसारिक सुख को प्राप्त करना है। इसमें किसी दूसरे की बलि देने में भी उन्हें कोई संकोच नहीं होगा। उनका लक्ष्य शुद्ध सांसारिक सुख की प्राप्ति ही है। धर्मभावना तो स्वाँग मात्र है।

धर्म : एकमेव मार्ग

मनुष्य को मनुष्य बनाने का एक ही मार्ग है और वह है धर्म की शरण में जाना। पर मेरे 'धर्म' कहने का तात्पर्य वर्तमान में प्रयुक्त होनेवाले 'धर्म' शब्द से नहीं है। वह तो संप्रदाय है। मेरा अभिप्राय सत्य सनातन धर्म से है।

'धर्म' बताता है कि सृष्टि की रचना के मूल में एकत्व है। भिन्नता तो केवल बाहरी स्वरूप में है, दिखावा मात्र है। इस एकत्व की अनुभूति सभी मनुष्यों को संभव है। व्यावहारिक जगत् में उसके आविष्कार की राह भी धर्म बताता है। मनुष्य के मन पर इसी धर्म का शासन होना चाहिए, जिससे वह सत्य-असत्य, क्षणिक-शाश्वत, भले- बुरे आदि में विवेक कर, मन को अनुशासित कर संयम में आनंद का अनुभव करना सीखे। निःस्वार्थी बनकर इंद्रिय सुखों के ऊपर उठे, सांसारिक मिथ्या अभिमान को तिलांजलि दे, संपूर्ण विश्व को अपना घर समझे, जीवमात्र को, विशेष कर मानव को अपने शाश्वत अखंड कुटुंब का अंग समझे। तब दूसरों पर अधिकार जमाकर शोषण करने का विचार ही निरर्थक हो जाएगा। एक बार यह स्वीकार हो जाने पर कि सबकी आत्मा एक है, तब कौन किसपर शासन करेगा? कौन किसको नष्ट करेगा? इस अनुभूति से संपन्न व्यक्ति ही प्राकृतिक शक्तियों का उपयोग संसार के हित में करने में सक्षम होगा। इसके अभाव में वह मृत्यु और विनाश की स्थिति का ही निर्माण करेगा।

विश्वशांति और मानवता के अबाधित विकास के लिए धर्म के वातावरण में मनुष्य को संस्कारित करना होगा। संपूर्ण जगत् में व्यवहार्य एवं शाश्वत मूल्यों को पुष्ट करने वाला, अगणित मानवीय संभावनाओं, आशा-आकांक्षाओं, गुण-दोषों को स्वीकार कर परिष्कृत करने के लिए धर्म किस प्रकार प्रस्थापित किया जाए, जैसे प्रश्न का सीधा उत्तर यह है कि हमारे ऋषियों ने जीवन की हर परिस्थिति के विचार व गहरे अध्ययन से जो निष्कर्ष निकाले हैं, उन्हीं धारणाओं के आधार पर जीवन में चरितार्थ करने के लिए जिन संस्कारों की योजना बनाई है, उनका अवलंब करना होगा। जिसमें उन्होंने प्रमुखता से अनेकता में एकता के सिद्धांत की उद्घोषणा की है, उस धर्म की स्थापना की जाए। सत्य तो एक ही है। अपने अनुभवों के आधार पर ऋषियों ने उसकी अनेक प्रकार से व्याख्या की है। सनातन धर्म में मनुष्यों के विभिन्न स्वभावों का विचार कर उसके

अनुरूप शिक्षा व्यवस्था की। जिसके माध्यम से वह सत्य की अनुभूति कर सके और उसे अपने जीवन में चरितार्थ कर सके।

हमें धर्मनिरपेक्ष नहीं होना है, अपितु मनुष्य को सच्चा व उत्कट धार्मिक बनाना होगा। सभी शिक्षा-पद्धतियों, योजनाओं व प्रकल्पों को इस दिशा में मोड़ना होगा। विद्यमान अहंकारी मानव प्राणी के स्थान पर उसे ब्रह्मांड में निहित एकता के आविष्कार के रूप में दैवी गुणों से युक्त मानव में बदलना होगा। ऐसे मनुष्य के हाथों में प्रकृति अपनी अगाध शक्ति विश्वासपूर्वक सौंप देगी, क्योंकि वह उस शक्ति का सही उपयोग जानता है और उनका उपयोग संपूर्ण सृष्टि के हित में ही करेगा।

इस प्रयास में अगर हम असफल रहते हैं और धर्म से निरपेक्ष मार्ग पर चलने की प्रवृत्ति को पुष्ट करते हैं, तब ऐसे आदमी के हाथ लगी प्राकृतिक शक्तियाँ उसे राक्षस बनाकर ही दम लेंगी। कारण धर्मविहीन बल व सामर्थ्य मनुष्य को राक्षस बनाता ही है। यह विचार दुनिया को विनाश के कगार पर खड़ा करेगा। आण्विक साधनों से भयभीत हुआ समाज, जो विश्वशांति की चाह रखता है, क्या इस ओर ध्यान देगा?

६. सुखनिधान

(साप्ताहिक 'विवेक', विजयादशमी विशेषांक; १९५६)

संपूर्ण जड़-चेतन सृष्टि में जड़ की अपेक्षा चेतन को अधिक श्रेष्ठ माना गया है। चेतन सृष्टि में भी वनस्पति-सृष्टि से प्राणी-सृष्टि अधिक मात्रा में स्वभावतः परिस्थितियों से सफलतापूर्वक संघर्ष कर सकने के कारण श्रेष्ठ है। सारे प्राणियों की तुलना में जीवन-संघर्ष में अधिकतम मात्रा में सफल होकर प्रकृति पर विजय प्राप्त करने में अत्यधिक सफल दिखाई देने से मनुष्य-प्राणी सबसे श्रेष्ठ माना गया है। परंतु सभी मनुष्य समान नहीं हैं। किसी में कम, किसी में अधिक शक्ति एवं बुद्धि दिखाई देती है। इस विषमता का कारण ढूँढनेवाले अनुसंधान कर ही रहे हैं, परंतु यहाँ उस विषय की चर्चा नहीं करनी है। शक्ति-बुद्धियुक्त मनुष्य अधिक बुद्धिमान व श्रेष्ठ माना जाता है, यह सार इसमें से ग्रहण कर हम अपने विषय की चर्चा करेंगे।

मनुष्य सुख चाहता है

मनुष्य-प्राणी बुद्धिमान होने के कारण अन्य प्राणियों के समान ही निसर्ग के आघातों से केवल क्रिया-प्रतिक्रिया कर अपने को सुरक्षित रखने का उपक्रम ही नहीं करता, अपितु बुद्धि का उपयोग कर निसर्ग की सारी वस्तुओं तथा शक्तियों को अपने सुख के लिए काम में लाने के प्रयत्न में लगा रहता है। उसमें से अधिकाधिक सुख प्राप्त होने के लिए वह निरंतर प्रयत्नशील रहता है। केवल खाना-पीना तथा प्रजनन द्वारा वंशसातत्य, जो जीवसृष्टि का हेतु है, उसमें संतोष न मानकर अधिक सुखी बनने का उसका अहर्निश प्रयास चलता रहता है। इन्हीं प्रयत्नों में से उसकी सुख खोजने की प्रवृत्ति का उदय होता है। कायिक, मानसिक, बौद्धिक विभिन्न सुखों की श्रेणियों का वह अनुभव करता है। व्यक्तिगत तथा समष्टिगत सुख के विवेक का भी उसके मन में उदय होता है। यह सभी मानते हैं कि समष्टि-सुख के लिए स्वयं परिश्रम तथा विपदाएँ झेलकर, व्यक्तिगत सुख का होम करने में भी वह सुख का अनुभव करता है। जिनमें इस प्रकार की बुद्धि का उदय होता है, उन्हें बुद्धिमानों में भी श्रेष्ठत्व प्राप्त होता है।

सुख केवल शरीरोपभोग या मन के रंजन में नहीं, अपितु सारासार विवेक से समष्टि सुख के लिए निश्चित किए गए कर्तव्यपूर्ति में है, अर्थात् यह मानना पड़ता है कि विवेकसंपन्न मनुष्य का जीवन श्रेष्ठ तथा आदरणीय है।

कहा गया है कि विवेक का अपनी क्रियाओं पर अंकुश रहे, अर्थात् हम योग्य मार्ग से कार्य करें और अयोग्य मार्ग से अपने आपको परावृत्त करें। क्या ग्रहण करें तथा क्या छोड़ें, कर्म क्या है और अकर्म या विपरीत कर्म क्या है, इसका निर्णय करना ही विवेक के अंतर्गत आता है। परंतु विवेक के निकष क्या हों? यह कहा जाता है कि नित्य तथा अनित्य, सार तथा असार, सत्य तथा असत्य में भेद समझ कर नित्य, सार तथा सत्य को ग्रहण करना तथा अनित्य, असत्य, असार का त्याग करना– यही विवेक है। उससे ही श्रेष्ठ सुख प्राप्त हो सकता है। अतएव अपने जीवन में नित्य, सारभूत सत्य तथा तत्‌निमित्त सत्कर्म क्या है, इसका विचार करना लाभदायी होगा।

अपने यहाँ सहस्रों वर्षों से तत्त्वज्ञ तपस्वियों ने इस विवेक पर बल दिया है। 'नित्य' अर्थात् सत्य तथा सारभूत केवल ब्रह्म है, उसके अतिरिक्त

सब अनित्य तथा असार है, के सिद्धांत का प्रतिपादन किया है। ब्रह्म क्या है, इसका ऊहापोह करना यहाँ उचित नहीं है तथा वह करना मेरा अधिकार नहीं है। भिन्न-भिन्न पंथों तथा संप्रदायों में इस विषय में विभिन्न मत पाए जाते हैं। उनके विषय भी मेरे सामर्थ्य के बाहर हैं। परंतु यह जो ब्रह्म है, उसकी प्राप्ति या दूसरे शब्दों में उसकी अनुभूति प्राप्त होने के लिए जो बहुविध उपासनाएँ बतलाई गई हैं, उन सबमें योग्य कर्म द्वारा जीवन शुद्ध करने, मन तथा बुद्धि निर्मल करने का महत्त्व निरपवाद मान्य किया गया है। आगे भी लोकसंग्रहार्थ कर्म करते जाना उत्तम है, यह आदेश भी दिया गया है। इसलिए सब पंथों के तत्त्वदर्शी महापुरुष उपदेशादि द्वारा लोकसंग्रह अर्थात् समाज को स्वकर्म में प्रवृत्त कर, योग्य दिशा दिखाकर, समाज की सुस्थिति बनाए रखने के लिए तथा सत्य तत्त्व की प्राप्ति का लक्ष्य समाज के सभी व्यक्तियों के सामने नित्य प्रज्ज्वलित रखने के लिए निरलस प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। हम लोग इन श्रेष्ठ महापुरुषों के समान श्रेष्ठ नहीं हैं। इसलिए अपने व्यावहारिक जीवन में नित्यानित्य विवेक कर सत्कर्म निर्णय करने का प्रयत्न करना तथा वह कर्म जीवनशुद्धि के लिए कारणीभूत होगा, इस ओर ध्यान देना इतना ही हमारे बस का होने से, उसका ही विचार संक्षेप में करें।

मनुष्य जब जन्मग्रहण करता है, तब व्यावहारिक जीवन उसे प्राप्त होता है। वह अकेला आसमान से अकस्मात नहीं टपकता। वह तो माता-पिता के माध्यम से उनके परिवार में जन्म ग्रहण करता है। ये परिवार भी अकेले-अकेले नहीं होते, अनेक परिवार मिलकर एक समाज के नाते वे रहते हैं। समान परंपरा, समान आदर्श, समान धर्म, जिसमें उपासना-मार्ग की विविधता का समावेश होता है। इस प्रकार समान सांस्कृतिक जीवन से एकत्र गुँथा परिवार ही समाज कहलाता है। समाज अपनी इन सारी विशेषताओं के साथ जीवन बिताता है, विकास करता है। कभी-कभी थोड़ा-बहुत परिवर्तन भी होता है। परिवार तो आते हैं, जाते हैं और इसमें मनुष्य, याने व्यक्ति जन्म ग्रहण करता है। वह इस परंपरा का उपभोग लेता हुआ, यथाशक्ति उसका पोषण करता है। यदा-कदा विपरीत व्यवहार भी करता है तथा अंत में तिरोहित हो जाता है। परंतु समाज का जीवन-प्रवाह अखंड बहता रहता है। पतितपावनी गंगा के प्रवाह में असंख्य जल-बिंदु आकर मिलते हैं, असंख्य भाप बनकर उड़ जाते हैं, परंतु जिस प्रकार उसका प्रवाह अखंड बना रहता है, उसी प्रकार असंख्य व्यक्तियों का पैदा

होना और मर जाना शताब्दियों से चल रहा है, परंतु सदा सर्वकाल से समाज-जीवन अखंड चलता आ रहा है।

नित्य व अनित्य

विवेक से ज्ञात होता है कि समाज नित्य है, उसका जीवन प्रवाह भी नित्य है। अतएव समाज सत्य और सारभूत है तथा व्यक्ति अल्पजीवी, अर्थात् अनित्य तथा असार है। बुद्धिमान व्यक्ति की यह विशेषता होती है कि वह जो नित्य, सत्य तथा सार होता है, उसे ग्रहण कर उसकी उपासना करता है। उसके लिए कर्म करता है तथा उसके अतिरिक्त बातों का त्याग करता है। इससे हम भी अपने व्यक्तिजीवन में सत्कर्म क्या है, यह निश्चित कर सकते हैं। नित्य, सत्य, सारभूत समाज के लिए सेवा, उपासना तथा सत्कर्म हैं। किंतु अनित्य व्यक्ति का परिवार के लिए किया गया परिश्रम सच्चे अर्थ में सत्कर्म न होकर अनेक बार विपरीत कर्म भी सिद्ध हो सकता है, जो व्यक्ति या समाज दोनों की भी उपेक्षा कर अकर्म सिद्ध होगा। इस प्रकार कर्म-विषयक विवेक ही मनुष्य को स्वार्थरहित होकर समष्टि हितार्थ स्वतः को होम करने के लिए प्रवृत्त करता है तथा विवेक धारण करने वाले को सर्वत्र श्रेष्ठता दिलाता है।

समाजसेवा का स्वरूप

यह ठीक है कि निःस्वार्थ होकर समाजसेवा में जीवन व्यतीत करना श्रेष्ठ बात है, परंतु प्रश्न उपस्थित होता है कि सेवा किसकी करें। समाज के एक भी व्यक्ति की भलाई के लिए प्रयत्न करना थोड़ी-बहुत समाजसेवा है, परंतु वही कर्म करना सच्ची सेवा है, जिसके कारण समाज में संगठन होगा; सभी व्यक्ति एक ही समष्टि के अंगभूत हैं- यह ज्ञान होगा, समाजजीवन के परंपरा-प्राप्त आदर्शों तथा श्रद्धाओं का स्पष्ट तथा जागृत-ज्ञान व्यक्ति-व्यक्ति में दृढ़ होगा तथा जिससे समाज की सर्वश्रेष्ठ विशेषताओं का पोषण और संवर्धन होगा; जिससे व्यक्तियों के बीच विग्रह न होकर या विशिष्ट व्यक्ति समूह में परस्पर संघर्ष या विरोध न होकर परस्परानुकूलता, समन्वय, सहयोग निर्माण होगा; फलस्वरूप समाज केवल व्यक्ति-समूह न रहकर वास्तविक समाज रूप में सर्वव्यक्तियों की बनी एक विराट समष्टि देहरूप में जीवित रहेगा और विकास कर, सुख व वैभवपूर्ण जीवन का चिरंतन काल तक उपभोग कर सकेगा। इस प्रकार समाज की धारणा के लिए व्यक्तिजीवन समर्पित करने में ही श्रेष्ठ सिद्धि है।

संपूर्ण समर्पण

तरतमभाव से सारासार विचार कर नित्य की उपासना करना तथा अनित्य को त्याग मानना ही सुखकारी होता है। यही स्वाभाविक है। विशुद्ध भौतिक दृष्टि से विचार करने वाले को भी यह ज्ञात है कि सबसे श्रेष्ठ माना गया स्त्री-पुरुष-संबंधी सुख भी स्वतः के ब्रह्मचर्य तथा आयुरारोग्य के निधान वीर्य का त्याग किए बिना नहीं मिलता। तब चिरंतन सुख, शांति तथा संतोष अनित्य का त्याग किए बिना कैसे मिलेगा? व्यावहारिक जीवन में समाज को ही उपासना के विषय के नाते जो नित्य सत्य है, वही पारमार्थिक अर्थ में ब्रह्म आदि शब्दों से सूचित किया गया है। सत्य अमूर्त होने से उसका आकलन करने, अनुभूति करने तथा सेवा करने के लिए अलभ्य है। फिर भी अल्प शक्ति-बुद्धि के मानव के लिए सत्कर्म तथा सदुपासना से स्वार्थ पर विजय-प्राप्ति एवं व्यक्ति की सीमाएँ तोड़कर असीम होने का मार्ग खोल देता है। समाज रूप में प्रकट हुए इस बोध को दृढ़ता से धारण कर कर्म करने से जीवन सफल तथा सुखी होने में कोई न्यूनता नहीं रहेगी। प्रत्येक व्यक्ति अपने उपास्य का ही रूप होने के कारण, अत्यंत प्रेमपात्र होगा। प्रत्येक व्यक्ति के लिए किया समर्पणयुक्त कर्म परम आनंददायी सिद्ध होगा। सुख कहाँ छिपा है– यह अनुभव होगा, इसमें संदेह नहीं।

अतएव प्रत्येक व्यक्ति अपना समाज पहचानकर उसकी सेवा में उचित समाज-धारणा, प्रेमपूर्ण तादात्म्य निर्माण तथा श्रेष्ठत्व के संवर्धन का कर्म अपनी सदसद्विवेकबुद्धि से निश्चित कर, नित्य समष्टि जीवन के लिए अनित्य जीवन के संपूर्ण समर्पण का व्रत स्वीकार करें और उसे, निःस्वार्थता निरहंकारिता से अंतिम श्वास तक अखंड, अविराम करते रहने का दृढ़ संकल्प करें। यह संकल्प अविचल रहे, इसी में सारा सुख निहित है। इसी में मनुष्य जीवन की सार्थकता है तथा इसी में अपनी बुद्धि तथा श्रेष्ठता की कसौटी है।

७. एक पथ-प्रदर्शक घटना

(‘पुरुषार्थ’ मासिक, पारडी, गुजरात)

आत्मकथा वास्तव में ऐसी हो जो स्वयं को अपने पूर्वानुभव से आचरण करने के लिए उचित बोधप्रद होती हो। वह दूसरों को बतलाने की बात नहीं है। आत्मकथा के माध्यम से ऐसी घटना बतलाना, जो दूसरों के

लिए मार्गदर्शक हो, बहुत ही कठिन बात है, क्योंकि यह मानना कि अपने जीवन की घटना से दूसरों का मार्गदर्शन होगा, अनुचित तथा कभी-कभी स्वयं को भी विघातक होगा। फिर भी आप के अतिशय आग्रह के कारण मैं एक घटना बतलाने का प्रयास करता हूँ, जो मुझे पथ-प्रदर्शक हुई तथा जिसने मुझे समाज का ज्ञान कराया।

अलौकिक शौर्य

सन् १९४७ में इस तरह बीता कि वह सबको अनेक कारणों से स्मरणीय रहेगा। मातृभूमि का अत्यंत दुःखदायी विभाजन हुआ, जिससे अनेकानेक बंधुओं का अमानुषिक उत्पीड़न हुआ। उन्हें असंख्य यातनाएँ सहनी पड़ीं। अपने बंधुओं की रक्षा करना स्वाभाविक कर्तव्य मानते हैं, वे स्वयंस्फूर्ति से आगे बढ़कर उचित उत्तरदायित्व ग्रहण करते हैं, कर्तव्यपूर्ति के लिए प्राणों की भी परवाह नहीं करते। संघ के स्वयंसेवकों ने यही किया। अलौकिक शौर्य और बुद्धिमत्ता प्रकट कर अनेक परिवारों की रक्षा की। उन्हें इस ओर लाए। माताओं की रक्षा की। यह सब काम इस प्रकार किया कि सभी लोग उनके प्रति धन्योद्‌गार व्यक्त करेंगे। और हुआ भी वैसा।

इस सब दौड़-धूप के समय परिस्थिति का निरीक्षण कर स्वयंसेवकों को अधिक उत्साहित करने के लिए मैं अमृतसर में कुछ दिन तक रहा था। विस्थापितों के काफिलों के मैंने चक्कर लगाए, तब मुझसे ऐसे व्यक्ति आकर मिले, जो आज बड़े-बड़े पदों पर आसीन हैं। उन्होंने प्रत्यक्ष चरणों पर माथा टेका और कहा– 'आपका संघ न होता तो हमारी रक्षा नहीं हो पाती, हमारे बाल-बच्चे-स्त्रियाँ सुरक्षित न रहतीं।' सेना के अधिकारी मिले। वे भी स्वयंसेवकों तथा उनके अदम्य साहस का आदरपूर्वक उल्लेख करते और कहते– 'इन्हें तुमने क्या और कैसी शिक्षा दी? ये इतने साहसी और सूरमा कैसे बनें? जो बात हमारी सेना के जवान नहीं कर सके, वह पराक्रम ये लोग कैसे दिखा सके?' मैं उन लोगों से कहता– 'संघ मेरा नहीं, आपका है। स्वयंसेवकों ने केवल अपना कर्तव्य पालन किया है। उन्हें संघ के दैनिक कार्यक्रमों में से, कबड्डी-सदृश खेलों में से समाज के संबंध में प्रेम, एकात्मता की जो शिक्षा मिलती है, उससे वे समाज की रक्षा के लिए चाहे जो साहस कर सके।'

इस प्रकार संघ की चारों ओर प्रशंसा हो रही थी। संघकार्य तेजी से बढ़ने लगा था। सभी स्वयंसेवक उत्साह से परिश्रम कर रहे थे। मैं भी

सबको उत्साह और प्रात्सोहन देकर बतलाता रहा– 'हमें कार्य करना है। प्रशंसा हो रही है, इसलिए फूले न समाओ। प्रशंसा हो या निंदा, कार्यकर्ताओं का कर्तव्य एक ही है– कार्य करते रहना।' अनेक कार्यकर्ताओं ने मुझसे पूछा कि जब सर्वत्र उत्साह और कार्य बढ़ रहा है, तब मैं ऐसा क्यों कहता हूँ। मैं भी उसका कोई निश्चयपूर्वक उत्तर न दे सका। परंतु बोलते समय विषय-प्रतिपादन ऐसा ही होता कि वे भी अपने हैं, अपना आदर्श 'वयं पंचाधिंक शतम्' है इत्यादि। संभवतः अज्ञात शक्ति मेरे मुख से भविष्यकथन करवा रही हो।

इस प्रकार के विचार व्यक्त करते हुए एक पखवाड़ा बीता ही था कि महात्मा गाँधी जी की हत्या हो गई और अचानक संघ की दृष्टि से परिस्थिति पलट गई। अपने अगले सारे कार्यक्रम स्थगित कर मैं नागपुर पहुँचा। वातावरण क्षुब्ध था। तब विश्वास हुआ कि ईश्वर ने ही मुझे वह सब कहने की प्रेरणा दी थी। उसे ज्ञात रहा होगा कि आगे कहने के लिए समय नहीं मिलेगा।

लोगों को संघ की सच्ची शक्ति, सच्चा दम-खंम तब दिखा। संघकार्य स्थगित है, लोग अपमान कर रहे हैं, झूठा प्रचार कर रहे हैं, मकान जला रहे हैं, परंतु शक्ति होते हुए भी संघ का आदेश है कि आक्रामक अपने ही हैं, उनसे क्या लड़ना? इसलिए किसी ने भी प्रतिकार नहीं किया। संघ के स्वयंसेवकों ने उस परिस्थिति में ऐसा व्यवहार नहीं किया होता, तब? यह विचार आते ही जो विचारवान हैं, उनका हृदय काँप उठता है। परंतु दुर्भाग्य से उस समय बड़े-बड़े नेता भी विचारशून्य हो गए थे। इसलिए संघ के विरुद्ध अपप्रचार का जोर था।

अथक प्रयत्नों से प्रतिबंध हटा

जब मैं पहली बार कारागार से मुक्त हुआ, तब संघ पर से प्रतिबंध हटवाने के संबंध में बातें करने के लिए दिल्ली गया था। अनेक लोगों से प्रार्थना की कि वे इस प्रश्न पर शांतिपूर्वक विचार करें। परंतु सत्ताभिलाषा न विचार करने देती है, न ही न्याय-अन्याय देखने देती है। इसलिए मेरा प्रयास असफल रहा और मुझे फिर से जेल में बंद कर दिया गया।

मैंने स्वयंसेवकों को पूर्ववत कार्य करने का आदेश दिया। कोई उसे 'सत्याग्रह' कहते हैं। मैंने स्वयंसेवक बंधुओं को केवल इतना ही कहा कि अपने समाज को संगठित करने का कार्य है, इसलिए वह अधिक काल तक

स्थगित नहीं रहना चाहिए, उसे फिर से चालू करो। उसके अनुसार स्थान-स्थान पर शाखाएँ प्रारंभ हुईं। तब स्वयंसेवकों को गिरफ्तार किया जाने लगा। जिस सत्ताधारी दल को यह वृथा अभिमान था कि वही अहिंसा-तत्त्व का पालन कर सकता है, उसे तथा संपूर्ण समाज को एक अभूतपूर्व दृश्य देखने को मिला। अनुशासनबद्ध, शांत, दृढ़निश्चयी स्वयंसेवक किसी तरह ढिंढोरा न पीटते हुए, उत्तेजित न होते हुए, सहजता से जैसे रोज शाखा पर जाते हैं, वैसे ही जेल जा रहे थे। आबाल-वृद्धों ने उसमें भाग लिया और अनेक सम्मिलित होने के लिए सिद्ध हुए।

श्री ग.वि.केतकर, श्री व्यंकटराम शास्त्री, श्री बाबासाहब खापर्डे आदि ने समझौता कराने की दृष्टि से प्रयास किया। वार्तालाप हुआ तथा अंत में एक दिन पूर्व जब यह वार्ता प्रसारित हुई कि प्रतिबंध हटाना असंभव है, उसके दूसरे ही दिन संघ पर से प्रतिबंध हटा। संघ सभी अग्नि-परीक्षाओं में से शुद्ध सुवर्ण के समान तपकर खरा उतरा। स्वयंसेवकों को तो अपरिमित आनंद हुआ ही, सहस्रावधि-लक्षावधि संघ प्रेमियों को भी हर्ष हुआ। उसके उपलक्ष्य में संघ के प्रमुख के नाते मेरा अनेक स्थानों पर स्वागत हुआ। ऐसा लगा कि संघ कसौटी पर पूर्णतः खरा उतरा। जितनी परीक्षाएँ देनी थीं, वे सब दे चुका। परंतु वह सही नहीं था। अभी भी समाज पूर्ण रूप से प्रशस्ति-पत्र देने को तैयार नहीं था। उसे अब भी स्वयंसेवकों की सहनशीलता, संयम आदि गुणों की परीक्षा लेनी थी।

संयम व सहनशक्ति की परीक्षा

नवंबर १९४९ के प्रथम सप्ताह में मैं रात्रि को बेलगाँव से मिरज पहुँचा। स्टेशन पर उतरा तो 'चले जाओ' के नारों और पत्थरों की वर्षा से स्वागत हुआ। स्वयंसेवकों ने ऐसा स्वागत करनेवाले समूह को एक ओर रोक रखा था। पुलिस किंकर्तव्यविमूढ होकर खड़ी रही। रात्रि का समय और ऐसा विरोधी वायुमंडल, फिर भी अनगिनत बंधु फूल लेकर और माताएँ आरती लेकर स्वागतार्थ आई थीं। उनसे उसी वातावरण में वार्तालाप कर सांगली गया। रात्रि का समय होने से सांगली शांत था। पौ फटते-फटते कोल्हापुर पहुँचा। स्टेशन के प्लेटफॉर्म से ही पत्थरों की वर्षा, लाठियों की बौछार, 'वापस जाओ' की घोषणाओं तथा काले झंडों से स्वागत हुआ। किसी तरह उसके बीच में से मार्ग-क्रमण करता हुआ मैं निवास-स्थान पर पहुँचा। पुलिस द्वारा निर्जन किए गए मार्ग से अंबादेवी

का दर्शन करने गया। 'प्रभाकर चित्र स्टूडियो' में श्री बाबासाहब पेंढारकर की छत्रछाया में स्वयंसेवक बंधुओं से वार्तालाप किया, जिसका विषय था – अपना कार्य। अपना निश्चय समाज को संगठित करने का है। इन्हीं बंधुओं को अपना बनाना है, क्योंकि वे अपने समाज के अंग हैं। विरोधी भाषा या मन में विरोधी भाव रखकर कार्य नहीं होगा। वे अपने ही हैं, इसलिए अपना व्यवहार प्रेमपूर्ण ही हो, आदि। वहाँ से बख्तरबंद मोटर से सांगली की ओर जानेवाले रास्ते पर आया और मोटर बदलकर सांगली की ओर प्रस्थान किया। मार्ग की अनेक भीषण आपत्तियों को बगल देते हुए सांगली पहुँचा। वहाँ भी मिरज-कोल्हापुर की पुनरावृत्ति हुई।

इस परीक्षा में भी स्वयंसेवक उत्तम रीति से उत्तीर्ण हुए। इन सभी घटनाओं का कार्य पर स्वाभाविक रूप से जो परिणाम अपेक्षित था, वह हुआ। परंतु स्वयंसेवकों की कार्यनिष्ठा, परिश्रमपूर्वक अखंड कार्य करने की तत्परता और सारे समाज के साथ आत्मीयता के व्यवहार के कारण फिर से सारे समाज में संघकार्य के प्रति आदर, प्रेम, आत्मीयता निर्माण होने लगी। भ्रम के बादल छँटे और समाज कहने लगा– संघ अच्छा है।

समाज अपना है

अपना कहकर जिसे आग्रहपूर्वक आलिंगन देते हैं और जिसकी हमें सेवा करनी है, वह समाज अपना है। वह फूलों की वर्षा करे या जूतों की मालाएँ पहनाए, उसी प्रकार वह प्रशंसा करे, निंदा करे, गालियाँ दे या चाहे जो करे, वह अपना ही है। समाज उन्हीं का होता है, जो सच्ची आस्था रखकर, निःस्वार्थ सेवा से समाज को अपना बनाने का प्रयत्न करते हैं। परीक्षा लेने के लिए समाज अनेक बार भला-बुरा व्यवहार करता है, परंतु वह परीक्षा है। वास्तव में हृदय से वह अपना ही है। अपने साथ वह आएगा, इतना ही नहीं, अपनी अलौकिक निष्ठा के कारण अनुयायी बनकर पीछे आएगा। समाज परमेश्वर का स्वरूप है तथा परमेश्वर ने आश्वासन दे रखा है– 'मैं भक्तों का दास हूँ'। हमें सच्चा भक्त बनने की आवश्यकता है।

इसी दृष्टि से संपूर्ण विश्व की सभी बातें उस जगन्नियंता की योजनानुसार होती हैं। वह अनेकों को साधन के रूप में उपयोग कर, उनसे काम करवा लेता है। अतः उसने हमें जो कर्तव्य सौंपा है, वह चाहे जिस परिस्थिति में रहना पड़े, उसमें आनंदित रहते हुए, अपनी संपूर्ण शक्ति-बुद्धि

से कर्तव्यपूर्ति ही उसकी सेवा है, यह भाव रखकर पूर्ण करने का तथा मार्ग में जो विपदाएँ आती हैं, उन्हें यह मानकर कि ये धैर्य की परीक्षा लेने के लिए हैं, भगवान का कृपा-प्रसाद ही हैं, कर्तव्यमार्ग पर चलते रहना चाहिए। यही बोध इन प्रसंगों में से ग्रहण कर 'त्वदीयाय कार्याय बद्धा कटीयम्' स्मरण करता हुआ मैं आगे बढ़ रहा हूँ।

८. स्वातंत्र्य और गोरक्षा

(२० अगस्त १९५६ को वृत्त-पत्रों को प्रकाशनार्थ भेजा गया लेख)

१५ अगस्त १९५६ को अंग्रेजों द्वारा एतद्देशीय नेताओं को शासन-भार सौंपे हुए पूरे ९ साल बीत चुके हैं। प्रतिवर्ष इस दिन को लेकर स्वतंत्रता के नाम से उत्सव मनाने का प्रबंध शासन द्वारा होता है। सर्वसाधारण समाज की भिन्न-भिन्न संस्थाओं में भी इस दिन के कारण उत्साह-निर्माण हो व वे भी उत्सव मनाएँ, ऐसी नेताओं की इच्छा रहती है। अनेक प्रकार के प्रचार तथा प्रयत्नों के होते हुए भी प्रतीत होता है कि प्रतिवर्ष उत्साह में न्यूनता उत्पन्न हो रही है। समाज की संस्थाओं में ही नहीं, अपितु शासन द्वारा संचालित उत्सव के कार्यक्रमों में रूढ़िबद्ध कृत्रिमता तथा चैतन्यशून्यता बढ़ती हुई दिखाई देती है। यह क्यों हो रहा है, इसका गंभीरता से विचार करना आवश्यक है। जिसे राष्ट्रीय पर्व के नाम से पुकारा जाता है, उसमें उत्साह का अभाव महान राष्ट्रीय संकट का परिचायक है।

राष्ट्रीय पर्व के प्रति उदासीनता

इसका एक ही कारण हो सकता है कि जिसे 'स्वतंत्रता' कहते हैं, उसकी अनुभूति समाज को हुई ही नहीं। 'स्वतंत्रता समारोह'– इन शब्दों से उसे कुछ अर्थ का बोध होता नहीं, भावनाएँ उत्तेजित होती नहीं। यह अनुभूति न होने का कारण खोजना आवश्यक है।

राजनैतिक दृष्टि से कुछ कारण हैं। किंतु मैं उन बातों का यहाँ उल्लेख नहीं करता। सर्वसाधारण मनुष्य यही सोचता था कि अंग्रेज के राज्य के कारण जिन आघातों को उसे सहना पड़ा, वे आघात– चाहे वे राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक या सांस्कृतिक हों– स्वतंत्रता-प्राप्ति

पर दूर हो जाएँगे। इन आघातों से, उनके लव-मात्र चिह्नों से, अवशेषों से मुक्त होकर स्वकीय जीवन आदर्शों के अनुकूल, बिना किसी रुकावट के अपना उत्कर्ष कर सकने की क्षमता प्राप्त होने को ही 'स्वतंत्रता' कहते हैं। सर्वसाधारण मनुष्य भले ही ऐसी व्याख्या न कर सकता हो, पर उसकी यही भावना तथा धारणा है।

इन भावनाओं को समझकर यदि हम गौ के प्रश्न की ओर देखेंगे, तो यही कहना पड़ेगा कि अंग्रेजी राज्य की तुलना में आज तक कुछ सुधार नहीं हुआ। अंग्रेज तथा उनके पूर्व के मुसलमान शासकों ने जनता की भावना तथा श्रद्धाओं को जानबूझ कर ठेस पहुँचाने हेतु जिस प्रकार गोवध चलाया, उससे कहीं अधिक मात्रा में आज हो रहा है, ऐसा समाचार है। जनता ने अपनी भावना का आविष्कार किया है। फलस्वरूप कितने ही प्रांतों ने गोहत्या-निषेध कानून बनाए हैं, किंतु उनपर अमल होने में विलंब ही है। मुख्य तो, केंद्रीय शासन है। उसका रुख तो विरोध का ही है। प्रधानमंत्री महोदय तो विशेष रूप से विरोधी हैं, ऐसा लोग समझते हैं। जनता की खान-पान की रुचि में परिवर्तन कर सबको मांसाहारी, गोमांसाहारी बनाने में उनकी सम्मति होने की बात फैली हुई है। जनसाधारण उनके प्रति आदर तथा श्रद्धा का व्यवहार करता है, किंतु उसमें अपनत्व तथा आत्मीयता कहाँ तक है, कहना कठिन है। अंग्रेजों का राज्य नया-नया प्रस्थापित होने पर अंग्रेज अधिकारी, विशेषकर वायसराय को परम परमेश्वर समझ कर, जैसी श्रद्धा तथा आदर प्रकट होता था, क्या आज के शासन की नवीनता के कारण, उसी प्रकार की श्रद्धा एवम् आदर तो प्रकट नहीं हो रहा। इसका विचार विचारवान लोगों को करना आवश्यक है। दिन-प्रतिदिन यह श्रद्धा कम होती चली जा रही है, ऐसा लगता है। इसका कारण जनता के शुद्ध स्वतंत्र जीवन के आदर्शों की अवहेलना ही हो सकता है।

अतएव पूर्णरूपेण स्वतंत्रता की अनुभूति होकर, राष्ट्रीय पुनर्निर्माण की प्रेरणा तथा प्राचीनकाल से चलती आ रही श्रद्धाओं की पुनर्स्थापना करना आवश्यक है।

श्रद्धा का प्रतीक

गौ एक असाधारण पवित्र भावना का विषय रहा है। छत्रपति श्री शिवाजी ने गौ-ब्राह्मण प्रतिपालक की उपाधि लेकर गौ-विषयक उत्कट श्रद्धा को प्रकट किया था। उसी श्रद्धा के आधार पर जनता का सहकार्य

पाकर औरंगजेब की देशव्यापी सत्ता को चुनौती देकर स्वराज्य स्थापना के कार्य में वे सफल हो सके थे। अंग्रेजों के विरुद्ध सन् १८५७ का क्रांति-युद्ध तो गौ की श्रद्धा पर ठेस पहुँचने का निमित्त बनकर खड़ा हुआ था। समय-समय पर यही श्रद्धा भिन्न-भिन्न रूप धारण कर उग्रता से प्रकट होती रही है। गौ के हेतु प्राणार्पण करनेवालों की कमी नहीं रही। इतिहास की इन सब घटनाओं से यह सिद्ध होता है कि, गोहत्या-निषेध एवं गोवंश-संवर्धन की उपेक्षा होती रही। आज यद्यपि जनता में इस प्रश्न को लेकर कुछ उदासीनता दिखाई देती हो, पर कुछ समय बाद यह श्रद्धा प्रस्फुट होकर खड़ी होगी। वह प्रस्फोट आज तो शांतिपूर्ण तथा वैधानिक रूप से प्रकट हो रहा है, किंतु आज जैसे विरोध का शासकीय रुख रहा, तो वह प्रस्फोट अधिक उग्र नहीं होगा, ऐसा विश्वास दिलाना कठिन है।

इतिहास से पाठ ग्रहण कर शासन को अपनी नीति बदल कर, जनता की भावना का समुचित आदर करना नितांत आवश्यक है। राष्ट्रीय परंपराओं के पुनरुद्धारण के बिना प्राप्त राजनैतिक स्वाधीनता, स्वतंत्रता का उपहास विडंबना मात्र है। इस तथ्य को ध्यान में रखकर आज के नेतागण सन्मार्ग का अवलंबन करेंगे, ऐसी आशा करें।

९. हमारे देश की स्थिति

(‘पांचजन्य’, दीपावली विशेषांक, १९५६)

देश में अनेक प्रकार की योजनाएँ बनाई जा रही हैं। करोड़ों रुपये व्यय करके बड़े-बड़े कारखाने और बाँध-निर्माण करने का प्रयास किया जा रहा है। इन समस्त योजनाओं को इस विचार-भूमिका के आधार पर कार्यान्वित किया जा रहा है कि जीवन-स्तर उन्नत करने का एकमात्र साधन उपभोक्ता-सामग्री का भारी मात्रा में उत्पादन करना है। करों में हर प्रकार की वृद्धि करके देशवासियों से धन एकत्र किया जा रहा है। कैसा तमाशा है कि एक ओर तो जन-सामान्य की आय बढ़ाने का प्रयास किया जा रहा है और दूसरी ओर अनाप-शनाप मात्रा में कर बढ़ाया जा रहा है। इस प्रकार करवृद्धि किए जाने के पश्चात् भी पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त न होने पर समस्त नियमों का उल्लंघन कर, सरकार द्वारा निजी उद्योगों पर बलात् अधिकार करके धन एकत्र करने का प्रयास किया जा रहा है। धन की इतनी मात्रा भी पर्याप्त सिद्ध न होने पर विदेशों से ऋण प्राप्त करने के

यत्न चल रहे हैं। विदेशी उद्योगपतियों तथा विशेषज्ञों को कारखाने खोलने की अनुमति प्रदान कर औद्योगिक प्रगति का दिखावा किया जा रहा है। इस संबंध में अधिकृत मत तो अर्थशास्त्री ही व्यक्त कर सकते हैं कि इन योजनाओं से राष्ट्र का कहाँ तक कल्याण होगा। प्रस्तुत लेख में हम केवल एक ऐसी बात के संबंध में विचार करेंगे, जो अत्यंत महत्त्वपूर्ण होते हुए भी उपेक्षणीय बनी हुई है।

भ्रष्टाचार के दुष्परिणाम

जिन योजनाओं पर अपरिमित धन व्यय किया जा रहा है, उनके संबंध में समय-समय पर विशेषज्ञों द्वारा मत व्यक्त किए जाते रहे हैं। इन मतों से यह स्पष्ट हो चुका है कि व्यय किए गए धन के द्वारा कहीं अधिक निर्माण-कार्य किया जा सकता था। अपव्यय की कोई सीमा नहीं है। पुरानी मशीनों को बड़े-चढ़े मूल्यों पर खरीदे जाने, लापरवाही तथा टालमटोल की वृत्ति के कारण अपरिमित हानि हुई है, किंतु इससे भी गंभीर तथा दुःखद बात पर प्रकाश लेखा-निरीक्षक के प्रतिवेदन से पड़ता है कि योजना करनेवाले लोगों द्वारा ही धन का अपहरण किया जा रहा है। धन के अपहरण के लिए निम्न श्रेणी के कर्मचारी ही उत्तरदायी नहीं हैं, बड़े-बड़े अधिकारियों पर भी गोल-माल के आरोप हैं। अतः इस रोग का निदान आवश्यक है।

धन के प्रत्यक्ष संपर्क में आने के कारण ही ये घटनाएँ घटित होती हैं, ऐसी बात नहीं है। प्रशासकीय क्षेत्रों में नित्य प्रति अनैतिकता के भयंकर उदाहरण देखने को मिलते हैं। जिनके कारण गंभीर चिंता उत्पन्न होना अत्यंत स्वाभाविक है। संसद में प्रस्तुत होने के पूर्व बजट की प्रतियों का बाजार में खुले रूप से बिकना, नवीन आयात-नियमों की घोषणा होने से पूर्व तत्संबंधित लोगों को उनका ज्ञान होना, उस विदेश विभाग की महत्त्वपूर्ण फाइलें गायब होना, जिसकी बागडोर वर्तमान शासन की सर्वश्रेष्ठता का ढोल पीटनेवाले तथा अंतर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त हमारे प्रधानमंत्री स्वयं अपने हाथों में सँभाले हुए हैं। यह प्रकट करता है कि दीये तले अंधेरा है। राजधानी में बम-विस्फोट होना और उनका पता न लग सकना, ऐसी घटनाएँ हैं, जिनके संबंध में भारी चिंता होना अत्यंत स्वाभाविक है। कहा जाता है कि इनमें से कुछ घटनाओं के पीछे विदेशियों का हाथ है।

ये विदेशी कौन हैं? किस-किस की जेब गरमकर और सहयोग

प्राप्तकर, ये कुटिल उद्योग चलाए जा रहे हैं, इन प्रश्नों का उत्तर अभी तक नहीं दिया जा सका है। क्या सरकार को अभी तक इन रहस्यों का पता नहीं लग पाया है? क्या पता लगानेवाले अपात्र हैं अथवा उनकी भी जेबें भर दी गई हैं? बड़े-बड़े लोग भी राष्ट्रद्रोही कार्य करने के लिए तैयार हो जाते हैं, इसका कारण ढूँढ निकालने की आवश्यकता है।

सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर इसका कारण ढूँढ निकालना कठिन नहीं है। समस्त समाज का ही नैतिक स्तर गिर गया है। यदि ऐसा भी कहा गया कि ग्रामीण और अशिक्षितों की अपेक्षा नवशिक्षित वर्ग ने ही इस संबंध में अधिक बाजी मार ली है, तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। विविध विश्वविद्यालयों के अनुभवी कुलपतियों ने आकाशवाणी से इस संबंध में विचार व्यक्त किए हैं। जिन्होंने उक्त विचारों को सुना होगा या समाचार-पत्रों में पढ़ा होगा, उन्हें इस कथन की सहज ही सार्थकता प्रतीत होगी।

यह सब क्यों होता है? नैतिक दृष्टि से श्रेष्ठ जीवन के लिए प्रसिद्ध भारत के वासी आज इतनी निकृष्ट स्थिति में कैसे और क्यों पहुँच गए हैं? प्राचीनकाल में समाज के सभी अंगों में आदर्श तथा नीतियुक्त जीवन का दर्शन होता था। स्खलन अपवाद था। आज यह भले ही कहा जाता हो कि उन्नतिशील समाजों के समान प्रगति और उन्नति ही नहीं की है, अपितु उनके बीच आदर का स्थान भी प्राप्त किया है। परंतु इसकी सहस्रों घटनाएँ रोज देखने को मिलती हैं कि हमारी प्रामाणिकता, सच्चाई, कर्तव्यपरायणता आदि गुण लुप्तप्राय हो गए हैं। इतना ही नहीं, ऐसा प्रतीत होता है, मानो अप्रामाणिकता हमारे जीवन का अभिन्न अंग ही बन गई हो। शुद्ध-चरित्रवाले व्यक्ति अपवाद स्वरूप ही दिखाई पड़ते हैं। ऐसा क्यों?

जीवन-लक्ष्य की विस्मृति

इन प्रश्नों का उत्तर प्राप्त करना अत्यंत सरल है। प्राचीनकाल में व्यक्ति देशभक्ति, समाजसेवा, मानवसेवा की घोषणाएँ नहीं करता था। इसका कारण था कि उसके समक्ष जीवन का एक निश्चित लक्ष्य तथा उदात्त ध्येय था। धार्मिक वृत्ति तथा ईश्वरोन्मुख बुद्धि उसके स्वभाव के स्वाभाविक अंग थे। आत्मज्ञान होने के कारण अथवा गुरुजनों या शास्त्र-वचनों पर श्रद्धा होने के कारण व्यक्ति की स्पष्ट या अस्पष्ट धारणा थी कि मानव-जीवन का लक्ष्य ईश्वराराधना करते हुए परम-सुख की चिरंतन अवस्था प्राप्त कर लेना है। वह समझता था कि उक्त लक्ष्य की प्राप्ति के

लिए सदाचार अनिवार्य है, जीवन को यम-नियमों से नियंत्रित करने की अत्यंत आवश्यकता है। हृदय में उद्देश्य-सिद्धि की आकांक्षा होने के कारण व्यक्ति इन यम-नियमों के बंधनों को स्व-प्रेरणा से आनंदपूर्वक स्वीकार करता था। मानवीय समाज से उठकर दैवी समाज-निर्माण के लिए भी वह इन नियमों का पालन करना आवश्यक समझता था। इस धारणा का स्वाभाविक परिणाम था– नैतिक तथा चरित्र-शुद्ध जीवन, धार्मिक श्रद्धा के अनुकूल आचरण और ईश्वरोन्मुख बुद्धि से उपासना। इसी आधार पर निःस्वार्थ, कर्तव्यपरायण तथा चरित्रसंपन्न जीवन का विकास होता है। चिरंतन ईश्वरप्राप्ति अथवा परम-सुख-प्राप्ति (दोनों समानार्थक हैं) जीवन का लक्ष्य रहने पर, उन सभी श्रेष्ठ गुणों का आविर्भाव सहज रीति से होता है, जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है।

पुरातनकाल में यही लक्ष्य सर्वसामान्य व्यक्ति का प्रेरणा केंद्र था। जैसे-जैसे यह प्रेरक शक्ति क्षीण होती गई, वैसे-वैसे व्यक्ति भौतिक सुखोपभोग की ओर आकर्षित होता गया। परिणामतः स्वार्थ का अधिकाधिक जागरण होता गया, स्वकर्तव्य तथा त्याग की भावना के अभाव में समाज में विशृंखलता निर्माण होती गई, राष्ट्र को स्वतंत्र रखने की क्षमता का ह्रास हुआ, परकीय आक्रमणकारियों को यश प्राप्त हुआ और देश को दासता के दुर्दिन देखने पड़े। इससे सिद्ध होता है कि सच्चरित्र के लिए धर्माधिष्ठित, सहज कर्मरत, ईश्वरार्पित जीवन की नितांत आवश्यकता रहती है।

हिंदूराष्ट्र की पुनःप्रतिष्ठा

अब सब कुछ बदल गया है। जीवन में धर्म, ईश्वर, निश्चित समाज-रचना तथा तद्भूत सहज-धर्म को स्थान प्राप्त नहीं है। सहस्रों वर्षों तक जिन श्रद्धाओं की साधना के कारण शीलसंपन्न जीवन का विकास हुआ, आज उन्हें भंग कर दिया गया है। भारत की लगभग दो हजार मील विस्तृत उत्तरी सीमा पर रूस और चीन, जिन्हें व्यावहारिक दृष्टि से एक ही शासन का अंगभूत कहा जा सकता है, प्रचंड युद्धसामर्थ्य से युक्त तथा साम्राज्य-विस्तार की भावना से उत्प्रेरित होकर अनुकूल अवसर की बाट जोह रहे हैं। इसका भय आज के शासकों को भी है और इस भय से उनकी विदेश नीति भी प्रभावित है। इसी प्रकार पूर्व और पश्चिम में स्थित पाकिस्तान की शत्रुता का भय, पाश्चात्य देशों के अनिश्चित तथा कभी-कभी विरोध में प्रकट होनेवाले रुख के कारण भयग्रस्त सरकार, देश में रहनेवाले

मुसलमानों और ईसाईयों के तुष्टिकरण की नीति अपनाए हुए है।

आर्थिक तथा औद्योगिक उन्नति पर अत्यधिक बल देने के कारण, संस्कृति के नाम पर सरकार केवल मनोरंजनात्मक कलाओं को प्रोत्साहन देकर भौतिक सुखोपभोग का प्रचार करती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पवित्रतापूर्वक समाजोन्नति और भावनोत्कर्ष कर दैवी-जीवन निर्माण करनेवाली ईश्वरादि के प्रति विद्यमान सद्श्रद्धाओं को समाप्त किया जा रहा है, किंतु उनके कारण रिक्त मनोभूमि में अन्य किसी उत्कट श्रद्धा को पुनर्स्थापित नहीं किया जा रहा। यह माना जा सकता है कि महात्मा गाँधी तथा पं. जवाहरलाल नेहरू को देवत्व प्रदान करने के उद्देश्य से पूजा का विषय बनाने का प्रयास चल रहा है, परंतु व्यक्ति चिरंतन नहीं है और इस कारण व्यक्तिनिष्ठा के कारण सुसूत्रता कभी नहीं आ सकती। जब तक श्रद्धा का आधार चिरंतन तथा सुसूत्र नहीं होता और उसमें भी वह सर्व प्रकार की कसौटियों पर खरा नहीं उतरता, विशुद्ध जीवन-निर्माण करने की शक्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। प्रत्येक समाज का प्राचीन इतिहास रहता है, उसका ठीक प्रकार से पर्यावलोकन करके उचित आदर्श के प्रति श्रद्धा का आवाहन करने से ही प्रत्येक व्यक्ति पर शुद्ध संस्कार डालना संभव हो सकता है। इस तथ्य की जाने-अनजाने में उपेक्षा किए जाने के कारण आज की पीढ़ी श्रद्धाहीन और ध्येयशून्य हो गई है। आज इस बात का ज्ञान नहीं रहा कि किसलिए शुद्ध जीवनयापन किया जाए, क्यों संयम और सदाचार के नियमों का भार कंधे पर लादा जाए। खाना, पीना, पहनना और मौज उड़ाना, नीति-अनीति का विभेद, असत्य और व्यर्थ भौतिक सुखोपभोग ही सब कुछ, उपभोग-प्राप्ति का मार्ग ही सर्वश्रेष्ठ, फिर चाहे वह हेय हो अथवा श्रेष्ठ, सुगम सफलता के आधार पर ही किसी मार्ग की श्रेष्ठता अवलंबित है, ऐसी प्रवृत्तियों का बाजार गरम है। कहाँ का राष्ट्र, कहाँ का समाज, कैसी देशभक्ति और कैसी समाजसेवा, सब व्यर्थ है। यदि कुछ सत्य माना जाता है, तो वह है स्वार्थ और अच्छे-बुरे सब मार्गों से उसे पूर्ण करना जीवन का ध्येय बस!

वर्तमानकाल में इस प्रकार की स्थिति होने के कारण ही प्रारंभ में उल्लिखित चिंताजनक हीन दृश्य उपस्थित हो रहे हैं और जब तक इस मार्ग का अवलंबन किया जाता रहेगा, तब तक ये दृश्य उपस्थित होते ही रहेंगे।

उपाय स्पष्ट हैं– भारत की, अर्थात् हिंदूराष्ट्र की पवित्र, धार्मिक

और आध्यात्मिक परंपरा का पुनरुत्थान, ऐतिहासिक श्रद्धाओं की पुनर्प्रतिष्ठा। अन्य कोई उपाय नहीं है। राष्ट्र के समस्त वासियों को इस प्रश्न पर गंभीरता से विचार करना चाहिए और समाजोत्थान के कार्य में स्वजीवन लगाना चाहिए।

१०. राष्ट्र की सच्ची उन्नति

(मासिक 'युगवाणी', नागपुर, अप्रैल १९५७)

श्री भैयाजी कोलते जब मुझसे मिले, तब उन्होंने बताया कि विदर्भ साहित्य संघ द्वारा 'युगवाणी' का 'संस्कृति विशेषांक' प्रकाशित होने जा रहा है तथा उसके संपादन का भार उनपर सौंपा गया है। उन्होंने मुझे विशेषांक के विषयों तथा लेखकों की प्रस्तावित सर्वसाधारण सूची भी बताई। लेखकों को दृष्टिकोण-संबंधी स्वतंत्रता होने से प्रत्येक को विभिन्न पहलुओं पर अपने विचार स्वतंत्रतापूर्वक निस्संकोच प्रतिपादित करना सुविधाजनक होता है। इस प्रकार खुले हृदय से किया गया विचारमंथन प्रगति के लिए उपयोगी होता है।

यह समझना भूल होगी कि केवल कुछ भौतिक सुख-सुविधाएँ प्राप्त कराने से ही राष्ट्र की सच्ची प्रगति होगी। प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशेषता होती है। वह होनी भी चाहिए। उन विशेषताओं का पोषण और संवर्धन कर मानव-जाति के बहुमुखी विकास में अपना हाथ बँटाना आवश्यक कर्तव्य हो जाता है। आध्यात्मिकता अपने राष्ट्र की विशेषता है। व्यक्ति द्वारा उस आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति करना, उसके लिए उसे दैनिक जीवन की चिंताओं से मुक्त रखने के लिए, जीवन-निर्वाह को जन्मतः आश्वासन देने के उद्देश्य से निर्माण हुई वर्णाश्रम-धर्मयुक्त समाज-रचना, उस रचना की सुरक्षितता के लिए राज्य-व्यवस्था, इन सभी पहलुओं में वह विशेषता प्रकट होती है। यद्यपि आध्यात्मिक लक्ष्य के स्वरूप के बारे में कम-अधिक मात्रा में भिन्नत्व दिखाई देता है, तथापि सामान्य रूप से सब में चारित्र्य, मन की एकाग्रता, सदाचार, सद्गुणोपासना, अनेक जन्मों से दृढ़ उपासना करते हुए सिद्धि प्राप्ति के विश्वास तथा अनुभव से सिद्ध हुआ पुनर्जन्म का सिद्धांत आदि महत्त्वपूर्ण बातों में मतैक्य दिखाई देता है। इसीलिए पूर्वकाल में अनेक संप्रदायों का उदय होते हुए भी समाज-स्थैर्य के लिए निर्माण हुई मूल रचना पर आघात पहुँचाने की विकृति को किसी ने

भी स्वीकार नहीं किया। अपवादस्वरूप कुछ लोगों द्वारा समाज-रचना को बदलने का प्रयत्न किया हुआ दिखाई देता है, परंतु उसके दुष्परिणाम राष्ट्र को भोगने पड़े, यह इतिहास के प्रमाण से स्पष्ट होता है। अतएव राष्ट्र का सच्चा उत्थान उसके विशेषतापूर्ण जीवन की रक्षा तथा संवर्धन में निहित है। इसके लिए उन विशेषताओं के सांगोपांग ऊहापोह के पश्चात् उसका स्पष्ट ज्ञान कर लेना तथा उसके विषय में स्वाभिमान रखकर, उसके संरक्षण तथा संवर्धन के लिए अपने जीवन को शिक्षा देना, प्रत्येक राष्ट्रहितैषी व्यक्ति का आद्य कर्तव्य हो जाता है।

उक्त कर्तव्य की पूर्ति कर सकने के पात्र बनने के लिए अपनी संस्कृति का सांगोपांग अध्ययन अनिवार्य है। 'युगवाणी' द्वारा यह अंक प्रकाशित कर, इस आवश्यकता को पूर्ण करने का अंशतः प्रयत्न करने के लिए उसका तथा उस अंक के संयोजक श्री भैयाजी कोलते का मैं हृदय से अभिनंदन करता हूँ। इस अंक से प्रेरणा ग्रहण कर अपने सांस्कृतिक जीवन का ज्ञान प्राप्त कर लेने की तीव्र इच्छा जाग्रत हो तथा सारे देश के व्यक्ति अध्ययनपूर्वक पूर्वपक्ष तथा उत्तरपक्ष का मनन कर, अपनी दिव्य संस्कृति के उत्थान के लिए कटिबद्ध हों, ऐसी प्रभुचरणों से प्रार्थना कर, मैं यह छोटा सा लेख पूर्ण करता हूँ।

११. प्रथम स्वतंत्रता-संग्राम के शताब्दी-समारोह की पावन स्मृति में

('पांचजन्य', २० मई १९५७)

राष्ट्र के जीवन में ऐसे प्रसंग आते हैं, जिनका परिणाम बहुत गहरा तथा चिरस्थायी होता है। उनकी स्मृति से अनेकविध भाव जागृत होते हैं। कालचक्र की गति से इन भावों की उत्कटता से किसी प्रकार की कमी नहीं आती। उत्कटता में भावशुद्धि ही होती जाती है। उन प्रसंगों का दैवी स्वरूप आविष्कृत होता जाता है और वे सद्गुणों के उद्दीपक बनकर चिरंतन-स्फूर्ति बन जाते हैं। प्रभु रामचंद्र, भगवान श्रीकृष्ण आदि से छत्रपति शिवाजी तक ऐसे प्रसंग और उन प्रसंगों के सूत्रचालक ऐसे महापुरुष अपने राष्ट्रजीवन की परंपरा में उत्पन्न हुए हैं, जिन्हें शुद्ध दैवी-आविर्भाव के रूप में वंश-परंपरा से समाज ग्रहण करता आ रहा है, जिनसे प्रेरणा ले रहा है,

वीर-जीवन, सर्वस्वार्पित-जीवन, शुद्ध जीवन प्राप्त कर चिरशांति का अधिकारी बन रहा है, जिनके स्मरण, अनुसरण, पूजनादि द्वारा प्रत्यक्ष संसार-बंधन से मुक्ति प्राप्त करने का विश्वास लेकर चल रहा है।

विदेशियों का कुप्रचार

ऐसे ही उदात्त भावोद्दीपक प्रसंगों में शके १६६६ (१८५७ ईस्वी) का स्वातंत्र्य-संग्राम शनैः-शनैः अपना उचित स्थान ग्रहण कर रहा है। प्रथम तो स्वार्थी विदेशी सत्ताधीशों ने उसे एक क्षुद्र, स्वार्थी अल्प संख्या के तथा सिपाहियों के विद्रोह के रूप में घोषित कर, उसके महत्त्व को कम करने का प्रयत्न किया। उसके नेताओं को अमानवीय, दुष्ट, शांति-सुव्यवस्थापूर्ण राज्य के निर्घृण विरोधियों के रूप में उपस्थित करने की चेष्टा की। इस देश के तथा राष्ट्र के उत्कर्ष के हेतु, प्रत्यक्ष ईश्वर ने उन्हें (अंग्रेजों को) भार सौंप दिया है, इसी निमित्त वे यहाँ शासन चलाने का कष्ट उठा रहे हैं। अपने घर-बार से सहस्रों मील दूर आकर अनेक दुःखों का, असुविधाओं का सामना कर रहे हैं। उन्होंने इस प्रकार का प्रचार जारी रखा कि उनके ऐसे ईश्वर-नियोजित कर्तव्य में बाधा डालनेवाले शैतान के अनुगामी हैं। इतिहास-ग्रंथों में तथा पाठशालाओं की क्रमिक पुस्तकों में ऐसे ही वर्णन प्रस्तुत कर बाल्यदारभ्य संपूर्ण समाज इस संग्राम को तथा उसके सूत्रचालकों को भीतियुक्त घृणा की दृष्टि से देखें, इसी दृष्टि से उन्होंने ऐसी व्यवस्था की थी। विदेशी सत्ताधारियों की कुटिल-नीति कुछ प्रमाण से सफल अवश्य हुई। आज भी बड़े-बड़े इतिहासज्ञ कहलानेवाले हमारे विद्वान इसी कुप्रचार से अभिभूत दिखाई देते हैं। परकीय शासकों की भाँति स्वार्थ तथा सत्तालोलुपता से ग्रस्त सद्यःकालीन शासकों के गुट भी अपनी महत्ता को बढ़ाने हेतु अपने ही प्रयत्न, अपने ही मार्ग, अपने ही सिद्धांत सर्वश्रेष्ठ हैं, अपने गुट के नेता ही राष्ट्र के सच्चे हितकारी आदर्श हैं, इस अपप्रचार की धुन में उस महान, क्रांति के महत्त्व को कम करने के लिए प्रयत्नशील हैं। वे अंग्रेजों के ही युक्तिवाद, ऐतिहासिक मूल्याकंन के नियम ग्रहण कर चल रहे हैं। यहाँ तक कि उस स्वातंत्र्य समर का शताब्दी महोत्सव लोकलज्जा के कारण तथा घटती हुई अपनी लोकप्रियता को उस कार्यक्रम द्वारा पुनः प्राप्त करने की लालसा से प्रेरित होकर करने की योजना तो बनाई, परंतु अपना ही महत्त्व बढ़ाने की दृष्टि से उसकी वास्तविक ऐतिहासिक तिथि को भुलाकर अपने द्वारा संचालित आंदोलनों की प्रारंभ-तिथि को, स्मृतिदिवस के रूप में मनाने का आयोजन किया है।

वह महान जनक्रांति थी

किंतु सत्य प्रबल है। उसे ढँकने या विकृत करने के सब प्रयत्नों को विफल कर वह अपने पूर्ण तेज से प्रकाशित होता है। उसे प्रकाशमान होने के लिए योग्य निमित्त बनने की पात्रता रखनेवाले, किसी भी अपप्रचार से भ्रष्ट-बुद्धि न होनेवाले, स्वतंत्र प्रज्ञायुक्त, स्वयं की शुद्ध राष्ट्रभक्ति से उपासना कर पूर्ण राष्ट्र के सत्यस्वरूप को, उसकी जीवन-परंपरा को स्पष्ट परिष्कृत रूप में आविष्कृत करनेवाले, संपूर्ण समाज के हृदय-मंदिर में उसकी प्रतिष्ठापना करने का वीरव्रत ग्रहण कर तद्धेतु जीवन सर्वस्व का होम करनेवाले महापुरुष प्रकट होते ही रहे हैं। सन् १८५७ की क्रांति के राष्ट्रीय उत्थान-स्वरूप स्वातंत्र्य देवता की अर्चना हेतु बलिदान करने और उसके दिव्य यज्ञस्वरूप को घनगर्जना की भाँति प्रचंड स्वर में उद्घोषित करने असामान्य राष्ट्रपुजारी के रूप में वीर सावरकर तथा उनके आत्महुत सहकारी खड़े हुए। यह सत्य फिर अपनी दीप्ति से सप्रमाण प्रकट हुआ कि सन् १८५७ का प्रसंग कुछ संपत्ति-भ्रष्ट, पदभ्रष्ट, असंतुष्ट सरदार आदि अल्प लोगों का या उन्मार्गनीत सैनिकों का दृष्ट विद्रोह नहीं था, अपितु वह एक महान जनक्रांति थी, परकीय अंग्रेजों की बद्धमूल हो रही सत्ता को चुनौती देकर उसे नष्ट करने का, स्वातंत्र्य-प्राप्ति का विराट प्रयत्न था। उस समय उक्त आयोजन का सफल न होना उसके स्वातंत्र्य-युद्ध होने के विरुद्ध प्रमाण नहीं हो सकता। प्रत्यक्ष स्वतंत्रता-प्राप्ति तक अनेक छोटे-बड़े प्रयास होते रहते हैं। उन सबका समुच्चय ही स्वातंत्र्य-प्राप्ति में होता है। और उन छोटे-बड़े प्रयत्नों को अपनी भव्यता, उदात्तता, शौर्य, वीर्य, समर्पण भाव आदि उत्कृष्ट राष्ट्रभक्तिपूर्ण गुणों से प्रेरणा देनेवाले प्रथम महाप्रयास ही वास्तव में स्वातंत्र्य-युद्ध का सूत्रपात करनेवाला व आगे स्फूर्ति देकर उसे चलाते रहनेवाला होने के कारण सत्य अर्थ में स्वातंत्र्य-संग्राम कहलाने के योग्य रहता है। सन् १८५७ के प्रसंगों का यह विशुद्ध स्वरूप फिर से प्रकट होते ही अंतःकरणों ने उससे स्फूर्ति प्राप्त की। अगणित राष्ट्रभक्त बलिवेदी पर हँसते-खेलते चढ़ गए। देश-विदेश में क्रांति का महामंत्र जाग उठा। छोटे-बड़े आयोजन बनने लगे। अन्य देशों से संधि कर विराट स्वरूप में परकीय सत्ता पर आघात कर, दास्यशृंखला तोड़कर, चूर-चूर करने की योजनाएँ बनने लगीं और अंत में गत महायुद्ध में श्री सुभाषचंद्र बोस ने प्रत्यक्ष सेना खड़ी कर अंग्रेजी शासन पर चढ़ाई कर दी। और एक दिन अंग्रेज अपना-सा मुँह लेकर यहाँ से चला गया। अभी उसकी कृष्ण छाया

अपने ही कुछ देशबंधुओं के सहारे शेष है। उसे भी हटाकर राष्ट्र का स्वातंत्र्य-सूर्य पुनः देदीप्यमान करना होगा। सन् १८५७ के स्वतंत्रता-संग्राम की स्मृति का यह आदेश है।

राष्ट्र के पुजारी बनें

सन् १८५७ के उस समर-यज्ञ की शताब्दी समारोह के पावन प्रसंग पर उसके निर्माताओं का स्मरण करें, स्फूर्ति को अंतःकरण में जगाएँ, उसके सूत्रचालकों की अकुतोभय वीरता, आत्मसमर्पण, पराभूत दासजीवन का धिक्कार कर सानंद मृत्यु का स्वीकार करने के लिए धृति देनेवाली अदम्य विश्वासयुक्त राष्ट्रभक्ति आदि श्रेष्ठताओं को हृदय में बसाएँ और आगे संपूर्ण अराष्ट्रीय भावों का, तत्त्वों का निराकरण कर, भारत का शुद्ध हिंदूराष्ट्र एकत्व भाव से सामर्थ्ययुक्त होकर यावच्चंद्रदिवाकरौ स्वतंत्र, स्वाधीन, स्वयंप्रज्ञ, सार्वभौम सत्तासंपन्न, सुख-वैभव से ओत-प्रोत, सर्वसंभाव्य आघातों, आक्रमणों पर विजय पाकर जगत् के सर्वश्रेष्ठ आदर्श राष्ट्र के रूप में खड़ा हो। इस हेतु सन् १८५७ के नरवीरों की पावन स्मृति का साक्ष्य रखकर दृढ़ निश्चय करें, निःस्वार्थ हो कर निरलस प्रयत्नों में जुट जाएँ, व्यक्तिगत दलगत स्वार्थ से, स्पर्धाओं से विमुक्त होकर राष्ट्र के सम्यक् पुजारी बनें, जिससे शीघ्र अपने इस हिंदूराष्ट्र को 'भूपाल मौलिमणिमंडित पादपीठ' ऐश्वर्य से जगत् का मार्गदर्शन करता, विश्व में सुखशांति बरसाता हुआ, हम सब देख सकें।

१२. राष्ट्र की चिंताजनक स्थिति

('ऑर्गनायजर', दीपावली विशेषांक, १९५८)

हम जहाँ-जहाँ जाते हैं, वहाँ-वहाँ लोग बोलते हैं कि बहुत ही कठिन समय है। मनुष्य कभी भी संतुष्ट नहीं रहता, हर समय असंतुष्ट रहकर शिकायत करने की उसकी आदत होती है। मानव-स्वभाव के कारण ही आज ऐसा बोला जाता है, ऐसा नहीं कह सकते। लोग जो अनुभव कर रहे हैं, उसमें सच्चाई भी है। मराठी में एक कहावत है- 'पांचावर धारण बसली।' जब बहुत ही निराशाजनक और भयंकर परिस्थिति उत्पन्न होती है, तब ऐसा कहा जाता है। जब हमारे प्रांत में बहुत भयंकर अकाल पड़ा था और मनुष्य तथा पशु की बड़ी हानि हुई थी, उस परिस्थिति में इस

कहावत का मूल है। सरकारी रिपोर्ट, कथाओं और अन्य साहित्य में उसका वर्णन इतना चौकानेवाला है कि उस समय की भयानक स्थिति की कल्पना की जा सकती है। अन्न-धान्य की कमी हो गई थी, जीवनावश्यक वस्तुओं के मूल्य धनवानों की क्षमता से भी अधिक थे। ज्वार तक एक रुपए में पाँच सेर मिलती थी। मूल्यवृद्धि के कारण लोगों में इतना डर पैदा हो गया था कि, उस भावना के प्रकटन के लिए 'पांचावर धारण बसली' कहावत बन गई। वह किसी भी कठिन परिस्थिति के लिए लागू हो सकती है।

आज चावल एक रुपए में एक सेर से थोड़ा अधिक मिलता है। यदि हम ऐसा मानते हैं कि पुराना माप एक सेर से कुछ अधिक था और उस समय के मूल्य में आज के मूल्य की तुलना करते हैं, तो आज धान का मूल्य हमारे इस प्रगत देश में बहुत तीव्र अकाल की तुलना में दस गुना बढ़ा है। अन्य आवश्यक वस्तुओं के दाम भी बढ़े हैं। कभी-कभी तो वे सीमा से अधिक हुए हैं। वस्तुएँ बाजार में उपलब्ध हैं, किंतु उसको खरीदने की क्षमता सामान्य मनुष्य में नहीं है– इस कारण वह उसे खरीद नहीं पाता। स्वाभाविक ही है कि मुद्रास्फीति कीमतें बढ़ाती है और क्रयशक्ति घटाती है। रुपए की कीमत इतनी घटी है कि सर्वसाधारण परिवार की जरूरतें पूरा करने के लिए कुछ सौ रुपए भी पर्याप्त नहीं होते। इसी कारण सामान्य मनुष्य बहुत कठिन परिस्थिति की बात करता है। वह न राजनीति समझता है, न अर्थनीति या उसके मुँह पर फेंके जानेवाले समृद्धि के आँकड़े। वह इतना ही जानता है कि जितने लोगों को खिलाने की जिम्मेदारी उसपर है, वह आज निभा नहीं सकता। उसको यह पता है कि वह अपने पिता या दादा से अधिक रुपए कमाता है, किंतु आवश्यकता पूर्ण करने की दृष्टि से उन रुपयों की कोई कीमत नहीं है, वह केवल भार है व संतोष के नाम पर शून्य।

नए कानूनों से संकट बढ़ा है

इसके बाद आते हैं आज के कानून, जो हमारी सामाजिक व्यवस्था और सुरक्षा के लिए घातक हैं और परस्पर के स्नेह और सहकारिता के बंधनों को तोड़ रहे हैं। वास्तव में इन्हीं बंधनों ने सदियों से सारे संकटों से लोगों का रक्षण किया है। उन विदेशियों के आघातों से भी, जो इन्हें नष्ट-भ्रष्ट करना चाहते थे। नए कानून उनका विश्वास तोड़ रहे हैं, आदरभाव समाप्त कर रहे हैं, उनका स्वतंत्र राष्ट्रीय अस्तित्व समाप्त कर

रहे हैं। उनके मूल और डालियों को काट रहे हैं। भूमिस्वामी और भूमिहीन, कारखानेदार और मजदूर, मालिक और कर्मचारी, इतना ही नहीं तो अध्यापक और विद्यार्थी, पिता और पुत्र, भाई और बहन, पति और पत्नी में अविश्वास के बीज बोकर उनमें संघर्ष निर्माण कर रहे हैं। उत्पादन बढ़ाने की योजना करते हुए जमीन के ऐसे टुकड़े किए जा रहे हैं, जो आर्थिक दृष्टि से सक्षम नहीं हैं। उधार लिये समाजवाद व समानता के लुभावने शब्दों के आधार पर बनाए गए कानून और घोषणाएँ लोगों के लिए हानिकारक हैं। खेतों में अधिक उत्पादन कर हमारे लोगों के अनगिनत कष्ट दूर हो सकते हैं, किंतु सरकार विदेशों से अनाज मँगा रही है, वह भी राष्ट्रीय स्वाभिमान के मूल पर आघात करते हुए। इससे केवल स्वाभिमान को ही ठेस नहीं पहुँचेगी, उससे हमारे राष्ट्रीय अस्तित्व के समाप्त होने का खतरा भी है। भारी कर्जे लेकर तथाकथित पंचवर्षीय योजनाओं के भ्रमजाल में फँस रहे हैं। ऋण पर ब्याज देना पड़ता है। सर्वसामान्य अनुभव तो यह है कि अकसर ऋण लेनेवाले ब्याज के बोझ से ही समाप्त हो जाते हैं। फिर भी मूल धन वैसा का वैसा ही रहता है। जो ब्याज तक चुका नहीं सकता, उसको प्रतिष्ठा कैसे मिलेगी? क्या उसका स्वतंत्र अस्तित्व कायम रह सकता है?

चारित्रिक संकट

इसी के साथ समाज में व्याप्त भयंकर अधःपतन व चरित्रहीनता का चित्र दिखाई पड़ता है। जब मनुष्य को परिणाम मिलने की कोई संभावना नहीं होती और उसके मन में असुरक्षा की, अस्थिरता की भावना निर्माण होती है, तब जो कुछ सुख उपलब्ध हो सकता है, उसे प्राप्त करने के लिए, वह कुछ भी करने को तैयार हो जाता है। उसके मन में स्नेह और कर्तव्य के जो बंधन होते हैं, वे समाप्त होने लगते हैं और वह केवल स्वार्थी राक्षस बनने लगता है। उसके मन, मस्तिष्क और हृदय की सब अच्छाइयाँ सूख जाती हैं। वह बहुत ही निम्न स्तर तक जा गिरता है। चमकदार सभ्यता की आड़ में वह अपनी घिनौनी राक्षसी वृत्ति के चेहरे को छुपाने की कोशिश करता है। यह सारा प्रकार इतना खराब है कि उसे लिखने में भी संकोच होता है।

संघर्षशील समाज की हताशा

सचमुच बहुत ही कठिन समय है। बारह सौ वर्षों से विदेशियों के

भयानक आघातों से संघर्षरत हमारा अत्यंत पराक्रमी राष्ट्रजीवन आज ऐसी स्थिति में आ गया है कि हमारे शत्रुओं के आघातों से उसका अस्तित्व ही संकट में आ गया है। दुःख की बात यह है कि हम इन आघातों का सुयोग्य मूल्याकंन भी नहीं कर रहे हैं। वही इस्लामी आक्रमण अब पाकिस्तान के रूप में हमें धमका रहा है। वह आक्रमण कभी भी मात्र राजनैतिक नहीं था। वह अपने राष्ट्रजीवन के सभी पहलुओं पर खुला आक्रमण था। हजारों सालों से हम जिन मूल्यों की रक्षा करते आए हैं, उनको नष्ट करना और हम पर इस्लामियत थोपना उनका उद्दिष्ट था। उनके आक्रमण का वास्तविक उद्देश्य यही था। पाकिस्तान उन्हीं उद्देश्यों के लिए काम कर रहा है।

ईसाइयों के कार्यकलापों के संबंध में भी कुछ ऐसा ही कहा जा सकता है। उनको भी बाहरी देशों और मिशनों से सहायता मिलती है। उसी प्रकार के कम्युनिस्ट हैं, जो उसी क्रूरता व विध्वंस से पूरे विश्व पर अपना अधिकार जमाना चाहते हैं। उनके लिए अन्य कोई जीवनादर्श, आर्थिक चिंतन, राजनैतिक या सैद्धांतिक विचार व्यर्थ हैं। दुर्भाग्य की बात यह है कि हमारे बड़े-बड़े नेता भी कम्युनिस्टों के इस पैशाचिक पक्ष को समझ नहीं पा रहे हैं। वे यही मान रहे हैं कि मनुष्य समाज की पुनर्रचना करनेवाला यह मात्र राजनैतिक-आर्थिक विचार है। हमें यह भ्रम दूर करना ही होगा। हमारे देश में यदि कम्युनिज्म प्रबल होता है, तो उसका अर्थ होगा पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमारे पूर्वज जिन जीवनमूल्यों व आदर्शों के लिए जिए व मरे, उस हमारी राष्ट्रीय विरासत की पूर्णरूपेण समाप्ति। क्योंकि वह तो मानवता के सामान्य मूल्यों और विकास को नष्ट करने पर तुले हैं।

ये सारी विरोधी और विनाशकारी शक्तियाँ हमारे देश को चारों ओर से घेर रही हैं। हमारे जिन नेताओं के पास सत्ता और शक्ति है, जो इस राष्ट्रजीवन को बना और बिगाड़ सकते हैं, वे अहिंसा, सह-अस्तित्व और पंचशील की रट भर लगाकर, ऊँचे सिद्धांतों की घोषणाओं के आधार पर उनका निराकरण करने की बात सोचते हैं। ये उच्च विचार भय या पराभूत मनोवृत्ति को छिपाने के लिए तो व्यक्त नहीं किए जा रहे हैं? तिब्बत जाता है और हम पंचशील के गुणगान करते हैं, पाकिस्तान हमारे लोगों पर गोलियाँ चलाता है और हम अहिंसा की रट लगाते हैं। उनकी कभी भी समाप्त न होनेवाली आक्रामक आकांक्षा को पूरा करने के लिए हम अपनी पवित्र मातृभूमि के टुकड़े करते हैं तथा वे हमारे और अधिक भू-भाग को

हड़पने के लिए प्रोत्साहित होते हैं। भूटान को धमकाया जा रहा है और हम लाचारी से देख रहे हैं। चीनी साम्राज्यवादियों ने उसे घेर लिया है। चीन की सरकार हमारे भू-भाग को अपना दर्शानेवाले नक्शे प्रकाशित करती है और हम मात्र विरोध प्रकट करते हैं। रूस भी चीन जैसा ही व्यवहार करता है और हमारे पास उसका कोई उत्तर नहीं है। चीन की सेना हमारी भूमि पर अतिक्रमण करती है और हम उसको संतुष्ट करना चाहते हैं। वास्तव में संयुक्त राष्ट्र में चीन की सदस्यता के लिए समर्थन कर हमारे प्रधानमंत्री ने आधे विश्व को नाराज कर लिया और चीन ने उसका प्रतिफल आक्रमण करके दिया। कम्युनिस्ट शासकों से कृतघ्नता के सिवाय हम क्या अपेक्षा कर सकते हैं? क्योंकि वे सब प्रकार के विरोध को दबाते हुए पूरे विश्व पर अपना प्रभाव जमाने के लिए उचित-अनुचित कुछ भी कर सकते हैं। शर्म, पराभव और वैफल्य की यह सूची और लंबी करना निरर्थक है। इसके अतिरिक्त इस प्रकार की अनगिनत और बातों की कोई कमी नहीं है।

हमारे महान राष्ट्र का आज का चिंताजनक दुःखद चित्र हमारे सामने है। जन-सामान्य को केवल उन्हीं बातों का पता है, जो उसके पेट से संबंध रखती हैं। इसके लिए नियंत्रित प्रचार-तंत्र को धन्यवाद देना चाहिए, क्योंकि बातें छुपाने की उसकी प्रवृत्ति के कारण वास्तविकता को लोग जान ही नहीं पाते। अन्य संकटों से अनभिज्ञ होने के बाद भी लोग हताशा से चिल्ला रहे हैं कि समय बड़ा कठिन है।

चुनौतियों का उत्तर दें

हमारी वर्तमान और आनेवाली पीढ़ी को यह समझना होगा कि इस कठिन परिस्थिति पर विजय पाने के लिए, हमारे राष्ट्र पर पड़ रही इस काली छाया को समाप्त करने के लिए कठोर परिश्रम करना होगा। उसी से हमारा राष्ट्रजीवन सुखी, संपन्न, आत्मविश्वासपूर्ण और विश्व का सम्मानित राष्ट्र सिद्ध होगा। यही सच्चा राष्ट्र-पुनर्निर्माण है। उसी से हमारी हताशा, आत्मविस्मृति और हीनवृत्ति समाप्त होगी। व्यक्तिवाद, प्रांतवाद स्वार्थ-प्रेरित राजनीति को विराम लगेगा। संसार-भर की चुनौतियों से जूझने की भावना हमारे लोगों के मन में जागृत होगी।

तभी हमारी मातृभूमि की श्रेष्ठता पुनर्प्रतिष्ठित होकर, हमारे राष्ट्रजीवन के श्रेष्ठ और सनातन जीवनमूल्य प्रस्थापित हो सकेंगे और हमारा राष्ट्र विश्व का नेतृत्व करे, जगद्गुरु के पद पर आरूढ़ हो, तभी

अध्यात्म के मार्गदर्शक होने का सपना साकार होगा। इसके लिए हमें हमारी मातृभूमि की सीमाओं का संकोच करनेवाली, देश की सार्वभौमता, आत्मसम्मान और सुरक्षा से जुड़ी हुई समस्याओं के प्रति नकारात्मक विचार छोड़ना होगा। तब हमारे समाज में विजिगीषु वृत्ति निर्माण होगी और हम गरीबी, अज्ञानता, अनारोग्य और साथ ही साथ मानवता विरोधी ताकतों के साथ संघर्ष कर सकेंगे। राष्ट्रीय पुनर्रचना की निरर्थक घोषणाओं से काम नहीं चलेगा।

समय बहुत खराब है, उसकी गंभीरता को समझें, अन्यथा वह विनाशकारी सिद्ध हो सकता है। इसलिए हमारे नेतृत्व को बाइबिल के इन विख्यात शब्दों से आगाह करना होगा कि 'तुम्हारा घर ढह रहा है। उसे मजबूती से पकड़कर रखो।' हम जागें, आगे बढ़ें, योग्य विचार करें, योग्य शब्दों का प्रयोग करें, योग्य वृत्ति रखें और ध्येयप्राप्ति तक बढ़ते ही रहें।

१३. हिंदू कोड बिल से सावधान

(सन् १९५८ में प्रसारित लेख)

यह सर्वविदित है कि गत आम चुनाव के पूर्व लोकसभा में हिंदू कोड बिल पर विचार हुआ था। प्रस्तुत बिल की धाराएँ 'हिंदू लॉ' की परंपराओं तथा रीति-रिवाजों के बिल्कुल प्रतिकूल होने के कारण सर्वसाधारण जनता में इसकी आत्यधिक तीव्र प्रतिक्रया हुई। यद्यपि इस बिल के प्रवर्तक तथा सत्ता के शीर्ष पर बैठे हमारे सर्वेसर्वा नेता हिंदुओं का 'आधुनिकीकरण' करने, अर्थात् हिंदुओं को अहिंदू तथा अराष्ट्रीय बनाने की अपनी सनक में बिल को पास कराने के बहुत इच्छुक थे, परंतु आनेवाले चुनावों पर दृष्टि रखते हुए उन्होंने अपने प्रयास को छोड़ने में ही बुद्धिमानी समझी।

हिन्दुओं ने यह सोचा कि इस बिल को वापस लेकर, उसकी भावनाओं का समादर किया गया है और हमारी सामाजिक व्यवस्था, जो वैज्ञानिक एवं स्थायी सिद्धांत पर आधारित है, पर आया खतरा टल गया है। इस प्रकार सोचकर और इसी आधार पर प्रसन्न होकर, उसने पुनः उन्हीं लोगों को सत्ता में प्रतिष्ठित कराया। फिर से चुनकर आना सत्ताधीशों की कपटनीति की सफलता घोषित करनेवाला है। जनता को धोखे में रखनेवाली इस योजना को बनाने तथा क्रियान्वित करनेवाले व्यक्ति इस कपटपूर्ण चतुराई के लिए बधाई के पात्र हैं।

पाश्चात्यों की भक्ति

गत अनुभव से सीख लेकर सरकार की लोकप्रियता एवं प्रतिष्ठा को खतरे में डाले बिना हिंदू कोड बिल को पुनः नहीं लाया जा सकता था, किंतु राज्य का संचालन करनेवाले नेतागण, हिंदू समाज के संपूर्ण स्वरूप को बदल डालने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ प्रतीत होते हैं, ताकि इस भारतभूमि में हिंदू, अर्थात् भारतीय अथवा राष्ट्रीय का कोई अवशेष बाकी न रह जाए। इससे उन्हें क्या हासिल होगा, यह कल्पना से परे है। हाँ, यह संतोष हो सकता है कि वे जनता को पाश्चात्य आदर्शों के अनुसार ढालने में सफल हुए हैं। साथ ही संसार के सामने विदेशियों के प्रति अपनी दासोचित भक्ति को प्रकट कर सकते हैं। इसी हीन-भावना के साथ वे कार्य कर रहे हैं। उन्हें एक संतोष यह भी मिल सकता है कि जो-जो उत्तम एवं पूजनीय था, जनता की श्रद्धा का केंद्र था, उसे विकृत तथा नष्ट करने में वे सफल हुए हैं।

अब उनके सामने प्रश्न था कि जनरोष को टालते हुए इस बिल को कानून का रूप कैसे दिया जाए। इस गुत्थी को सुलझाने का रास्ता यह निकाला गया है कि बिल के छोटे-छोटे भाग कर उसे विभिन्न शीर्षकों में विभाजित कर दिया गया है। इस प्रकार जनता के रोष व तिरस्कार से बचने के लिए उसी हिंदू कोड बिल को पुनः लाया जा रहा है। धीरे-धीरे ये सारे टुकड़े एक के बाद एक पारित करवाए जाएँगे और जनता को आभास हुए बिना पूरा कानून बन जाएगा। जनता के विश्वास एवं श्रद्धा को समाप्त करने के लिए धीमा विष देने का यह एक उदाहरण है।

जनाधार नहीं

इस समय लोकसभा के सामने विवाह, तलाक, उत्तराधिकार आदि से संबंधित जो विधेयक हैं, वे हिंदू कोड बिल के ही अंश हैं। यह दिखाने के लिए कि इस बिल की जनता की ओर से ही बहुत माँग हो रही है, हाल ही में यह बताया गया कि कुछ महिलाओं ने बिल को शीघ्रता से पास करने के लिए सरकार को एक प्रार्थना-पत्र दिया है, जिसपर पचास हजार महिलाओं के हस्ताक्षर हैं। चालीस करोड़ जनसंख्या के देश में वयस्क महिलाओं की संख्या आसानी से दस करोड़ से अधिक होगी। महिलाओं की इतनी विशाल संख्या के सामने पचास हजार का क्या महत्त्व है? इसका इतना प्रचार किया गया है, मानो बिल के पक्ष में यह एक प्रबल लोकप्रिय दबाव है, जिसे टालना असंभव हो। यदि पचास हजार का इतना दवाब हो

सकता है, तब गाय, बैल सदृश असहाय पशुओं की हत्या पर प्रतिबंध लगाने के लिए संपूर्ण देश में से लगभग दो करोड़ वयस्कों के हस्ताक्षरों से युक्त प्रार्थना-पत्र का क्या हुआ, जो सरकार को दिया गया था? क्या वर्तमान सरकार की दृष्टि में दो करोड़ की अपेक्षा पचास हजार अधिक होते हैं?

इससे एक तथ्य स्पष्ट प्रकट होता है कि वर्तमान सरकार हिंदू जीवन-पद्धति, विश्वासों तथा श्रद्धा की घोर विरोधी है तथा उसने इसे जड़ से नष्ट करने का निश्चय किया हुआ है। उसके दाँत और नाखून उनके खिलाफ ही काम करते हैं। उसकी इसी सनक ने उसे इस भ्रम में डाल दिया है कि हिन्दुओं के विरुद्ध कदम उठाने के लिए पचास हजार बड़ी प्रभावी संख्या है, जबकि हिंदू परंपराओं के समर्थन में उसे दो करोड़ भी नगण्य लगते हैं। भले ही वह गाय, बैल की हत्या पर रोक लगाने एवं इस पवित्र प्राणी विशेष की रक्षा करने जैसी हिंदू श्रद्धा का महत्त्वपूर्ण विषय हो।

राज्यकर्ताओं से सावधान

जनता को यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए तथा इस संतोष में भी नहीं रहना चाहिए कि हिंदू कोड बिल का खतरा समाप्त हो गया है। वह खतरा अभी ज्यों का त्यों बना हुआ है, जो पिछले द्वार से उनके जीवन में प्रवेश कर उनकी जीवन की शक्ति को खा जाएगा। यह खतरा उस भयानक सर्प के सदृश है, जो अपने विषैले दाँत से दंश करने के लिए, अंधेरे में ताक लगाए बैठा हो।

लोगों को सतर्क होकर ऐसे सभी उपायों का दृढ़ निश्चय के साथ विरोध करना चाहिए, जो उन लोगों द्वारा प्रस्तुत किए जाते हैं, जिनके लिए 'हिंदू' शब्द ईश्वर के शाप के समान है। जिन्हें 'हिंदू' नाम की किसी भी वस्तु के प्रति कोई प्रेम अथवा आदर नहीं है। उनको हिंदू तत्त्वज्ञान और जीवन-प्रणाली की जानकारी तो लेशमात्र भी नहीं है।

१४. विशुद्ध प्रेममयी मानवता

('कल्याण' का 'मानवता' अंक, जनवरी १९५९)

आजकल के विज्ञान-युग में पृथ्वी के सभी देश एक-दूसरे से अधिक निकट संबंधों से जुड़ने लगे हैं। गमनागमन के साधनों में नव-नवीन संशोधनों के कारण अधिकाधिक वेगवान यान उपलब्ध हो रहे हैं। एक छोर

से दूसरे छोर तक जाना सुगम हो गया है। अल्प समय में पृथ्वी की परिक्रमा करके किसी भी देश में रहनेवाले बंधुओं से मिलने-जुलने में कठिनाई नहीं रही। पूर्वकाल में ऐसे साधनों के अभाव में लोग एक छोटी-सी सीमा में निवास करनेवालों से ही संबंधित रहते थे। कितनी भिन्नता से भरी रहन-सहन, भाषा, बोली, आचार-विचार, व्यवहार, गुण-अवगुण, उन्नत-अवनतावस्था पृथ्वी पर रहनेवाले मानवों में व्यक्त होती है, इसका ठीक-ठीक ज्ञान भी संभवतः नहीं था। एक-दूसरे पर इन भिन्न मानव-समूहों का प्रभाव भी नहीं के बराबर ही होता था। क्वचित निकटवर्ती भिन्न प्रकृतिवाले लोगों के साथ शत्रु-मित्रादि-संबंध आते अवश्य थे, किंतु विचार-संस्कारादि का आदान-प्रदान तुरंत होना कठिन था। अतः मानवों के अनेक समूह अपने-अपने क्षेत्र में, अपने भिन्न-भिन्न विचार-भावनाओं का विकास करके अपने-अपने वैशिष्ट्य से रहते हुए दिखाई देते थे। इस परस्पर संबंधरहित स्व-वैशिष्ट्ययुक्त जीवन के विकास के फलस्वरूप एक-एक क्षेत्र में जिस मानव-समूह का जीवन प्रस्थापित हुआ, वही आगे चलकर राजनैतिक संबंधों के कारण 'राष्ट्र' के नाम से पहचाने जाने लगे। आज पृथ्वी के अनेक देशों में इस प्रकार अपनी विशिष्टता से जीवन व्यतीत करनेवाले, अपनी विशिष्ट चेतना से युक्त तथा अपनी विशिष्ट गुणयुक्त चेतना में अभिमान करनेवाले राष्ट्र दृष्टिगोचर होते हैं। यह हो सकता है कि इनमें से अनेक राष्ट्रों को अपनी चेतना, विशिष्ट राष्ट्रीयता का यथार्थ परिचय न हो और वे केवल अपने भिन्न भू-भाग, ऐहिक जीवन के सुख-दुःख, शत्रु-मित्र तथा बाह्य रहन-सहन, मनोविनोद के साधन एवं भाव इत्यादि स्थूल बातों का ही अभिमान धारण कर उसमें अपने राष्ट्रत्व का सार-सर्वस्व मानकर चलते हों। फिर भी भिन्न स्वभाव, भिन्न प्रकृति एवं उन्हें अज्ञात ऐसी भिन्न चेतना उनमें अभिव्यक्त होती ही है।

संकीर्ण राष्ट्रवाद का प्रभाव

भिन्न-भिन्न जीवन-प्रणाली तथा उसका अभिमान एक मर्यादा तक ठीक है। यह भी कहा जा सकता है और आवश्यक भी है, परंतु जब यह अभिमान एकांतिक हो जाता है और इससे जब अन्य मानव-समूहों को क्षुद्रता की, अवहेलना की दृष्टि से देखने का अवगुण उत्पन्न होता है, तब अपनी ही पद्धति को सर्वश्रेष्ठ मानकर उसे पृथ्वी के सारे मानवों पर थोपने तथा इस हेतु अन्य राष्ट्रों की चेतना को नष्ट करने, उन पर भौतिक आधिपत्य जमाने की भावना का जन्म होता है। पृथ्वी का गत इतिहास,

जितना भी ज्ञात है, इसी प्रकार निर्माण हुए संघर्षों का ही वर्णन करता है। इससे असंख्य मानवों का संहार हुआ है। बनी-बनाई सभ्यता का नाश हुआ है। कितने ही सुंदर वैशिष्ट्य नष्ट हो चुके हैं। कला, तत्त्वज्ञान, साहित्य आदि विनाश को प्राप्त हो चुके हैं।

मानव में जैसे स्वार्थ, दुरभिमान, हिंस्रता आदि दुर्गुण हैं, वैसे ही उसमें दिव्यत्व, विशाल अंतःकरण, सर्वव्यापी प्रेम आदि पुनीत भावनाएँ भी हैं। समय-समय पर मानव को विनाश की ओर ढकेलनेवाले अतिरिक्त संकुचित राष्ट्राभिमान के स्थान पर स्थायी बंधुत्व की प्रतिष्ठा करने के श्रेष्ठ भावों के प्रकट होने के प्रसंग भी इतिहास में हैं। प्राचीनकाल में 'जगत् का पिता एवं स्वामी एक ईश्वर है और सब उसकी संतान हैं', इस विश्वास को आधार बनाकर मानवों में बंधुत्व-स्थापन करने की कामना से कई पंथ प्रसृत हुए। पिछले दो सहस्र वर्षों में इस प्रकार के महत्वपूर्ण दो पंथ – ईसाई तथा इस्लाम जगत् के बड़े क्षेत्र पर फैले, किंतु केवल ईश्वर के पितृत्व तथा मानवों में बंधुत्व के विचार कितने ही श्रेष्ठ क्यों न हों, मानवों को स्वाभाविक दिखनेवाली सीमित राष्ट्राभिमान की भावना को वे जीत नहीं सके। इतना ही नहीं, राष्ट्राभिमान की अत्यधिक, अमर्याद तथा संकीर्ण दुभार्वना के साथ अपने विशिष्ट पंथ का दुरभिमान निर्माण करने में ही उनका पर्यवसान हुआ। ये 'धर्म' कहलानेवाले 'पंथ' और उनमें से उत्पन्न हुए उपपंथ स्वयं ही मानव-संहार के साधन एवं प्रेरक बने। जगत्साम्राज्य किसी पंथविशेष का ही हो, अन्य सब पंथ-मार्ग नष्ट हो जाएँ इत्यादि राष्ट्र की भौतिक जीवन-संबंधी दुर्भावनाओं का इनमें प्रादुर्भाव हुआ तथा ये पंथ राष्ट्र की दुर्भावनाओं से युक्त होकर मानवों के अति भयानक शत्रु बन गए। इतिहास के जानकार यह सब जानते हैं।

इस प्रकार अतिरेकी राष्ट्रवाद तथा असहिष्णु पंथवाद से पीड़ित मानवता का अपने अंतःकरण की सुप्त प्रेममयी विशालता का स्मरण कर, उसकी पुकार सुनने के लिए उस प्रेममयी, विशाल, बंधुत्वपूर्ण मानव-जीवन की चिरंजीवी स्थापना के लिए तड़प उठना स्वाभाविक है एवं मनीषी मानवों के लिए इस प्रकार की विशालता को चिरस्थायी बनानेवाले सुस्थिर आधार की खोज भी स्वाभाविक है।

औद्योगिक क्रांति का परिणाम

धर्म, ईश्वर आदि भाव भी संघर्ष के कारण बने, राष्ट्र दुरभिमान

तो पहले से था ही। यह देखकर सामान्य जनों को, जिन्होंने जगत् की वास्तविक एकता का साक्षात्कार नहीं किया है तथा जो इस लोक को ही सर्वस्व मानते हैं, स्वाभाविक ही तुरंत यही विचार सूझता है कि धर्म, ईश्वर, राष्ट्र आदि भावों को जीवन से हटाकर संपूर्ण जगत् तथा मानवों के बीच आर्थिक समानता के आधार पर तथा अधिकारों की संतुलित समानता का आग्रह करके संघर्षविहीन जीवन का निर्माण करना चाहिए। गत तीन शताब्दियों में राष्ट्र के स्थान पर विशिष्ट भाव के निर्माण के साथ ही एक बड़ा परिवर्तन प्रारंभ हो चुका था, जो 'औद्योगिक क्रांति' के नाम से परिचित है। भौतिक साधनों की अनपेक्षित, असामान्य प्रगति के कारण मानव को अपनी शक्ति पर इतना अधिक विश्वास होने लगा है कि जगत् के संचालक ईश्वर तथा तदधिष्ठित धर्म अज्ञानी लोगों की कल्पना मात्र है, यह कहने में भी नहीं सकुचाता। वस्तुतः विज्ञान से वह इतना ही सीख सकता था। अतः धर्म, ईश्वर आदि को छोड़कर विज्ञान के बल से प्रकृति पर विजय प्राप्त करके मैं जगत् का संचालन कर लूँगा, इस प्रकार साहसपूर्ण कार्य करने को उद्यत होना उसके लिए अस्वाभाविक नहीं है।

इस विज्ञान का एक और परिणाम यह हुआ कि उत्पादन के साधनों की क्षमता कल्पनातीत बढ़ गई। कुछ लोगों के हाथों में इन साधनों के द्वारा धन पूँजीभूत हो गया। इससे मनुष्य जीवन में धनी-निर्धन, पूँजीपति-श्रमिक – ऐसे नवीन भेदों का निर्माण होकर ये अधिकाधिक स्पष्ट होने लगे। जीवन के भौतिक सुखों के स्तर में भी अत्यधिक भिन्नता का अनुभव होने लगा और इससे ईर्ष्या-द्वेष आदि विप्लवकारी भावों का जन्म होने लगा। एक-दूसरे के सुख में सुखी होना, अपने जीवन से संतोष आदि गुण धर्म-विश्वास के फल थे। विज्ञान के द्वारा धर्म को पदच्युत करने का प्रयास होते ही ये गुण लुप्त होकर असहिष्णुता की अनुभूति बढ़ने लगी। उत्पादन की वृद्धि के साथ उसका वितरण करने की सुगमता की प्राप्ति होने के लिए राष्ट्र के रूप में कुछ समूहों ने साम्राज्य-विस्तार कर विज्ञान में अप्रगत अन्यान्य लोगों का उत्पीड़न व शोषण आरंभ किया। पीड़ित जनसमूहों में अपने उत्पीड़क राष्ट्रों के प्रति विद्वेषाग्नि का धधक उठना अपरिहार्य था। इसका अर्थ यह हुआ कि राष्ट्रभाव के साम्राज्यवादी बनने के कारण केंद्रीभूत धन की, पूँजी की वृद्धि की कामना ही दिखाई दी। अतः इस पूँजीवाद को नष्ट करना, धर्म का भी अपने उपकरण के रूप में उपयोग करनेवाले इस पूँजीवादी पर आधारित राष्ट्र को समाप्त कर, जगत्

में एक आर्थिक समानता पर अधिष्ठित अधिसत्ता उत्पन्न करना ही मानवता की प्रतिष्ठा के लिए एकमात्र मार्ग है, यह विश्वास अनेक मनीषियों के अंतःकरण में दृढ़ हो गया। आधुनिक काल का जागतिक समाजवाद या साम्यवाद इसी विश्वास का परिणाम है।

मानव के विनाश का कारण

अर्थ-व्यवस्था के परिवर्तनमात्र से मानव के सहस्रों वर्षों के स्वभाव नहीं बदलते। यद्यपि आर्थिक समानता का प्रचार किया जाता है एवं वैसी ही शिक्षा भी दी जाती है। बाल्यकाल से ही विज्ञान तथा अर्थप्रधान साम्यवाद के संस्कार कर अन्य सब प्रकार के विचार-संस्कारों के प्रति घृणा निर्माण करने का आयोजन भी किया जाता है, तथापि इन सबके परे अंतस्तल में इसी घृणा के शिक्षा-संस्कारों से परिपुष्ट होनेवाले सत्ता-साम्राज्य आदि के स्वार्थ, वैयक्तिक अधिकार, मद आदि मानव-संघर्ष के हेतु अन्य रूप धारण कर प्रकट होते ही रहते हैं। आज रूस आदि देशों में इस बात के प्रमाणों की कमी नहीं है। आर्थिक समानता की घोषणा स्वयं ही एक ऐसी साम्राज्यवादी प्रेरणा दिखती है। कुछ काल के उपरांत उसका यथार्थ विनाशकारी स्वरूप प्रकट होनेवाला ही है। आज से पहले भी वह असंख्य मानवों के विनाश का कारण बन चुका है। यों असंख्य मानवों के विनाश पर शेष मानवों को सुख देने का दावा अवश्य ही चमत्कारपूर्ण है। उसपर यह विश्वास करना कि वह कभी पूर्ण मानवता की प्रतिष्ठा तथा बंधुभाव, प्रेम, विश्वास आदि का निर्माण कर सकेगा, भोले-भोले लोगों के अथवा वर्तमान में किसी विषम जीवन से व्यथित होकर किसी भी प्रकार, किसी के भी आधार पर उस जीवन से छुटकारा पाने के लिए लालायित अदूरदर्शी मनुष्यों के लिए ही ऐसा समझना संभव है।

कुटुंब भाव

इस अवस्था में विज्ञान द्वारा एक-दूसरे के निकट आए हुए मानव को उसी विज्ञान के बल पर अधिक सुगमता से एक दूसरे का विनाश करने में समर्थ देखकर शुद्ध-स्नेहमय मानवता का स्वप्न देखनेवालों के अंतःकरण का विदीर्ण होना अनिवार्य है। इस विषम अवस्था से निकलने का मार्ग ढूँढना ही चाहिए। आज जो सर्वनाशकारी शस्त्रास्त्र के निर्माण की स्पर्धा चल रही है, उससे वैज्ञानिक भी चिंतित हो उठे हैं। विज्ञान के अनुसंधान व प्रकृति की शक्ति का उपयोग करने का ज्ञान विनाश के लिए नहीं, अपितु

उन्नति के लिए उपयुक्त हो एवं मानव कुटुंब के रूप में रहकर परस्पर सहकारी बनें– ऐसी उत्कट इच्छा जगत् के मनीषियों के अंतःकरण में प्रकट होकर, क्रमशः बल पकड़ रही है। मार्ग की खोज चल रही है।

इस परिस्थिति में कुछ बातें स्मरण रखना लाभदायक होगा। संपूर्ण मानव-जाति का एक कुटुंब के रूप में स्थित होना असंभव नहीं है, किंतु इसमें कोई यदि यह सोचे कि भीतर-बाहर सब समान हो जाएँगे, तो ऐसा सोचना ठीक नहीं है और न ही ऐसी निर्जीव समानता मानव के सुख का निर्माण कर सकती है। जब तक सृष्टि है, तब तक विविधता रहेगी ही। विभिन्न स्थानों के समूह अपने स्थान-वैशिष्ट्य तथा परंपरा-वैशिष्ट्य से युक्त रहेंगे ही। इन सब वैशिष्ट्यों से युक्त राष्ट्रजीवन भोगनेवाले समूहों के वैशिष्ट्य को नष्ट कर उन्हें एक ही ढाँचे में ढालने की चेष्टा करना, जगत् की सुंदरता, सुख आदि को नष्ट करना है। वैशिष्ट्य नष्ट होने से उन समूहों की जीवन-विषयक अंतःस्फूर्ति ही नष्ट हो जाएगी। इस प्रकार का मृतप्राय मानव, पशुभाव से केवल शरीर-कर्म तथा सुखोपभोग आदि में ही संतुष्ट होगा तथा इसके फलस्वरूप उसके भीषण अधःपतन की संभावना होगी। अतः आवश्यक है कि राष्ट्रों का विनाश न करके उन्हें अपने-अपने श्रेष्ठ वैशिष्ट्यों से युक्त जीवन का विकास करने दिया जाए। इस विकास में सब राष्ट्र परस्पर सहकारी बनें, अनिष्ट विशेषताओं को परस्पर सहकार्य से दृढ़तापूर्वक हटा दें। ऐहिक जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु सब राष्ट्र एक-दूसरे का भरण-पोषण करने में सहायक हों। वैज्ञानिक प्रगति के अभिमान से अत्यधिक भोग-साम्रगी का निर्माण न करते हुए, संपूर्ण जगत् को आवश्यक वस्तुएँ मिलती रहें, इसके लिए सब राष्ट्र आपस में मिलकर उन वस्तुओं के निर्माण-कार्य का बँटवारा कर लें तथा अधिक वस्तुओं से उत्पन्न हो सकनेवाले संघर्षों को समाप्त करें। संपूर्ण जगत् में एक-दूसरे की विशिष्टता का पर्याप्त ज्ञान तथा तत्संबंधी आदर निर्माण हो और इस प्रकार की व्यवस्था से परस्पर स्नेहपूर्ण तथा सहयोगपूर्ण परस्परपूरक राष्ट्रों का एक महान कुटुंब स्थापित करने का प्रयत्न किया जाए। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सब लोग इस 'एक कुटुंब' भावना को यथार्थ आधार मानकर चलें।

एकात्मता का आधार अद्वैत

जिन महानुभावों ने जगत् की एकता के स्वप्न साकार करने हेतु विचार किए हैं, सिद्धांत खोज निकाले हैं, उनमें से अपने भारत के ऋषि,

मुनि, संत आदि के तत्त्वज्ञान एवं जीवनदर्शन की ओर जगत् के अन्य भौतिकता में प्रगत मानवों का ध्यान अभी पर्याप्त रूप में नहीं गया है। वास्तव में अद्वैत का यह तत्त्वज्ञान ही एक सच्चिदानंद के सर्वत्र व्याप्त होने की तथा भेद व द्वैत दृष्टि के सर्वथा मिथ्या होने की अनुभूति मानव के व्यावहारिक जीवन में मानवता, बंधुता आदि शब्दों से परिलक्षित विशाल जीवन को प्रतिष्ठित करने की क्षमता एवं पात्रता निर्माण कर सकता है। विविधता में एकता का साक्षात् दर्शन इसी तत्त्वज्ञान की नितांत सत्यता की ओर संकेत करने लगा है, बढ़ने लगा है। इस तत्त्वज्ञान की उपासना होना तथा इस ज्ञान को ही जीवन का आधार बनाकर चलना शांतिसुखपूर्ण, बंधुभाव से दृढ़ एकात्मपूर्ण मानवता की चिरंजीवी स्थिति के लिए अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

लोग यह कह सकते हैं कि यह तत्त्वज्ञान तो पुराने समय से विद्यमान है। भारत इसपर अभिमान करता रहा है, परंतु न तो भारत में, न ही जगत् में अन्यत्र कहीं इसका प्रभाव दिखाई देता है। किसी अंश में यह शंका ठीक ही है, परंतु यदि हम सोचेंगे तो दिखाई देगा कि ज्ञान तो दिक्कालातीत सत्य था और सत्य ही है, किंतु उसका अनुभव करके तदनुसार व्यक्ति तथा समाज के जीवन की रचना करने की उत्सुकता जन-मन में उतनी नहीं रही, जितनी रहनी चाहिए। इस ज्ञान के आधार पर जीवन-रचना करने का विशाल समाजव्यापी प्रयोग यथार्थरूप में कभी हुआ ही नहीं। कहीं किसी अंश में उसका प्रयोगाभास जब-जब हुआ, तब-तब उस आभासमात्र से भी मानव में परस्पर स्नेह, विश्वास, आत्मीयता, सहकार्य आदि गुण प्रकट हुए तथा समाज उत्कर्ष को प्राप्त हुआ। अपने भारत के इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण मिलेंगे, परंतु पूर्णरूपेण यह प्रयोग हुआ नहीं। इसी हेतु महर्षि व्यास को कहना पड़ा कि 'धर्म को आधार बनाओ, उसी से ऐहिक जीवन का उत्कर्ष एवं सर्व सुखोपभोग प्राप्त होंगे। ऐसे धर्म की उपासना क्यों नहीं करते? अरे, मैं हाथ उठाकर पुकारकर यह कह रहा हूँ, पर मेरी बात कोई सुनता ही नहीं।'

संघर्ष को विराम

आज विज्ञान के द्वारा इस तत्त्वज्ञान की पुष्टि होने लगी है। विज्ञान ने अपनी अपूर्णता को विनाशकारी बनकर सिद्ध कर दिया है। अब इस 'ज्ञान' के आधार पर विज्ञान का प्रयोग करते हुए 'एक ही सत्तत्व जगत्रूप

बनकर आविष्कृत हुआ है' इसकी अनुभूति प्राप्त करने के लिए अनुभूत मार्गों का अवलंबन करना चाहिए। इस ज्ञान के आधार पर मानव समाज को वैज्ञानिक शास्त्र शुद्ध रचना, धर्म निर्दिष्ट चतुर्वर्णात्मक रचना करनी चाहिए तथा मानवजाति समष्टिरूप परमात्मा का एक स्वरूप है, प्रत्येक व्यक्ति सूक्ष्म तथा समान गुण-कर्मयुक्त व्यक्ति-समूह उस विराट देह के अवयव हैं, इस सिद्धांत को व्यवहार में लाकर सब का समन्वय करना आवश्यक है। इसी से चिरसुख, असीम शांति तथा 'वसुधैव कुटुंबकम्' के यथार्थ का अनुभव करानेवाले ज्ञानयुक्त,. शील-चारित्र्ययुक्त, धर्मनियंत्रित, परस्पर विश्वास तथा सहकार-संपन्न मानव-समाज का निर्माण होगा और उससे सुख की चरम सीमा प्राप्त हो सकेगी। आज के अधिकार-विषयक तथा स्वार्थ-विषयक सारे संघर्ष- आर्थिक, राजकीय, धर्म-मताधिष्ठित या इसी प्रकार के अन्य किसी भी स्वार्थ के कारण उत्पन्न होनेवाले संपूर्ण संघर्ष, सदा के लिए शांत हो जाएँगे और स्वकर्तव्य का योग्य परिचय तथा परिपालन होकर सर्वत्र प्रेममय मानव परमात्मा के अंशभूत होने के कारण अति विशुद्ध प्रेममय मानव का उन्नत जीवन प्रतिष्ठित हो सकेगा।

सर्वजगद्व्यापी अंतर्यामी जगच्चालक सच्चिदानंद श्री परमात्मा अपनी धर्मरक्षण की प्रतिज्ञा का स्मरण कर इस ज्ञानरूप जीवन के आधार की प्रतिष्ठापना करने की शक्ति के रूप में अभिव्यक्त जगत् में अपना आनंद भरें, मानव उस आनंद में अंतर्बाह्य सुस्नात हो और प्रत्येक मानव को संपूर्ण जगत् ही सच्चिदानंद रूप में दिखाई दे, यही इच्छा श्रीभगवच्चरणों में निवेदन कर अल्प मति द्वारा व्यक्त, अल्प-सा प्रबंध पूर्ण करता हूँ।

१५. कम्युनिस्ट 'मुक्ति' का शिकार तिब्बत

('पांचजन्य', १८ मई १९५९)

तिब्बत का हृदय विदारक कांड सबकी जिह्वा पर है। संसार के सभी लोग उसके प्रति अपनी प्रतिक्रियाएँ प्रकट कर रहे हैं। किंचित् दृष्टिपात ही प्रकट करता है कि आज विश्व ऐसे दो गुटों में विभक्त है, जिनमें विश्व-शांति जैसे महत्वपूर्ण विषय के बारे में एक-दूसरे से नितांत विपरीत दृष्टिकोण है, मौलिक मतभेद हैं। यह अवस्था उस विश्व-शांति के बारे में है, जो आज विश्व की प्रमुख शक्तियों के राजनैतिक सर्वेसर्वाओं के मस्तिष्क को परेशान किए हुए है, जो संसार के हर सच्चे शांतिप्रिय

नागरिक के हृदय को साले हुए है।

एक दूसरी बात भी पूर्वग्रह दोष से युक्त लोगों को छोड़कर सभी के लिए प्रत्यक्ष है कि भारत के नेता इनमें से किसी भी गुट से संबंधित न होकर पूर्ण रूप से तटस्थता की नीति अपनाने के इच्छुक हैं। यह भी सिद्ध हो चुका है कि तटस्थता का वास्तविक अभिप्राय निस्सहाय की ऐसी निष्क्रियता या घटित घटनाओं के प्रति निर्बल की ऐसी उपेक्षा नहीं है, जिसके कारण हमारे राष्ट्र की प्रतिष्ठा उस दर्शक जैसी हो जाए, जो सहानुभुति तो रखता हो, किंतु नपुंसक हो। भारत की इस तटस्थता की अनेकों के द्वारा यह कह कर आलोचना की जाती है कि वह निस्सहायता, निर्बलता, कायरता अथवा अदम्य साहस के अभाव के प्रदर्शन के अतिरिक्त कुछ नहीं है। अधिकांशतः देश का कारोबार सँभालनेवाले उच्च पदस्थों की कार्रवाई ऐसी आलोचना को जन्म देती है। विशेष रूप से हमारे पश्चिम व पूर्व में स्थित उद्दंड पड़ोसी के व्यवहार के प्रति हमारे नेताओं ने जैसा व्यवहार किया है और कर रहे हैं, वह इस आलोचना की सत्यता का अकाट्य प्रमाण है। किंतु यहाँ इन घटनाओं को या ऐसी ही अन्य घटनाओं को लेकर सरकार का समर्थन या विरोध करना अभिप्रेत नहीं है। यहाँ तो केवल तिब्बत के प्रश्न पर विचार करने का निश्चय किया है। इस बात की कतई चिंता न करते हुए कि इसका प्रतिवाद भी किया जा सकता है (यद्यपि मुझे इसकी संभावना है, क्योंकि आज लोगों को हर समय किसी भी वस्तु की और हर वस्तु की आलोचना करते हुए देखा जा सकता है), यह कहा जा सकता है कि तिब्बत के राजनैतिक और धार्मिक सर्वेसर्वा दलाई लामा को शरण देकर हमारी सरकार ने पहली बार ही क्यों न हो, यह कार्य किया है तथा उसका वह कार्य अंतर्राष्ट्रीय मामलों में गतिशील तटस्थता के उसके सिद्धांत के अनुकूल है। हमारी सरकार की गतिशील तटस्थता की नीति के परिणामों के प्रति विभिन्न देशों ने जो प्रतिक्रियाएँ व्यक्त की हैं, उनके रूप में तो संसार के दोनों गुटों के बीच विद्यमान तीव्र विरोध ही सामने आया है।

चीनी-रूसी गुट

इन दोनों गुटों में से अधिक सक्रिय तथा लड़ाकू है चीनी-रूसी गुट। उसके साथ उसके अनेक अनुचर राष्ट्र हैं तथा ऐसे अनेक राष्ट्रों में निवास करने वाले अनेक अनुचर लोग हैं, जो अभी तक उक्त गुट के पूरी तरह गुलाम नहीं बन पाए हैं। निश्चय ही कुछ लोग ऐसे होंगे जो इस कथन

का प्रतिवाद करेंगे और वे यह सिद्ध करने की कोशिश करेंगे कि सोवियत शास्ताओं की किसी प्रकार की कोई स्वार्थी आकांक्षाएँ नहीं हैं, कोई साम्राज्यवादी लालसाएँ नहीं हैं। वे जो कुछ कर रहे हैं, वह तो है पूँजीवादी साम्राज्यवादी पश्चिमी शक्तियों के जुए से निर्बल लोगों के कंधों को मुक्त करने के लिए है। वे तिब्बत के मामले में भी यही प्रमाण प्रस्तुत करने की चेष्टा करेंगे तथा चीनी, जो संसार पर राज्य करने के उद्देश्य से गठित सोवियत गुट का एक प्रमुख हिस्सेदार है, के 'पवित्र' इरादों के प्रति शंका व्यक्त करने वालों पर अनेक प्रकार के आरोप लगाएँगे। यहाँ यह तो उद्देश्य है नहीं कि 'पश्चिमी' अथवा 'सोवियत' गुट में से किसी की वकालत की जाए। यहाँ तो केवल एक ही उद्देश्य है– एक अत्यंत महत्त्वपूर्ण शब्द 'मुक्ति' का अर्थ समझना और स्पष्ट करना।

हर संप्रदाय की अपनी एक भाषा होती है और उसके प्रमुख शब्दों को प्रचलित अर्थ नहीं होता। वे अत्यंत 'टेक्निकल' और विशेषार्थक होते हैं। सोवियत प्रणाली ने भी ऐसे शब्द-समूह विकसित किए हैं, जिनके शब्द तो प्रचलित रहते हैं किंतु उनके अर्थ प्रचलित, सर्वस्वीकृत नहीं रहते। उनका प्रयोग इस प्रकार किया जाता है कि पाठक उनके प्रचलित अर्थों को मस्तिष्क में रखकर उनकी ओर आकर्षित होता है और फिर उससे वह अर्थ स्वीकार कराया जाता है जिसकी उसे कल्पना भी नहीं रहती कि उस शब्द का वह अर्थ भी हो सकता है। 'मुक्ति' तथा उसी का भाव व्यक्त करनेवाली 'मुक्ति सेना' आदि शब्द इसी प्रकार के हैं। पहले तो वे आकर्षित कर लेते हैं, किंतु अंततोगत्वा वे अपने खूनी पंजे दिखाते हैं, लेकिन तब तक समय हाथ से निकल चुका होता है।

पाश्चात्य गुट

यह विस्मृत नहीं होना चाहिए कि मौलिकता का सारा श्रेय सोवियत संप्रदाय को ही नहीं दिया जा सकता। सदियों से आदमी जैसा का तैसा बना हुआ है। भौतिक प्रकृति पर विजय पाने और फलस्वरूप अधिक ऐशो-आराम की जिन्दगी बसर कर सकने की दृष्टि से ये सब बातें सही हो सकती हैं, किंतु जहाँ तक मानव के मस्तिष्क व सांस्कृतिक उपलब्धियों का संबंध है, उनमें किसी प्रकार की उन्नति नहीं हुई है। इसी का परिणाम है कि इतिहास की पुनरावृत्ति होती दिखती है। भूतकाल में सभी साम्राज्यवादी शक्तियों ने इन्हीं भावों का प्रयोग किया है। अपनी विस्तारवादी नीति, नृशंस लूटपाट को नैतिकता का जामा पहनाकर अपनी बुद्धि को शांत करने का

प्रयास करते हैं। विगत तीन शताब्दियों में संसार के असभ्य लोगों को सभ्य बनाने के नाम पर और इस सिद्धांत की दुहाई देकर कि संसार के अन्य भागों में अंधकार में काम करने वाले 'दुपायों' को आदमी बनाने का भार श्वेत लोगों के कंधों पर है, यूरोपीय शक्तियाँ दक्षिणी व उत्तरी अमरीका, अफ्रीका तथा एशिया में विनाश और मृत्यु का संदेश लेकर अपने साम्राज्य स्थापित करती हुई, भूखंडों को उजाड़ती हुई और कहीं तो वीरान करती रही हैं। ईसाइयत और इस्लाम ने भी अपने विस्तार के लिए किन्हीं श्रेष्ठ साधनों का अवलंब नहीं किया (इतिहास साक्षी है), किंतु घोषणा सदा यही की कि 'काफिरों' को 'जादू-टोने' के जंगली विश्वासों से निकालकर 'सच्चे खुदा' के पास ले जाया जा रहा है। दूसरे शब्दों में कहा जाए तो 'दोजख' से 'मुक्ति' दिलाकर 'बहिश्त' पहुँचाने के लिए।

महमूद गजनवी के बहकावे में

मेरे सामने अपने देश के इतिहास का एक विश्वसनीय उदाहरण उपस्थित है। सोमनाथ के मंदिर की अतुल संपत्ति की कहानी सुनकर महमूद गजनवी ने मंदिर को लूटने के इरादे से चढ़ाई की। उसे अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए इस देश के पंजाब, राजस्थान तथा सौराष्ट्र की हजारों मील भूमि को पार करना पड़ा। ये कोई निर्जन प्रदेश नहीं थे। वहाँ वीर पुरुषों का वास था और अनेक छोटे-छोटे राज्य थे, जो गुजरात के शासकों से शिथिल निष्ठा से बँधे हुए थे। यह एक तथ्य है, जो विशेष रूप से राजस्थान और सौराष्ट्र के छोटे-छोटे राज्यों के बारे में तो सत्य है ही। कहा जाता है कि गुजरात का प्रभुत्व लगभग पूर्व में अजमेर तक, उत्तर में कच्छ तक, दक्षिण में कल्याण तक तथा पश्चिम में समुद्र तक व्याप्त था। यदि इन छोटे-छोटे राजाओं ने महमूद का विरोध करने का निश्चय किया होता, तो सोमनाथ तक उसका पहुँचना असंभव ही होता। इसके अतिरिक्त राजस्थान का रेगिस्तान उसके मार्ग में सबसे बड़ी बाधा थी। यदि उसने विस्तीर्ण रेगिस्तान, जहाँ व्यवस्थित सड़कें नहीं थीं, को पार करने का इरादा किया होता, तो वह भटक गया होता। आश्रय, भोजन व पानी के अभाव में उसकी सेना संकट में पड़ गई होती, किंतु एक सफल आक्रमणकारी के समान उसने घोषणा की कि वह समस्त छोटे-छोटे राजाओं का मित्र है और गुजरात के साम्राज्यवादी जुए से उनको 'मुक्ति दिलाने' के विशेष उद्देश्य से आया है। 'मुक्ति' शब्द ने जादू का काम किया। मार्ग के राजा उसके बहकावे में आ गए तथा उन्होंने सामना करने के स्थान पर महमूद को हर

प्रकार की सहायता देने का निश्चय किया। आगे की कथा सबको पता ही है, इसे फिर से कहने की कोई जरूरत नहीं। महमूद की हार्दिक इच्छा पूर्ण हो गई, किंतु 'मुक्ति' के भ्रम में उलझे राजाओं को पता चल गया कि उसका अर्थ अपने आत्मीयों व संबंधियों से 'मुक्ति' मिलने के अतिरिक्त कुछ नहीं था, साथ ही विदेशी दासता की निर्दय जंजीरें, जो कभी टूटनेवाली नहीं थीं, उन्हें जकड़ लेनेवाली थीं। मानो वे 'जीवन' से मुक्त होकर 'बे रोक-टोक' विनाश और मृत्यु के मुँह में चले गए।

इतिहास दोहरा रहा है

लगता है, इतिहास अपने को दोहरा रहा है। समस्त प्रकार के विरोध को प्रभावहीन कर और सामूहिक हत्याकांडों तथा असभ्य बर्बरताओं को, निर्बलों की सहायता, मानवता, सुखी-संपन्न जीवन की स्थापना व विश्वशांति की खोखली बातों के झीने पर्दे से ढककर आक्रमणकारियों की विस्तारवादी योजनाओं की पूर्ति के लिए इस शब्द का आज फिर से प्रयोग किया जा रहा है। यह सब मानव की लिप्सा, विस्तावरवादी वृत्ति तथा निरकुंशता का ही नया रूप है, जो आज खुल कर तिब्बत में मृत्यु का तांडव रच रहा है।

इतिहास का अध्ययन वर्तमान पीढ़ी के मार्गदर्शन के लिए है। उसकी शिक्षा साफ और स्पष्ट है। तिब्बत में चीनी विजय पर खुशियाँ मनानेवालों के लिए तथा अपने इस देश में भी इसी प्रकार की 'मुक्ति' का स्वप्न देखनेवालों के लिए इतिहास का यह सबक है।

रूसियों को संकेत

इतिहास की रूस के लिए भी शिक्षा है। तिब्बत की घटनाओं से वहाँ के नेता प्रसन्न हो सकते हैं। हो सकता है, वे सोच रहे हों कि उनका मित्र, संभवतः अनुचर (चीन) अपना कार्य अच्छी प्रकार कर रहा है और विस्तृत क्षेत्र में सोवियत प्रभाव फैला रहा है, किंतु यह भूलना नहीं चाहिए कि चीनियों के रग-रग में अहंकार, अहंमन्यता और हठवादिता कूट-कूट कर भरी हुई है। अतीतकालीन व्यापक चीनी साम्राज्य का आदर्श चीनी भूले नहीं हैं। यदि ऐसे चरित्र वाले एक अनुचर या यहाँ तक कि एक मित्र का दिमाग मिलनेवाली विजयों से फिर जाए, तो वह स्वयं रूस व रूस की प्रभुता के लिए खतरा सिद्ध हो सकता है तथा कालांतर में यह भी असंभव नहीं कि आज का अनुचर कल स्वामी बन जाए, अति नृशंस स्वामी। ऐसी

बातें पहले भी हुई हैं, तो अब क्यों नहीं हो सकतीं? आदमी की प्रकृति सदियों के बाद भी वैसी ही है। इसलिए इतिहास की पुनरावृत्ति असंभव नहीं है।

समय रहते उपाय किया, तो हो सकता है कि रूस इस हानि से अपनी रक्षा कर सके। तिब्बत कांड ने उसे एक अनुपम अवसर प्रदान किया है। यदि आज रूस के नेता हस्तक्षेप कर चीनी विस्तारवाद को रोकते हैं और तिब्बत में दलाई लामा के न्यायपूर्ण सुप्रतिष्ठित शासन को बनाए रखकर उसकी स्वाधीनता के जामिन रहते हैं, तो चीन पर अंकुश रखने में यथेष्ट सफलता प्राप्त होगी। इससे भी बड़ी बात यह है कि दोनों गुटों के बीच विद्यमान संदेह, भ्रांति तथा पारस्परिक अविश्वास का वातावरण समाप्त हो जाएगा, जिसके परिणामस्वरूप विश्व-शांति का मार्ग प्रशस्त होगा तथा उस तनाव का अंत होगा, जिसके कारण मानवता बुरी तरह त्रस्त है।

यह सब जिनसे संबंधित है, वे क्या इतिहास से उपयुक्त शिक्षा ग्रहण करेंगे? यदि वे ऐसा करते हैं तो मानवता का संरक्षण होगा, अन्यथा हमें एक सुंदर संसार की स्थापना के लिए तूफानों के बीच एक बड़े आकस्मिक संकट का सामना करने के लिए कमर कसनी होगी।

१६. विश्वशांति अजेय राष्ट्र शक्ति से

(‘पांचजन्य’, ३० जनवरी १९६०)

हम आज कोलाहलपूर्ण वातावरण में रह रहे हैं। सभी राष्ट्रों के भाग्याकाश पर युद्ध के भयंकर बादल मँडरा रहे हैं और विध्वंसक तत्त्व संसार का सर्वनाश करने के लिए कटिबद्ध दिखाई देते हैं। उस सर्वनाश से बचने और यदि संभव हो सके तो उसके कारणों को जड़-मूल से समाप्त करने के लिए सभी लोग प्रयत्नशील हैं। समस्त मानव-समाज में शक्ति और सौहार्द उत्पन्न करने के उनके प्रयास किस सीमा तक सफल हो सकेंगे, यह कहना कठिन है, पर एक सुंदर सामंजस्यपूर्ण संसार की निर्मिति के लिए अपने सद्प्रयासों को जारी रखते समय हम समय के वर्तमान संकेतों की उपेक्षा नहीं कर सकते। एक छोटी सी चिंगारी भी विश्वव्यापी दावाग्नि का रूप धारण कर हमें अपनी लपटों में समेटकर, हमारे अस्तित्व को खतरे में डाल सकती है।

तटस्थता की नीति

इस भयंकर संभाव्य स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए हमें यह विचार करना होगा कि इस परिस्थिति का सामना करने के लिए हमारी सिद्धता है भी या नहीं। हम अपने राष्ट्रीय स्वत्व का संरक्षण कर संसार में सम्मानपूर्ण स्थान प्राप्त कर सकते हैं या नहीं। इसका एक उपाय यह हो सकता है कि विश्व में अपना प्रभुत्व स्थापित करने के लिए संघर्षरत दोनों शक्ति-गुटों से हम अपने आपको अलिप्त रखकर तटस्थता के मार्ग का अनुकरण करें। सैद्धांतिक दृष्टि से तटस्थता बिल्कुल ठीक है, परंतु जीवन की कठोर वास्तविकता में यह संभाव्य नहीं दिखती। यदि दुर्भाग्य से युद्ध हुआ ही, तो संपूर्ण विश्व उससे प्रभावित होगा। कोई राष्ट्र चाहते हुए भी उससे बच नहीं सकेगा। आज यदि संसार की बात एक ओर रख कर भी विचार करें, तो दिखाई देगा कि हम पूर्ण तटस्थ नीति का अवलंबन नहीं कर पा रहे हैं। ऐसा करना हमारे लिए अनेक कारणों से संभव नहीं हो पा रहा है। प्रथम तो हम तथाकथित राष्ट्रमंडल से संबंधित हैं। दूसरे, संसार के सब राष्ट्र आज परस्परावलंबी हैं। तीसरे, संघर्षरत दोनों ही गुट हमें अपने गुट में शामिल करने के लिए सचेष्ट हैं, ऐसा उनके व्यवहार से स्पष्ट दिखाई देता है। चौथे, कभी एक पक्ष का तो कभी दूसरे पक्ष का समर्थन कर, दोनों विरोधी गुटों का स्नेहभाजन बनने के प्रयास में हमारे नेताओं ने अंतर्राष्ट्रीय जगत् में अपनी एक विचित्र स्थिति बना ली है। (यद्यपि यह सब उन्होंने दोनों विरोधी गुटों के परस्पर मतभेदों को समाप्त कर, उन्हें 'जियो और जीने दो' के सिद्धांत के अनुसार अपने-अपने विशिष्ट मार्ग से संसार का कल्याण करने के लिए प्रेरित करने की विशुद्ध भावना से ही किया है) अंतिम और सबसे महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि इस भीषण तूफान में विरोधी लहरों के थपेड़े सहन करते हुए अडिग बने रहने के लिए जैसी प्रचंड राष्ट्रशक्ति की आवश्यकता होती है, वह हमारे पास है, ऐसा कहने की स्थिति में हम नहीं हैं।

हमारी कायरता न समझी जाए

युद्ध के संकट से बचने का दूसरा उपाय यह हो सकता है कि संसार के समस्त लोगों में शिक्षण द्वारा जीने और उत्कर्ष करने के प्रत्येक के अधिकार को मान्यता दिलाने के लिए उनका वर्तमान दृष्टिकोण बदलकर युद्ध की संभावना ही समाप्त कर दी जाए। यदि दूसरों की भूमि

हड़पकर अपने साम्राज्य के विस्तार की या अन्य उपायों द्वारा अपने प्रभाव-विस्तार की आकांक्षा को तिलांजलि देकर सभी लोग अपनी-अपनी सीमाओं के अंदर एक-दूसरे के प्रति स्नेह और सम्मान की भावना लेकर रह सकें, उस स्थिति में चिंता की कोई बात ही शेष नहीं रह जाती, साथ ही भविष्य में युद्ध की संभावना भी समाप्त हो जाती है।

हमारे सुयोग्य प्रधानमंत्री अपनी संपूर्ण शक्ति और अपूर्व उत्साह के साथ इस प्रयास में संलग्न हैं। हम उनकी निष्ठा और लगन पर पूर्ण आस्था रखते हुए आशा करते हैं कि वे अपने प्रयत्नों में सफल होंगे। पर हमें यह शंका होती है कि कहीं विश्व की ये शक्तियाँ उनके प्रयत्नों को 'किसी शक्तिहीन व्यक्ति द्वारा आत्मरक्षा के लिए विश्वशांति व मानवता आदि के नारे में भुलाने का प्रयास' मात्र न समझें।

निरी घोषणाएँ निरर्थक

वास्तविकता यह है कि जब तक मनुष्य भौतिक सुखों की प्राप्ति में संलग्न है, जब तक वह धन, शक्ति तथा प्रभुत्व जैसी सांसारिक बातों को ही सुख का आधार समझता है। यदि वह उसी स्थिति में बना रहना चाहता है जिसमें आज है, तब तक ऊँची-ऊँची घोषणाओं, शांति और सह-अस्तित्व के नारों अथवा कागजी संधियों पर विश्वास नहीं किया जा सकता। जब तक अपने संपूर्ण दृष्टिकोण में ही परिवर्तन कर मनुष्य यह अनुभव नहीं करता कि सच्चा सुख बाह्य वस्तुओं में नहीं, उसके अंतर्मन में निवास करता है और समस्त सांसारिक ऐश्वर्य और आकांक्षाओं को ठोकर मारकर उस आत्मा का, जो सनातन सुख और आनंद का स्रोत है, साक्षात्कार करने के लिए तत्पर नहीं होता, तब तक केवल शांति-वार्ताओं और कागजी संधि-पत्रों के द्वारा विश्व भ्रातृत्व, शांति या समृद्धि की आशा करना व्यर्थ है, परंतु वर्तमान समय में मनुष्य के दृष्टिकोण और समझदारी में इस प्रकार के व्यापक परिवर्तन की आशा करना, आसमान के तारे तोड़ लाने के समान ही होगा।

संघर्ष से भी शांति संभव है

ऐसी परिस्थिति में इस प्रकार के समझौतों और संधिपत्रों को प्रभावी बनाने तथा वादों और घोषणाओं को क्रियान्वित करने के लिए, उनके पीछे कुछ मान्यताओं की आवश्यकता होती है। दुर्भाग्यवश आज ऐसा प्रतीत होता है, मानो युद्ध से मुक्ति और शांति की प्राप्ति का एक ही उपाय

शेष रह गया है और वह है संघर्ष के लिए तत्परता। संभव है, हमें यह विचार अच्छा न लगे। यह भी कहा जा सकता है कि उपर्युक्त तर्क तो हमें ऐसे दुश्चक्र में फँसा देगा जिसमें युद्ध की समाप्ति के लिए युद्ध अनिवार्य बन जाए और मानव का संहार और विध्वंस अनंतकाल तक इसी प्रकार चलता रहे।

पर यदि हम स्वप्नलोक में विचरण करना और केवल मात्र तर्क-कुतर्कों का सहारा छोड़कर, कठोर वास्तविकता के धरातल पर विचार करें तो हमें यह मानना पड़ेगा कि युद्ध करना पाप है, तो दुष्ट शक्तियों के हाथों मानवता को कराहते देखकर भी उसे असहाय छोड़ देना महापाप है। वर्तमान परिस्थितियों में युद्ध की सिद्धता ही ऐसी परिस्थिति निर्माण कर सकती है, जो विश्वशांति और सह-अस्तित्व की समस्त घोषणाओं और संधियों पर व्यवहार करने के लिए लोगों को प्रेरित कर सके और विश्व-भ्रातृत्व और शांति-स्थापन के लिए उन्हें बाध्य कर दे।

जब अन्य उपाय व्यर्थ हो जाते हैं, तब काँटे को निकालने के लिए काँटे का और एक विष का प्रभाव नष्ट करने के लिए दूसरे विष का आश्रय लेना पड़ता है। ठीक उसी प्रकार प्रभुत्व और साम्राज्यवादी आकांक्षाओं की पूर्ति के लिए लड़े जानेवाले युद्धों को समाप्त करने और मानव के द्वारा मानव के उत्पीड़न का अंत करने के लिए हमें स्वाधीनता के संघर्ष के लिए सिद्ध होना ही होगा। इसका अर्थ होगा युद्ध का अंत करने के लिए युद्ध की सिद्धता।

तीसरा भी एक उपाय है। विश्व भी उसे मान्यता देता है, वह यह कि एक ऐसी अजेय शक्ति का अर्जन करें, जिसके द्वारा हम अपनी बातों और दावों को युद्धपिपासुओं से मनवाने में समर्थ हो सकें।

ये सभी बातें एक ही निष्कर्ष प्रस्तुत करती हैं कि हम एक अजेय राष्ट्रीय शक्ति खड़ी करें। इसके अभाव में विश्व-संघर्ष से अपने को अलिप्त रखने या परिस्थितिवश उसमें उलझने के लिए बाध्य होने पर उस तूफान का सफलतापूर्वक सामना कर अपने अस्तित्व और सम्मान का संरक्षण करना हमारे लिए कदापि संभव न होगा।

आज की स्थिति

समय की इस आवश्यकता को ध्यान में रखकर जब हम आज की अपनी परिस्थिति का विचार करते हैं, तब बड़ा ही निराशाजनक चित्र

दिखाई देता है। आपस में ही हम इतने अधिक विभक्त होते जा रहे हैं, जितने इसके पूर्व के इतिहास में कभी भी नहीं थे। सभी पक्ष, जाति, संप्रदाय के लोगों के व्यवहार, मन और बातें एक-दूसरे के प्रति घोर घृणा और विद्वेष से अभिभूत हैं। देश के अंदर इतने राज्यों का निर्माण इस घृणा और द्वेष को अधिकाधिक प्रखर बनाकर हमारी राष्ट्रीयता की जड़ों पर ही कुठाराघात कर रहा है। विघटनवादी कार्यों में आशातीत उत्साह दिखाई देता है और जहाँ एकता या सामूहिक उत्कर्ष का प्रश्न आता है, वहाँ न कोई प्रेरणा दिखाई देती है, न कोई सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना। राष्ट्रीय उत्थान के महत्त्वपूर्ण कार्य के लिए लोगों में कार्य करने की इच्छा ही समाप्त हो गई है। फिर संपूर्ण राष्ट्र के पुनरुत्थान के लिए त्याग और बलिदान करने का भाव आए भी कैसे? हमें यह स्थिति समाप्त कर संपूर्ण भारत में एक राष्ट्रीय भाव का जागरण करना होगा।

राष्ट्रशक्ति खड़ी करें

इसका एकमात्र उपाय यह है कि मातृभूमि के प्रति समर्पण का भाव जगाया जाए, जिससे अपने राष्ट्रीयत्व का साक्षात्कार कर युगानुयुग से चली आई हुई अपनी पुनीत संस्कृति के प्रति श्रद्धा निर्माण की जा सके। धर्म और संस्कृति के प्रति अश्रद्धा निर्माण करनेवाले समस्त तत्त्वों को नष्ट कर ऐक्य के इस महान सूत्र को फिर से सुदृढ़ करना होगा। सब प्रकार के मिथ्या, अशास्त्रीय, एवं अनैतिहासिक क्षेत्रीय राष्ट्रवाद या मिश्रित संस्कृति के सिद्धांतों के स्थान पर, इस शुद्ध भाव की प्रतिष्ठा करनी होगी कि हिंदुस्थान की संस्कृति हिंदू-संस्कृति है, यहाँ की राष्ट्रीयता असंदिग्ध रूप से हिंदू-राष्ट्रीयता है और विभिन्न मत-मतांतरों के होते हुए भी सभी को इसे अंगीकार करना ही होगा। हाँ, इसमें किसी की उपासना-पद्धति पर कोई आँच नहीं आनी चाहिए।

एक देश, एक संस्कृति, एक परंपरा, समान श्रद्धा और समान आदर्शों की सुदृढ़ नींव पर प्राचीन काल से चले आए इस महान और सनातन राष्ट्र के पुनर्निर्माण के लिए, हमारे जीवन को परिचालित करनेवाले 'राज्य' को भी तदनुरूप ढालना आवश्यक है। समाज जीवन में छिन्न-विच्छिन्नता निर्माण करने वाले वर्तमान संघात्मक संविधान को एकात्मक स्वरूप प्रदान कर संपूर्ण देश के लिए एक राज्य, एक विधानपरिषद एवं एक कार्यपालिका का निर्माण समय की महती आवश्यकता है।

एकात्मक शासन के द्वारा उत्पन्न हमारा यह सुसूत्र राष्ट्रीय जीवन ही देश में एकात्मता का भाव जागृत कर राष्ट्र के प्रति उत्कट श्रद्धा के भाव जगा सकेगा और यही राष्ट्रीय शक्ति हमें वैभव प्रदान कर समस्त विश्व में सम्मान और सुरक्षा प्रदान कर सकेगी।

१७. राष्ट्रीय एकता के बाधक तत्त्व

(पांचजन्य, 'राष्ट्रीय एकता' विशेषांक, १९६०)

जब हम 'हिंदू-राष्ट्र' का उच्चारण करते हैं, तब अनेक लोगों के सम्मुख प्रश्न उठ खड़ा होता है कि भारत में रहनेवाले उन लोगों का क्या होगा, जो आज अपने आपको हिंदू नहीं कहते? हम समझते हैं कि उन्हें अपने आपको हिंदू कहना चाहिए तथा हिंदू परंपरा का अभिमान लेकर चलना चाहिए, अर्थात् वे प्रभु यीशु या हजरत मुहम्मद के उपासना-मार्ग पर चलने को स्वतंत्र हैं, किंतु उपासना के साथ-साथ जीवन का संपूर्ण व्यवहार बदलने की आवश्यकता नहीं है।

अतीत की बात

स्वाधीनता-प्राप्ति के लिए कुछ लोगों ने भारत में वास करनेवाले समस्त समाजों में एकता स्थापित करने की कोशिश की। देश में वास करनेवाले यहूदी व पारसी इस देश के प्रति भक्त रहे। बचे केवल मुसलमान और ईसाई। ईसाइयों ने उस समय अधिक गड़बड़ नहीं की, क्योंकि वे अंग्रेजी शासन को स्व-बांधवों का शासन समझते थे। इसलिए वे उनके शासन को दृढ़ बनाने में सहयोग ही देते थे। अंग्रेज तो ईसाइयों को प्रोत्साहन देते ही थे। सन् १८५७ के स्वातंत्र्य संग्राम में ईसाई मिशनरियों द्वारा सेना में घूम-घूमकर ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति वफादारी का प्रचार किया गया। इसके अतिरिक्त स्वातंत्र्य-संघर्ष में रत लोग भ्रांत धारणा रखते थे कि प्रजातंत्र के अगुआ, यूरोप के सहधर्मी ईसाई प्रचारक, स्वतंत्रता और जनतंत्र के ही प्रचारक हो सकते हैं। तब रही केवल मुसलमानों की समस्या। उसी को सुलझाने में लोग जुट गए। समस्त इतिहास की उपेक्षा कर हिंदू-मुस्लिम एकता के प्रयास प्रारंभ हो गए। यहाँ तक कि उत्तरप्रदेश में मुसलमानों से जनसंपर्क की योजनाएँ बनीं।

अनैक्य के मूल में

भारत के मुसलमानों और ईसाइयों के जीवन में आज जो विदेशी भाव दिखाई देता है, उसके ऐतिहासिक कारण हो सकते हैं, क्योंकि भारत में इन दोनों ही पंथों का प्रसार परकीय राजसत्ता के साथ, उसके साधन के रूप में तथा उसकी छत्रछाया में हुआ। इन विदेशियों ने अपनी उपासना-पद्धति की श्रेष्ठता प्रतिपादित कर अपने मत का प्रसार नहीं किया, अपितु आतंक और अत्याचार का सहारा लेकर यहाँ के राष्ट्रीय जनों का उनकी प्राचीन परंपरा से विच्छेद उन्हें अपनी सत्ता के समर्थक बनाने के उद्देश्य से किया। जीवन के भय तथा सत्ता के लोभ के कारण अनेक लोगों ने इन उपासना-पद्धतियों को स्वीकार किया, साथ ही वे विदेशियों की जीवन-पद्धति के भी अनुरागी बन गए। यह सब हमारी गुलामी का ही द्योतक है।

पूर्वजों का धर्म स्वीकार करें

मुसलमान भारत में आक्रमणकारी के रूप में आए। उन्हें यहाँ के श्रद्धा-स्थानों से सदा विरोध रहा। उसी का परिणाम भारत-विभाजन के रूप में सामने आया। अमरीका में गोरे और नीग्रो रहते हैं। मेरे एक मित्र ने जो अमरीका होकर आए, बताया कि जब उन्होंने एक नीग्रो से पूछा कि गोरे तुम पर इतने अत्याचार करते हैं, फिर भी तुम अमरीकी राष्ट्र के अंग क्यों बने हुए हो? जिसे अत्यल्प सभ्य समझा जाता है, ऐसे नीग्रो ने उत्तर दिया कि यह हमारा घरेलू सवाल है। किंतु भारत के मुसलमानों में ऐसी राष्ट्रभक्ति नहीं है। वे स्वयं को विजेता के रूप में देखते रहे। ऐसे लोगों को ठीक रास्ते पर लाने के दो ही तरीके थे। एक तो यह कि उनसे कहा जाता कि अब तुम्हारे बादशाहत के दिन चले गए, अब भारत से प्रेम करो और दूसरा तरीका यह था कि उनसे कहते कि कुछ मुसलमानों ने आक्रमण कर तुम्हें बलात् हिंदू से मुसलमान बनाया था, अब वह जोर-जबर्दस्ती के दिन समाप्त हो गए हैं, तुम पुनः अपने पूर्वजों के धर्म को स्वीकार करो। किंतु इसके लिए सत्य, निष्ठा तथा साहस की आवश्यकता थी, जिसकी नेताओं में कमी थी। उन्होंने यह साहसपूर्ण बात कहने के स्थान पर कहा कि यदि मुसलमान मंदिर तोड़ते हैं तो तोड़ने दो, यदि बहू-बेटियों को ले जाते हैं, तो ले जाने दो। लड़के लड़के रहेंगे, लड़कियाँ लड़कियाँ रहेंगी। एक नेता ने तो यहाँ तक कहा– 'यदि हिंदू-मुस्लिम एकता के बिना स्वतंत्रता मिली,

तो मैं उसे स्वीकार नहीं करूँगा। 'स्वातंत्र्य प्रेमी होने के कारण हिंदू ने इस प्रकार के नेताओं की बातें मानी', किंतु क्या इस प्रकार के नेताओं को दूरदर्शी कहा जा सकता है?

सन् १९४७ में जब स्वातंत्र्य मिला, तब भारत में हिंदू और मुसलमानों के बीच सर्वाधिक विद्वेष था। उतना गत १५० वर्षों के इतिहास में कभी नहीं रहा। वास्तविकता यह है कि अंग्रेज हिंदू-मुस्लिम एकता के कारण नहीं गए, वरन् द्वितीय महायुद्ध के कारण उपस्थित परिस्थिति से बाध्य होकर गए, परंतु मुसलमानों के इंजेक्शन लगाकर स्वाधीनता प्राप्त करनेवाले नेताओं ने राष्ट्र का तेजोभंग कर दिया।

गुलामी का परित्याग

आज जब हम सब प्रकार की गुलामी से मुक्त होने का प्रयत्न कर रहे हैं, हमें उन सब बातों को छोड़ना होगा जो हमारे ऊपर हमारी अनिच्छा से लादी गई थीं। हाँ, यदि किसी को इन उपासना-पद्धतियों में वास्तविक श्रद्धा है, तो अपने व्यक्ति-धर्म के नाते उनका पालन कर सकता है, किंतु अपने कुल-धर्म एवं राष्ट्र-धर्म का अनुसरण करते हुए उसे अपने आपको हिंदू कहना चाहिए तथा तदनुसार आचरण करना चाहिए।

उपासना छोड़ना आवश्यक नहीं

प्रत्येक व्यक्ति के तीन धर्म होते हैं – व्यक्ति-धर्म, कुल-धर्म तथा समाज-धर्म या राष्ट्र-धर्म। व्यक्ति-धर्म का आधा भाग उसके द्वारा स्वीकृत उपासना-पद्धति है। अतः उसका महत्त्व एक षष्टांश से अधिक नहीं होना चाहिए। एक षष्टांश के लिए शेष पाँच षष्टांशों के प्रति हम बेईमान क्यों हों?

राष्ट्र-धर्म अपरिवर्तनीय

उपासना-मार्ग के परिवर्तन से राष्ट्र-धर्म या कुल-धर्म तो नहीं बदलता। फिर ईसाई या मुसलमान अपने नाम राम, कृष्ण, अशोक, प्रताप आदि न रखकर जॉन, थॉमस, अली, हसन, इब्राहीम आदि क्यों रखते हैं? उनके खून में उन विदेशियों का कोई अंश नहीं है। चर्च या मस्जिद जाने से हमारा खून विदेशी नहीं हो जाता। अतः हमारे अंतःकरण के भाव भी विदेशी नहीं होने चाहिए।

१८. समय की माँग

(पांचजन्य, 'राष्ट्रीय सुरक्षा' अंक, १६ अक्तूबर १९६०)

उत्तम राज्य के लक्षणों में शांति सुव्यवस्था और परकीय आक्रमणों से संरक्षण करने की क्षमता व तत्परता को सर्वश्रेष्ठ कहा जाता है। परकीय आक्रमण होने पर सुरक्षा करने की अपेक्षा कोई आक्रमण ही न हो, ऐसी व्यवस्था करना अधिक महत्त्वपूर्ण और श्रेष्ठ है। उचित नीति के अवलंब से जगत् के अन्यान्य जनसमूहों से अपना संबंध स्नेहपूर्ण तथा परस्पर आदरयुक्त बनाने का प्रयास करना उक्त व्यवस्था का एक महत्त्वपूर्ण अंग है, किंतु केवल नीति और चातुर्य से इस प्रकार के पारस्परिक संबंधों को सदा के लिए स्थायी रखने की संभावना कम ही रहती है। अतः नीतिचातुर्य के पीछे, अपने राष्ट्र की ऐसी शक्ति खड़ी करना अनिवार्य रहता है, जिसे देखकर परस्पर स्नेह एवं अनाक्रमण के संबंधों का पालन करने के लिए अन्य समाज बाध्य हों। दंड देने की शक्ति के अभाव में कोरी नीतिमत्ता के, मानवतावाद के शुष्क शांति-पाठ से अपने ही समाज में परस्पर सद्व्यवहार बनाए रखना कठिन होता है, तब भिन्न-भिन्न स्वार्थों से भरे भिन्न-भिन्न जनसमूहों में, राज्यों में परस्पर स्नेह, आदर अथवा अनाक्रमण का वायुमंडल बनाने में तथा उसे स्थायी रखने में केवल शांति-पाठ कितना निरर्थक और निरुपयोगी सिद्ध होगा, यह समझना कठिन नहीं है। अतः राष्ट्र की अपनी जागृत शक्ति सुरक्षा का एकमात्र आधार होता है।

अपनी शक्ति को पहचानें

अपने राष्ट्र की दृष्टि से विचार करने पर इस बात का स्पष्ट अनुभव होता है कि शक्ति के पुनर्निमाण की कितनी आवश्यकता है। गत कई शताब्दियों से परकीय सत्ता के अधीन होने के कारण अपना भार स्वयं सँभालने के दायित्व का हमें विस्मरण हो गया है। उसके मार्ग और साधन ध्यान में आते ही नहीं। किंकर्तव्यविमूढ़ता और निराशा में से वैफल्य का अनुभव करते हुए, अपने अंदर औरों की तुलना में शक्ति का अभाव है, ऐसा मानकर चलने के कारण किसी भी मूल्य पर शांति बनाए रखने के प्रयास होते हैं। इस कृत्रिम शांति हेतु अपनी भूमि, धन और प्रतिष्ठा तक की बलि चढ़ाने की लज्जास्पद अवस्था सबके अनुभव में आ रही है। यह अवस्था पराभव की है, जागतिक शांति-साधना की नहीं। इस तथ्य को समझना, स्वीकार करना आवश्यक है। भ्रम से इसी नीति को श्रेष्ठ मानकर

वास्तविकता की ओर से मुँह मोड़ लेने से सर्वनाश के अतिरिक्त और कुछ हाथ नहीं लग सकता।

प्रतिकार की भावना दृढ़ करें

जैसे इस निराशा का एक कारण नेतृत्व में सच्चे धैर्य व साहस का अभाव है, वैसे ही अपने देश की वर्तमान परिस्थिति भी है। स्वार्थ, सत्ता-लोलुपता, दंभ एवं तदुत्पन्न आंतरिक विच्छेद, चरित्र-हीनता और राष्ट्र का यथार्थ परखकर, तदर्थ संपूर्ण शक्ति तथा बुद्धि से प्रयास करने की तत्परता का अभाव, शत्रु-मित्र के विवेक का अभाव इत्यादि अनेकविध दुर्गुणों से राष्ट्र शरीर खोखला हो रहा है। देश की सीमाओं पर अमित्र शक्तियों का दबाव बढ़ रहा है। अपनी सीमा लाँघकर आक्रमण करने की धृष्टता वे निःशंकता से कर रहे हैं और स्वार्थरत, मोहग्रस्त समाज अपने सत्यस्वरूप तथा सामर्थ्य की विस्मृति में डूबा हुआ, अंतर्कलहों से अपनी प्रतिकार-शक्ति को नष्ट कर रहा है। प्रतिकार की सद्भावना भी अंतःकरण से लुप्तप्राय होती जा रही है। शत्रु अत्यंत सतर्क, साहसी तथा शस्त्रास्त्रसंपन्न है। साथ ही वह राज्य-विस्तार की उत्कट इच्छा लेकर अपने देश को जीतने पर तुला हुआ है। यह भी निराश मनोवृत्ति का भीतियुक्त, पराभूत, आकांक्षाभिहत-हृदय का अति महत्व का कारण है।

अपने देश की आर्थिक विपन्नावस्था तथा सेना की अक्षमता को भी कुछ लोग निराशा का कारण बताते हैं, परंतु इसका योग्य विचार तथा मूल्यमापन नहीं किया जाता। इस प्रकार केवल वृथा भ्रम फैलाकर राष्ट्र को हतोत्साह करने का अनिष्ट प्रचार मात्र होता है।

उचित नेतृत्व की आवश्यकता

मेरी समझ में सेना निर्बल या अक्षम नहीं है। उचित नेतृत्व पाने पर अपने सेनाधिकारी से सामान्य सैनिक तक, सब असीम शक्ति, साहस एवं रण-चातुर्य प्रकट कर सकते हैं, इसका मुझे पूर्ण विश्वास है। कश्मीर का ही उदाहरण लें। उसकी पूर्ण मुक्ति न होने के लिए सेना की अक्षमता नहीं, वरन् देश के नेतृत्व की अयथार्थवादी नीति रही है। इसे सभी लोग जानते हैं।

आर्थिक विपन्नावस्था भी नेतृत्व की नीति का ही परिणाम है। अयथार्थवादी योजनाएँ समूचे देश को ऋणभार के नीचे दबाकर धराशायी बना रही हैं। समाजवाद की मृगमरीचिका, उत्पादन-वितरण के सब साधनों

को शासनांकित कर सामान्य जनसमाज के उत्साह को नष्ट कर रही है। जन साधारण में राष्ट्रभक्ति का पूर्ण उदय हो नहीं पाया, अपने दायित्व की पहचान भी नहीं हुई, ऐसी अवस्था में शासन केंद्रित अर्थव्यवस्था से उसका बचा हुआ थोड़ा-बहुत उत्साह भी नष्टप्राय है।

इस नीति को छोड़कर तथा प्रत्येक व्यक्ति की राष्ट्रभक्ति का आह्वान कर, यदि हम उसकी सर्वशक्तियों को विकसित होने की स्वतंत्रता प्राप्त करा सकें, तो आर्थिक विपन्नावस्था नष्ट करने के लिए उत्साहपूर्ण वायुमंडल बन सकेगा और पराभूत मनोवृत्ति का कारण भी दूर हो सकेगा।

वस्तुतः राष्ट्र का यश भौतिक साधनों पर उतना निर्भर नहीं होता, जितना राष्ट्र के व्यक्तियों की मनोभूमिका तथा सत्संकल्प पर होता है। अतः सर्वाधिक आवश्यकता जन-साधारण की मनोरचना को परिवर्तित करने की है।

एकात्मक संविधान चाहिए

आसेतु हिमाचल एक देश, एक संस्कृति, एक राष्ट्र का भाव प्रस्थापित करना आवश्यक है। राष्ट्रहित में व्यक्तिहित समाविष्ट हो, अतः राष्ट्रहित की उपासना सर्वोपरि जानकर उसमें संलग्न रहने का सद्भाव जगाना आवश्यक है। इस निमित्त उचित वायुमंडल बनाने के लिए भाषा, पंथ, जाति आदि विच्छेदकारी भावनाओं का निर्माण करनेवाली स्वायत्त या अर्ध-स्वायत्त प्रदेश रचना का सर्वथा त्याग करना होगा। एक देश, एक राष्ट्र तथा एक राज्य की एकात्मक शासन रचना ही स्वीकार करनी होगी। देशभर के जनतांत्रिक पद्धति से चुने हुए लोक प्रतिनिधियों की एक संसद तथा एक मंत्रिमंडल हो, जो देश की शासन सुविधा के अनुकूल विभागों में व्यवस्था कर सके। इस प्रकार यदि मध्यवर्ती शासन द्वारा नियुक्त योग्य विभागीय अधिकारी की देख-रेख में प्रत्येक विभाग का कार्य चलाने की रचना की गई, तो एकात्म राष्ट्रभाव का पोषण व संवर्धन होगा तथा विच्छेदकारी दुर्भावों को पनपने के लिए अवकाश ही नहीं मिलेगा।

विशुद्ध राष्ट्रभाव जगाएँ

राष्ट्रभाव सत्य पर आधारित होना आवश्यक है। इतिहास की कसौटी पर खरा उतरनेवाला, धर्म व संस्कृति से एकता जगानेवाला राष्ट्र-विचार ही स्वीकार्य है। इसी से स्वकीय-परकीय का भेद समझ सकने की यथार्थ शक्ति उत्पन्न हो सकती है। स्वराष्ट्र की विशुद्ध शक्ति का संग्रह

करने की प्रेरणा तथा दिशा प्राप्त हो सकती है। इतिहास तथा विश्व भर के विद्वानों के मतों का पूर्वाग्रह-दोष विमुक्त बुद्धि से विचार करने पर अपनी पवित्र मातृभूमि पर स्थिति यह राष्ट्र 'हिंदू-राष्ट्र' है, इस सत्य का साक्षात्कार होता है। इस सत्य की हत्या करने का जो योजनाबद्ध प्रयास गत कई दशकों से हो रहा है, उसी के परिणामस्वरूप आज की किंकर्तव्यविमूढ़ निराशावृत्ति सब क्षेत्रों में व्यक्त हो रही है। जनमानस में विफलता का संचार भी इसी कारण हो रहा है। देशव्यापी एकात्म राष्ट्र-जीवन का विस्मरण होने से स्वार्थ की वृद्धि हो रही है, राष्ट्रशक्ति छिन्न-विच्छिन्न होकर क्षीण हो रही है। देश में ही राष्ट्र-विनाशक तत्त्व अकुतोभय होकर गति कर रहे हैं। इसलिए सब अनर्थों को जन्म देनेवाले असत्य को, मोह-भ्रम को हटाकर– 'यह हिंदू-राष्ट्र है' इस पुनीत सत्य को ग्रहण करना, इसका उद्घोष करना और व्यक्ति-व्यक्ति को इससे परिपूरित करना अत्यावश्यक है।

इस रीति से विचारों व भावनाओं की शुद्धि अनिवार्य है, साथ ही सुचारु योजना और सुनीति का अवलंबन भी जरूरी है। तब कहीं पूर्ण समाज जागृत होकर एकात्म शक्ति का निर्माण होगा। इसी से राष्ट्र में उस सामर्थ्य, उत्साह, आत्मविश्वास और निर्भय पौरुष का आविष्कार होगा, जो सब आक्रामकों पर धाक जमाकर उन्हें शांति से रहने के लिए बाध्य कर सके।

व्यक्ति-व्यक्ति को जुटाना पड़ेगा

अतः निराशा या विफलता का भक्ष्य बनने का कोई कारण नहीं है। अपना पूर्व इतिहास यश, गौरव एवं पराक्रम से परिपूर्ण है। अपनी शक्ति आज भले ही अव्यक्त होगी, परंतु वस्तुतः वह प्रचंड है, अजेय है, सर्वविजयशालिनी है। उचित विचार उचित प्रचार तथा उचित व्यवहार से उसका आवाहन कर उचित नीति से उसे कार्य में लगाने से आज के संकटों का पूर्ण निराकरण तो होगा ही, भविष्य में निर्भय, निःशंक, सुरक्षित निरंतर उत्कर्ष का सम्मान्य जीवन भी प्रकट होगा। प्रत्येक हिंदू तन-मन-धन से इस सूत्रबद्ध एकात्म राष्ट्रीय सामर्थ्य का शीघ्रतिशीघ्र निर्माण करने में जुट जाए, यही समय की माँग है, परिस्थिति का संकेत है। फिर श्री भगवत्-कृपा से सुख-समृद्धि एवं वैभव-गौरव हमें प्राप्त होगा ही।

१९. भारत का सैनिकीकरण

('साहित्य लक्ष्मी', मुंबई, १ मई १९६३)

'महाराष्ट्र के सैनिकीकरण' का अर्थ ऐसा होगा कि संपूर्ण महाराष्ट्र के वे सब व्यक्ति, जो सेना के विविध विभागों में भरती किए जा सकते हैं, सेना में सम्मिलित हों और संपूर्ण प्रांत एक विस्तीर्ण सैनिक शिविर के रूप में दिखाई पड़े। परंतु यह व्यावहारिक नहीं लगता।

परिस्थिति के अनुरूप, जल, थल, वायु सेना की शक्ति में पर्याप्त विस्तार कर अप्रतिहत गति से विजयशाली सैनिक-शक्ति सन्नद्ध रखना प्रत्येक राष्ट्र की परम आवश्यकता होती है। सद्यः परिस्थिति में और आने वाले संभाव्य संकटों का दमन करने के लिए हमारी सेना की क्षमता का विस्तार पर्याप्त प्रमाण में बढ़ाना चाहिए। इसकी त्वरित आवश्यकता को ध्यान में रखकर ही यह आह्वान हुआ है। वह योग्य भी है। इस आह्वान को मैं इसी अर्थ में लेता हूँ।

सेना का पुनर्गठन हो

अंग्रेजों ने अपने शासनकाल में मराठा, महार, सिख, गोरखा, ऐसे विभिन्न सेना-विभागों की रचना की थी। इसके पीछे उनका हेतु यह था कि समाज में एकता का भाव न रहे। सेना के सामने देश-रक्षण का लक्ष्य, एक रचना और अभंग अनुशासन होने के कारण एकता की भावना प्रबल होने के लिए अनुकूल वातावरण रहता है। उसका लाभ हिंदुस्थान को न मिले व देश विभक्त रहे, ताकि वह दुर्बल बना रहे, जिससे उसे पराधीन रखा जा सके। अपनी सत्ता अबाधित रखना आसान हो, इस हेतु से परकीय राज्यकर्ताओं ने जो किया वह उनकी राजनीतिपटुता की दृष्टि से ठीक ही था, परंतु अब अपने देश का कारोबार चलाने, देश का संरक्षण व संवर्धन करने का सुयोग हमें प्राप्त हुआ है। यह कर्तव्य पूर्ण करने के लिए अपनी एकता को सुदृढ़ रखने व निरंतर वृद्धिंगत करने का प्रयत्न होना चाहिए। भारत यह एक इकाई है, वह सर्ववंद्य, भारत के पुत्र के नाते सर्वसमाज एक अभंग परिवार है। अपना एक इतिहास, परंपरा व श्रेष्ठ महापुरुषों की मालिका है। इस चिरंजीव व चिरंतन राष्ट्र का संरक्षण, संवर्धन, गौरव-संपादन प्रत्येक भारतीय का परम कर्तव्य है– ऐसी भावना सतत वृद्धिगंत होते रहना आवश्यक है। जाति, पंथ, भाषा, प्रांत, गुट, दल, संस्था आदि का अभिमान राष्ट्र के एकत्व में पूर्ण विलीन होना चाहिए। इसी हेतु से सेना की आमूलाग्र

पुनर्रचना करनी चाहिए। फिर 'महाराष्ट्र के सैनिकीकरण' के स्थान पर भारत के सैनिकीकरण का उद्घोष अधिक योग्य और उपयुक्त लगेगा।

साहित्य भी सहायक हो

केवल सेना के बल पर कोई भी देश स्वतंत्र रहकर गौरवता को प्राप्त नहीं होता। सेना का सामर्थ्य देश के प्रत्येक व्यक्ति की राष्ट्रभक्ति व ध्येयवादिता पर अवलंबित है। समाज ऐसा रहा तो उसका घटक सैनिक रूप में खड़ा होकर अजेय सामर्थ्य प्रकट करेगा। आज ऐसी राष्ट्रभक्ति समाज व उसके प्रमुख व्यक्तियों में बहुत ही क्षीण हो गई है। अतः सैनिकीकरण के पूर्व समाज के राष्ट्रीयकरण की आवश्यकता अनुभव में आती है।

साहित्य से राष्ट्रभक्ति की ज्योति प्रखर तेज से आलोकित होगी और उसमें से विजयी सैनिकी सामर्थ्य खड़ा होगा, इसके लिए आप जनता को आह्वान दे रहे हैं। इस पवित्र राष्ट्रकार्य में आपको यश प्राप्त हो, यही राष्ट्ररूप भगवान के चरणों में प्रार्थना करता हूँ।

२०. लाभ और वितरण पर नियंत्रण

('पांचजन्य', ३० अक्तूबर १९६७)

राजसत्ता और द्रव्योत्पादन– दोनों को विलग करने की दक्षता हिंदू संस्कृति ने ली है। धन एक शक्ति है। राजसत्ता और द्रव्योत्पादन के साधन एकत्र होने पर कितनी उन्मत्तता उत्पन्न हो सकती है, यह कोई भी समझ सकता है।

केंद्रीकरण हानिकर

एक ही व्यक्ति या व्यक्ति-समूह में दोनों शक्तियों के केंद्रित हो जाने से शेष समाज का सर्वथा दीन एवं गुलाम होकर पतित हो जाना अथवा अत्याचार की चक्की में पीसे जाने के कारण चिढ़कर विद्रोही बन जाना और उस कारण समाज की शांति तथा सुख का नाश होना स्वाभाविक है।

इस विप्लवावस्था से समाज को बचाकर चिरशांति देने हेतु राजसत्ता को धनहीन तथा धनयुक्त व्यक्ति को सत्ताहीन और दोनों को परस्परावलंबी व अन्योन्याश्रित करके दोनों पर त्यागी, स्वार्थनिरपेक्ष

व्यक्तियों का न्यायपूर्ण नियंत्रण स्थापित कर, अपनी समाज-रचना में हिंदू संस्कृति ने यह सुव्यवस्था करने की चेष्टा की कि सत्ताधारी या धनवान में से कोई भी बाकी के समाज से अन्यायपूर्ण व्यवहार कर उसे दुःखी न कर सके।

समाज ही स्वामी है।

सब व्यक्तियों को यही भावना धारण करनी चाहिए कि यह समाज ही अमूर्त परमात्मा का व्यक्त रूप है। परमात्मा इस जगत् का स्वामी है, इस दृष्टि से यह समाज रूपी परमात्मा इस राष्ट्र की सारी संपत्ति का स्वामी है। इस राष्ट्र का ज्ञान, सत्ता, धन उसी का है। व्यक्ति तो केवल स्वार्थनिरपेक्ष होकर शरीर, शक्ति, गुण, संपत्ति आदि के द्वारा इस परमात्मा की सेवा करने का अधिकारी है।

सत्ताधीश राज्य का उपभोगशून्य अधिपति, धन-प्राप्त करने वाला धन का उपभोग-शून्य रक्षक एवं संवर्द्धक है, इस प्रकार स्वार्थ-रहित होकर प्रत्येक ने अपने गुणादिकों से समाज की एकात्मता का साक्षात्कार कर परमात्मा की सेवा करना ही परम श्रेष्ठ कर्तव्य है।

उद्योगों में सहकार

समाज के विभिन्न घटकों की मूलभूत एकता में संघ का पूर्ण विश्वास होने के कारण हमारा ऐसा मत है कि आर्थिक विषमता को आवश्यकता से अधिक महत्त्व देकर लोगों में सतत-संघर्ष निर्माण करने की नीति देश की भलाई एवं उन्नति के लिए किसी भी प्रकार उचित या हितकर नहीं होगी।

परस्पर सहकार्य के आधार पर उद्योगों का निर्माण, लाभ का समुचित बँटवारा तथा उद्योगों पर राज्य का सूक्ष्म निरीक्षण रहने से देश में अधिक शांतिमय वातावरण निर्मित हो सकेगा।

स्वार्थसिद्धि की प्रबल प्रवृत्ति के नियंत्रण से देश में सुख व शांति प्रस्थापित होगी। किंतु यह तभी संभव है जब जनता समुचित रूप से शिक्षित एवं विशुद्ध चारित्र्य से युक्त हो।

२१. प्रसिद्धि की लालसा क्यों?

('पांचजन्य', दीपावली अंक, १९६८)

आज सभी व्यक्ति भिन्न-भिन्न समस्याओं पर विचार करते हुए राजनीतिक ढँग से सोचते हैं। वर्तमान दलों से यदि समाधान न हुआ तो लोग विरोधी दल में, उससे भी संतोष न हुआ तो स्वतंत्र दल में सम्मिलित होते रहते हैं। इसे 'राजनीतिक जागृति' कहा जाता है। प्रजातंत्र की सफलता का रहस्य प्रत्येक व्यक्ति के उत्तरदायित्व की भावना में है और उसे यदि 'राजनीतिक जागृति' कहा जाए तो उसका होना आनंद की बात है, किंतु राजनीतिक विचार का अर्थ चुनाव अथवा पक्षोपपक्ष की जय-पराजय ही रहता है। सब यही विचार किया करते हैं कि मैं विरोधी को चुनाव में किस प्रकार परास्त करूँ, कौन सा नया नारा देकर राजनीतिक चालबाजी करूँ।

मेरा विचार

मैं इस प्रश्न पर दूसरी दृष्टि से विचार करता हूँ। देश-सेवा अथवा समाज की उन्नति के लिए मान-सम्मान प्राप्त करना या मंत्री बनना ही एकमेव मार्ग है, मैं ऐसा नही मानता। राजनीतिक मत-भिन्नता के होते हुए भी स्वतंत्र रीति से लोगों को एकत्रित करके सब समस्याएँ हल की जा सकती हैं। घर की सारी समस्याएँ सबकी सद्‌भावना एवं सहयोग से हल की जा सकती हैं। वैदेशिक संबंधों को छोड़कर बाकी के प्रश्न Privately हल हो सकते हैं और होने भी चाहिए। राजसत्ता यदि प्रत्येक कार्य में टाँग अड़ाना प्रारंभ कर देगी तो वह व्यक्ति को कर्तव्यच्युत बनाना होगा। उससे जनता की कर्मचेतना नष्ट हो जाएगी, सब बातों में उसका हस्तक्षेप अनावश्यक एवं अवांछनीय होगा, क्योंकि व्यक्ति के जीवन की मौलिकता नष्ट करना ठीक नहीं है। प्रेरणा तो व्यक्तिगत होती है। उसे सामूहिक एवं सहकारिता के भाव पर आधारित बनाने के लिए प्रयत्न होना योग्य है। उस आधार पर स्वतंत्र रीति से कार्य हो तो अत्युत्तम। मेरा ऐसा मानना है कि यह तरीका बहुत अच्छा है। इससे व्यक्ति का आत्मविश्वास बढ़ता है, उसकी कर्त्तव्य-भावना जागृत होती है। मैंने अपना कर्त्तव्यपालन किया है यह मनोबल उत्पन्न होता है।

व्यक्तिगत प्रेरणा को सामूहिक रूप दें

जीवन के अनेक महत्त्वपूर्ण प्रश्न हैं, पर वे सभी राजनीतिक नहीं हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य, समाज-रचना, दरिद्रता आदि के प्रश्नों को सुलझाने के

लिए व्यक्तिगत प्रेरणा को सामूहिक रूप देना आवश्यक है। ये सार्वजनिक प्रश्न हैं, ये राज्य या किसी दल के एकाधिकार नहीं हो सकते। इनपर किसी की बपौती भी नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का यह कर्तव्य है कि इन्हें हल करने के लिए परिश्रम करे। सब सद्भावना से, सामूहिक प्रयत्न द्वारा अनुशासित रीति से जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रवृत्त हों। समाज-सेवा का भाव स्थायी होना चाहिए। वह हमारा इष्ट हो, मुखौटा नहीं, परंतु स्थिति यह है कि सब अपने-अपने स्वार्थ में लगे हैं। समाज सेवा का नाम लेकर राजनीतिक दृष्टि से कार्य होते हैं। लोग बोलते भी उसी दृष्टि से हैं। वे स्टंट खड़े करते हैं। उनमें सच्चाई नहीं होती। यदि राजनीतिक क्षेत्र में रहने से यही स्वभाव बन जाता हो तो राजनीति को दूर से नमस्कार कर निःस्वार्थ समाज-सेवा और निरपेक्ष राष्ट्र-चिंतन में अपने जीवन को लगा देना ही अच्छा है।

नाम नहीं, काम

संघ के रूप में हमने सेवा की यही प्रणाली प्रचलित की है। हम प्रसिद्धि के लिए कार्य नहीं करते। हमारे नाम का डंका बजे, यह हमारा उद्देश्य नहीं रहा। हमारा उद्देश्य तो सेवा का है। प्रसिद्धि से दूर रहना ही हमें इच्छित है। किंतु हमारे आज के राष्ट्रजीवन में ऐसा होता हुआ दिखाई नहीं देता। प्रदर्शन का भाव आ गया है। यदि कार्य एवं नाम का ढोल न बजाया जाए तो उस कार्य को 'गुप्त' कहा जाता है। यह अपनी संस्कृति को न समझने के ही कारण होता है। हमें अपना कर्तव्य करना चाहिए। कर्तव्यपूर्ति में व्यापार करना ठीक नहीं। नाम अथवा पद की लालसा व्यापार है। उसमें न दिल की सच्चाई होती है, न प्रेम होता है, न सेवा होती है। अपनी संस्कृति की शिक्षा के अनुकूल हम अपना नाम नहीं चाहते। हमारी इच्छा तो यह रहती है कि काम हम करें और नाम दूसरों का हो। इसी दृष्टि से हमने आज तक कार्य किया है। किंतु पाश्चात्य प्रणाली के संपर्क से यह भावना उत्पन्न हो गई है कि यदि नाम का डंका न बजा तो वह कार्य गुप्त है। हमने आज तक नाम की चिंता नहीं की। बड़प्पन मनुष्य को नहीं, राष्ट्र को अथवा ईश्वर को मिलना चाहिए। व्यक्ति या व्यक्तियों के गुट को बड़प्पन मिलना योग्य नहीं।

प्रसिद्धिलोलुप राजनीति से बचें

हम अभी भी चाहते हैं कि अपरिहार्य को छोड़कर प्रसिद्धि न हो।

कार्य को जानकर लोग उसकी सहायता करें, इतनी ही प्रसिद्धि हम चाहते हैं। यदि ऐसे निःस्वार्थ भाव से काम करने का निश्चय हो तो झगड़े अपने-आप नष्ट हो जाएँगे और संपूर्ण समाज के साथ ही राष्ट्र की भलाई का कार्य हो जाएगा। राजनीति में वे भाग लें, जिनके लिए वह आवश्यक हो। वैयक्तिक शक्तियाँ एकत्र कर, एकसूत्र एवं अनुशासित कार्य करने और स्वतंत्र रीति से आगे बढ़ने से सब कठिनाइयाँ दूर हो जाएँगी।

समाज-रचना का कार्य भी इसी प्रकार हो। उसमें व्यक्ति प्रमुख आधार हो, पैसा आदि अन्य बातें नहीं। राज्य समाज-रचना को न लादे। यह तो समुद्र के पानी को घड़े में भरकर पहाड़ की चोटी पर डालने जैसा होगा। समाज की रचना की जाए और समाज विकास का कार्य उसी प्रकार से हो, जैसा कि होता था। इसके लिए सब मिलकर प्रयत्न करें और सामूहिक जीवन की भावना को उत्पन्न करें। इस प्रकार मिलकर सहकार्य से चलने की वृत्ति से एक निर्णय पर आते हुए छोटे-मोटे मतभेदों को भूलकर सारी ताकत लगाकर उन समस्याओं को हल करें, जिनपर देश का सुख निर्भर है। वास्तविक रीति से यही श्रेष्ठ कार्य है।

नींव के पत्थर बनें

व्यक्तिगत प्रयत्न एवं सामूहिक भावना से कार्य होने की आवश्यकता है। इसी से व्यक्ति-व्यक्ति में राष्ट्र-जीवन का उत्तरदायित्व प्रकट होगा। उदाहरण के लिए साक्षरता-प्रभार की योजनाओं को ही लें। साक्षरता-प्रसार का अर्थ क्या नाम लिखना और पढ़ना सिखाना ही है? नाम यदि लिखना न भी आता हो, तो भी यह जानना कि मैं क्या हूँ, मेरे ऊपर कैसे संस्कार हैं और होने चाहिए; मेरा और समाज का संबंध क्या है – यह विचार लेकर समाज के लिए मरने की तैयारी रखने वाला व्यक्ति क्या शिक्षित से कम है? किंतु यह कार्य निःस्वार्थ देशभक्तों के व्यक्तिगत प्रयत्नों से ही संभव है। स्वार्थशून्य अंतःकरण से समस्याओं को हल करने के लिए लग जाना परमावश्यक है। आज देश को ऐसे ही कार्यकर्ताओं की आवश्यकता है। संघ ऐसे कार्यकर्ता तैयार करता है। उसके भीतर आकर आप सब लोग उसे और प्रभावी बनाएँ। आज नींव के पत्थर बनने वाले व्यक्ति चाहिए, क्योंकि उसके बिना शिखर नहीं ठहरेगा। उसे स्थिर रखने के लिए नींव का पत्थर अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। शिखर पर तो कौवे भी बैठ जाते हैं। नींव का पत्थर बनकर मैं सुदृढ़ भारत को खड़ा करूँगा और गौरव के साथ खड़ा हुआ भारत अटल शोभा को प्राप्त होगा, ऐसा हमारा विचार हो।

२२. परलोक और पुनर्जन्म

भौतिक जगत् का यह नियम सब लोग जानते हैं कि प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया अनिवार्यतः होती है। मनुष्य जगत् में प्रत्यक्ष रूप से यह अनुभव होता है कि जो जैसा करेगा, उसे वैसा भोगना पड़ेगा। प्रत्येक कर्म का तदनुरूप फल भोगना ही होता है। प्रत्यक्ष में हम यह देख सकते हैं कि कोई व्यक्ति यदि मद्यपान करे तो वह उन्मत्त होकर, स्मृति-ज्ञान नष्ट होने के कारण असंबद्ध बोलता है, लड़खड़ाते चलता है, न करने योग्य कार्य करता है, अनेक बार गंदगी में लोटता रहता है। कार्य का फल-भोग इस प्रकार प्रत्यक्ष देखने में आता है।

कई प्रकार के कर्मों का परिणाम तुरंत हाथों-हाथ मिल जाता है, किंतु अनेक कर्म ऐसे होते हैं कि जिनका फल कालांतर से, किन्हीं-किन्हीं का बहुत काल के पश्चात् दिखाई देता है। मनुष्य-जीवन में प्रतिदिन अनेक प्रकार के कर्म होते रहते हैं। शरीर, वाणी और मन से कर्मयोगी मनुष्य निरंतर कर्म करता ही रहता है। कर्म के बिना एक क्षण भी वह रह नहीं सकता। 'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।' यह वचन प्रत्यक्ष अनुभव का है। इन असंख्य कर्मों में से कुछ सद्यःफलदायी, कुछ विलंब से, परंतु इसी जीवन में फल देनेवाले होते हैं। तथापि अनेक कर्मों का परिणाम फल-भोग रूप में इस जन्म में अनुभव में नहीं आता। जीवन की समाप्ति के साथ सारे कर्म भी समाप्त हो जाते हैं, यह बात अशास्त्रीय एवं अनुभवविरुद्ध है। क्योंकि कर्म कभी निष्फल नहीं हो सकता, यह सर्वमान्य सत्य सिद्धांत है। फिर इन अभुक्त कर्मों का फल-भोग जीव कब कर सकता है?

अन्य धर्म व सनातन धर्म

भिन्न-भिन्न धर्मों में विभिन्न प्रकार से इस प्रश्न का समाधान करने का प्रयत्न किया गया है। ईसाई, इस्लाम आदि मतों के अनुसार 'जगत् के अंत में ईश्वर सब जीवों के कर्मों का निर्णय कर शुभकर्मवालों को स्वर्ग में और अशुभकर्मवालों को नरक में उन कर्मों से प्राप्त भोग भोगने के लिए भेज देता है।' परंतु यह विचार युक्तिसंगत नहीं जान पड़ता। एक छोटे-से जन्म में किए हुए कर्म का भोग चिरकाल तक करना पड़े, यह तो अन्याय है। फिर न्यायदान में इतना प्रदीर्घ विलंब होना भी अयुक्त ही कहा जा सकता है। भूल सुधारकर जीवन को सुयोग्य, सुसंस्कृत तथा उच्च बनाने

का अवसर सामान्य जीवन में भी दिया जाना योग्य माना जाता है। भगवान के राज्य में ऐसे अवसर का न मिलना, यह बात भगवान की न्यायप्रियता तथा उनके कारुण्य से विसंगत है।

अपने सनातन धर्म में ('सनातनधर्म' शब्दप्रयोग से यहाँ भारतीय परंपरा में उत्पन्न सभी पंथ-संप्रदाय, मतमतांतरों का समावेश समझना चाहिए) इसका समाधान, विचार तथा अनुभव के अनुरूप किया गया है। जिस जीव ने जो कर्म किए हों, उनका फल भोगने के लिए अन्यान्य 'लोक' हैं। जिनमें वह अपने शुभाशुभ कर्मों के फलों का भोग करता है तथा कुछ कर्मों के फल-भोग के लिए इसी मर्त्यलोक में पुनः विभिन्न योनियों में जन्म ग्रहणकर फल भोगता है और मनुष्य बनकर अपनी उन्नति करने का अवसर बार-बार प्राप्त करता है और क्रमशः अपने सब कर्मों को भोगकर उनका क्षय करता हुआ, अंततोगत्वा पूर्ण सुख-शांतिरूप मुक्ति प्राप्त करता है। अपने शास्त्रों ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन किया है।

पुनर्जन्म का सिद्धांत

इस प्रकार परलोक तथा इहलोक में पुनर्जन्म का विचार केवल तर्क अथवा अनुमान मात्र प्रतीत हो सकता है, किंतु हमारे पूर्वजों ने प्रखर तपस्या के बल पर दिव्य दृष्टि प्राप्त कर इन सत्यों का साक्षात् ज्ञान प्राप्त किया था। केवल तर्क या अनुमान के आधार पर परलोकों के अस्तित्व तथा पुनर्जन्मग्रहण की वास्तविकता का उन्होंने प्रतिपादन नहीं किया, अपितु प्रत्यक्ष ज्ञान के बलपर इसका उद्घोष किया।

अनेक व्यक्तियों का जन्म से ही अलौकिक प्रतिभासंपन्न होना, कुछ अबोध बालकों को पूर्वजन्म के स्थान, परिवारस्थ-जन इत्यादि का आश्चर्यचकित करनेवाला ज्ञान सप्रमाण प्रकट करते हुए दिखाई देना, ऐसे अनेक उदाहरण प्रमाणभूत होकर उपस्थित होते हैं। अब विगत कुछ काल से इन बातों पर विश्वास न रखनेवाले पश्चिमीय देशों के विद्वानों में भी परलोकविद्या का अध्ययन करने की प्रवृत्ति बढ़ी है। धीरे-धीरे वे परलोक तथा पुनर्जन्म के सत्य को पहचानने की तथा मानने की ओर झुक रहे हैं। जिन धर्म-मतों का अवलंबन उन्होंने किया है, उनका समर्थन न होने से अभी उनमें पर्याप्त झिझक है। तथापि सत्यान्वेषण की अंतःप्रेरणा उन्हें इस सत्य का साक्षात्कार करने के मार्ग पर अग्रसर करा रही है।

वैसे, सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर ईसाई धर्मग्रंथ 'पवित्र

बाइबल' में भगवान ईसा के ही मुखारविंद से प्रकट हुए शब्दों से यह जाना जा सकता है कि भगवान ईसा ने स्थानीय परिस्थिति तथा मान्यताओं के होते हुए, स्थानीय परिभाषा के ही माध्यम से भारतीय क्रांतदर्शी ऋषियों के सत्य सिद्धांत को ही समझाने का प्रयास किया है, किंतु शुद्ध दृष्टि से इसका अध्ययन करना आवश्यक है।

सार्थक कर्म सिद्धांत

परलोक तथा पुनर्जन्म के सिद्धांत के कारण प्रत्येक व्यक्ति यह समझ सकता है कि उसका सुख-दुःख, श्रेष्ठत्व-कनिष्ठत्व, सद्गुणों का अभाव आदि पूर्वजन्मों में किए हुए उसके कर्मों के परिणाम हैं और इस जन्म में यदि वह अपने कर्मों में सुधार करले, तो इसी जन्म में वह अधिक श्रेष्ठ एवं सुखी बन सकता है। उसे यह भी विश्वास होता है कि जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष, इस एक जन्म में न भी प्राप्त हुआ, तब भी उसके लिए उचित प्रयत्नों में रत रहने से आनेवाले जन्मों में वह अपने को मोक्ष के लिए अधिकाधिक योग्य बनाकर, अंत में जीवन-मरण के सब सुख-दुःखों से छूटकर अपनी नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त सच्चिदानंद-स्थिति में स्थिर हो सकता है। धन्य हो सकता है।

श्रेष्ठ कर्म की प्रेरणा देनेवाले, मनुष्यमात्र के पौरुष का आवाहन करनेवाले इस सत्य को हृदयंगम करना मनुष्य के कल्याण के लिए परम आवश्यक है। आज इसके संबंध में कुछ भ्रम फैले हैं और निष्क्रियता को पनपानेवाला दैववाद लोगों की बुद्धि पर चढ़ बैठा है। उससे अपने को छुटकारा दिलाकर विशुद्ध कर्मसिद्धांत, तदंगभूत परलोक तथा पुनर्जन्म के सत्य सिद्धांतों को समझकर सत्कर्म में प्रवृत्त होना, निरंतर उद्यमशील रहना तथा परिणामस्वरूप इहलोक में वैयक्तिक एवं सामूहिक उत्कर्ष की प्राप्ति के साथ मुक्तिमार्ग पर अग्रसर होकर मनुष्य-जीवन सार्थक करना आवश्यक है। यही धर्म है–

'यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।'

(कणाद, वैशेषिक दर्शन, १-२)

अपने महान सनातन धर्म में उद्घाटित इन सत्यों को जीवन में उतारकर अपने समाज के सब व्यक्ति उत्तरोत्तर श्रेष्ठ-शुद्ध जीवन के चलते-बोलते आदर्श बनें और संपूर्ण मानवजाति के सन्मार्ग-प्रदर्शक बनें, यही समय की माँग है।

२३. यह पीढ़ी भाग्यशाली है

('पांचजन्य', जनवरी १९७२)

निःस्वार्थ, आत्मविश्वासयुक्त और निष्ठावान ध्येयसेवी तथा राष्ट्रीय वैशिष्ट्याभिमानी जनों ने ही सदैव राष्ट्रीय विपद् के काल में अपने राष्ट्र के सुप्त पौरुष को जगाया और उसे खंडहरों के ढेर पर से गौरव के साथ पुनः उठाकर खड़ा किया है। निश्चय ही ऐसे पुरुष राष्ट्र के प्राण होते हैं। प्राचीन समय में भी शिक्षित तथा मेधासंपन्न युवक व्यक्तिगत सुख-सुविधाओं के समस्त विचार को तजकर समाज की सेवा और उन्नति के लिए अग्रसर होते रहे हैं। वे निःस्वार्थ सेवा, त्याग और चारित्र्य की जीवित प्रतिमाएँ थे। वे कंद-मूल खाकर अथवा द्वार-द्वार भिक्षा माँगकर अपने भौतिक अस्तित्व को बचाते थे। उनकी समस्त शक्ति सामान्य जन के कल्याण के एकमात्र कार्य में ही लगती थी। वे लोगों से मिलते थे, उनके सुख-दुःख में समरस होते थे, उनके भौतिक अभावों और क्लेशों को शमित या न्यून करने का प्रयत्न करते थे और उन्हें जीवन के उच्चतर मूल्यों से अनुप्राणित करते थे। उन प्रज्ञावान स्वार्थत्यागी युवकों का हृदय उच्च शिखर के समान था। वहाँ से सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों की धाराएँ प्रवाहित होकर हमारे समाज के सभी स्तरों को सिक्त कर देती थीं। वे सनातन स्रोत थे, जहाँ से सांस्कृतिक श्रेष्ठता तथा भौतिक ऐश्वर्य की युगल धाराएँ राष्ट्रीय जीवन को आकंठ पूरित करती हुई बहती थीं और हमारे राष्ट्र को भौतिक श्री एवं आध्यात्मिक गौरव का प्रकाशस्तंभ बनाती थीं।

पौरुष की परीक्षा

हम उन महान आदर्शों के अनुसार पुनः अपना आचरण ढालें और वर्तमान समय के समस्त क्लैब्यकारी विचारों को तजकर अपनी प्यारी एवं पवित्र मातृभूमि के हित, राष्ट्रीय गौरव से ओतप्रोत, सेवा, आत्मविश्वास तथा समर्पण के भव्य भावों को श्वास-प्रश्वास में बसाए हुए, सच्चे जीवन्त पुरुष बनें। इस प्रकार के स्वयंसेवी (मिशनरी) उत्साह से प्रज्ज्वलित तरुणों का वृंद ही हमारे देशवासियों में कार्य करने तथा देश को अभ्यंतर एवं संकटों की विभीषिका से बचाने के लिए समुद्यत होने की प्रेरणा दे सकेगा।

हमें अपने को भाग्यशाली समझना चाहिए कि हम वर्तमान कठिन घड़ी में जन्मे हैं। अनेक लोग शांति, समृद्धि श्री एवं शक्तिसंपन्न राष्ट्र में जन्म लेने को ही सौभाग्य की बात मानते हैं। आज हमारे देश में ऐसे लोग

पर्याप्त संख्या में हैं, जो इस प्रकार से सोचते हैं और वहाँ के सुख-विलासों से प्रलुब्ध होकर अमरीका, इंग्लैंड आदि देशों में जा बसते हैं। किंतु वास्तविक वीरता से युक्त पुरुष कुछ और ही सोचते हैं और इस बात के लिए ईश्वर को धन्यवाद देते हैं कि इस देश में रहते हुए कठिनाइयों, अभावों, विपदाओं और कष्टों का सामना करना पड़ रहा है, जिसमें से अपने प्रयत्नों एवं संघर्षों के द्वारा उनका निवारण कर समृद्धि की ओर जाने का उन्हें अवसर मिला है। वैभव, समृद्धि तथा विपुलता के काल में हमारे जीवन का अर्थ होगा केवल जन्म लेना, कुछ काल तक सुख-सुविधापूर्वक जीवन-यापन करना तथा एक दिन मर जाना। किंतु विपरीत परिस्थितियों में हमें अपने अंदर के सर्वोत्तम को प्रकट करने, अपने पौरुष की परीक्षा करने और विश्व के समक्ष भव्यतापूर्ण प्रचंड व्यक्तित्व के रूप में खड़े होने का अवसर मिलता है। हमें अपनी पूर्ण उच्चता को प्राप्त करने और मानव-कल्पना की उच्चतम उड़ान के भी आगे की ऊँचाई तक उड़ान भरने का सुयोग प्राप्त होता है।

राष्ट्रीय लक्ष्य का संकल्प

आज माँ को अन्य सभी बातों से अधिक आवश्यकता है ऐसे व्यक्तियों की जो तरुण, मेधावी, त्यागी और इससे भी बढ़कर वीर्यवान तथा पौरुषसंपन्न हों। जब नारायण (शाश्वत ज्ञान) तथा नर (शाश्वत पौरुष) का संयोग होता है, विजय निश्चित समझनी चाहिए और ऐसे सत्पौरुष पुंभावसंपन्न पुरुष ही इतिहास के निर्माता होते हैं।

मानव जाति को अपना अद्वितीय ज्ञान प्रदान करने की योग्यता संपादन करने के लिए तथा संसार की एकता और कल्याण के हेतु जीवित रहने एवं उद्योग करने के लिए हमें संसार के समक्ष आत्मविश्वासी पुनरुत्थानशील और सामर्थ्यशाली राष्ट्र के रूप में खड़ा होना पड़ेगा। राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ ने युग-युगांतर से चले आए राष्ट्रीय लक्ष्य को पूर्ण करने का संकल्प किया है, जिसके प्रथम पग के रूप में इस समय हिंदू-समाज के बिखरे हुए तत्त्वों को संगठित करके आध्यात्मिक एवं भौतिक जीवन के क्षेत्र में वह संगठित और अजेय शक्ति निर्माण करेगा।

अभिप्राय

अपने प्रवास के दौरान विभिन्न संस्थानों में श्री गुरुजी का जाना होता था। तब वहाँ की 'आगंतुक' पुस्तिका में उन्होंने अपने अभिप्राय अंकित किए। उनमें से उपलब्ध अभिप्राय तथा आशीर्वादपरक संदेश यहाँ दिए गए हैं।

---

१. श्री समर्थ वाग्देवता मंदिर

(श्री समर्थ वाग्देवता मंदिर, धुले, महाराष्ट्र, १ सितंबर १९४०)

मान्यवर श्री नानासाहब देव की कृपा से आज श्री समर्थ वाग्देवता मंदिर का दर्शन करने का सुयोग प्राप्त हुआ। इतनी लगन व दीर्घोद्योग से अपने राष्ट्र के स्फूर्तिदाता की स्मृति को जागृत रखने का यह महनीय कार्य देखकर अत्यंत कृतज्ञता का भाव जागृत हुआ। मॅझिनी जैसे भिन्न-भिन्न देशों के राष्ट्रवीरों का गुणगान करने की अपेक्षा अपने यहाँ अवतरित व इन सबके गुरु के नाते शोभादायक राष्ट्रगुरु का स्मरण आज के हिंदू समाज के लिए तारक है। यह स्मरण सहजता से हो और श्रीसमर्थ के तेजस्वी संदेश का सम्यक् ज्ञान प्राप्त हो, ऐसी व्यवस्था करने के कारण संपूर्ण हिंदू समाज को उनके प्रति सदैव कृतज्ञ रहना चाहिए और उनके कार्य से लाभ प्राप्त कर हिन्दुओं का राष्ट्रजीवन उज्ज्वल करना, यही श्री नानासाहब द्वारा सबपर किए हुए उपकार से उऋण होने का एकमेव मार्ग है। इस रूप में स्वीकार करें, यह मेरा विनम्र मत है।

श्री नानासाहब ने मुझे यह 'समर्थ दर्शन' कराया, उनके उपकार से उऋण होना कठिन है। इतना ही मंतव्य व्यक्त करता हूँ कि इस महान

कार्य की सेवा करने में मैं स्वतः को गौरवान्वित अनुभव करूँगा। (मूल मराठी)

२. श्री क्षेत्र बालेकुंद्री

(श्री क्षेत्र बालेकुंद्री (धारवाड़) कर्नाटक में श्रीमत् पंत महाराज स्मृतिस्थान, शनिवार कार्तिक शुक्ल १२, शके १८७७, ईस्वी सन् १९५५)

श्री क्षेत्र बालेकुंद्री में दो दिन का निवास करने का शुभयोग आया है। इस क्षेत्र का वातावरण जिस महापुरुष की स्मृति से पुनीत हुआ और उनकी पवित्र स्मृति के अनुरूप ऐसी शांत, गंभीर तथा सात्त्विक भावनाओं को प्रसृत करनेवाला होने के कारण, अंतःकरण अति प्रसन्न हुआ है। क्षेत्र की सारी व्यवस्था स्वच्छ तथा सुव्यवस्थित थी और सभी व्यक्तियों का आचरण दक्षतापूर्ण और स्नेहमय होने के कारण विशेष आनंद प्राप्त हुआ। यहाँ पर श्रद्धालुओं को अपने-अपने जीवन में सुलभता से शांति प्राप्त हो सकती है। केवल परमेश्वर की कृपा से कार्तिक शुद्ध ११, प्रबोधिनी एकादशी के पुण्य दिवस पर श्रीमत् पंत महाराज के स्मृतिस्थान में रहने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ।(मूल मराठी)

३. भाखड़ा-नांगल बाँध

(२९ सितंबर १९५८)

भाखड़ा तथा नांगल के बाँधों का कार्य देखकर बहुत प्रसन्नता हुई। मानव विनाश के साधनों का आविष्कार करते देख मानव दानव तो नहीं, ऐसा संदेह कभी-कभी मन में होता है। किंतु साथ ही ऐसे जगत् हितकारी, चमत्कृतिपूर्ण भव्य निर्माण को देखने से मानव में सृष्टि निर्माणकर्ता जगत्पिता का अंश होने का साक्षात्कार होकर, अंतःकरण आश्वस्त होता है। अंतराल में, बिना किसी आधार के अगणित सूर्यमंडलों के असंख्य ग्रह-गोल आदि लटकते रखनेवाले, उन्हें नियंत्रण में सदा घुमाते रहनेवाले, असंख्य वस्तु, जीव-जंतु लीलया निर्माण करनेवाले श्री परमात्मा की असीम शक्ति का, अत्यल्पांश से क्यों न हो, ऐसे कार्यों में दर्शन होकर अंततोगत्वा

मानव अपने इस दिव्यत्व को पहचानता हुआ, जगत् में सुख-शांति, सर्वसंग्राहक ऐकात्म्य के दिव्य जीवन की प्रस्थापना कर सकेगा, इस आशा को सप्रमाण बल प्राप्त होता है और आज के संघर्षपूर्ण युग की भीषणता से उत्पन्न चिंता दूर होकर जगत् की अंतिम सुखपूर्णता का विश्वास दृढ़ होता है।

४. मायावती अद्वैत आश्रम

(अल्मोड़ा, उत्तरांचल; १४ अप्रैल १९६४)

आज का दिन मेरे लिए परम सौभाग्य का दिन है कि जब मैं इस पवित्र, शांत स्थान, जिसे श्रीमत् स्वामी विवेकानंद जी महाराज के सान्निध्य ने पवित्रतम बना दिया है, अपनी चिरवांछित अभिलाषा की पूर्ति होते पा रहा हूँ।

श्री रामकृष्ण मिशन ने ठाकुर जी के आदेशों के अनुसार मानव को भगवान का रूप मानकर मानव-सेवा ही परमेश्वर-सेवा है, इस धारणा से निःस्वार्थ भाव से, इस स्थान एवं आसपास के गरीब, भोले एवं असहाय लोगों की सेवा हेतु रुग्णालय एवं औषधि-केंद्र का निर्माण किया गया है। निकट भविष्य में रुग्णालय को बिजली मिलने की आशा से यहाँ एक्स-रे-मशीन एवं अन्य सुविधाएँ प्राप्त कर, संपूर्णतः सिद्ध अस्पताल का रूप प्राप्त होगा। मैंने यह रुग्णालय एवं यहाँ का स्वच्छ, शांत वातावरण देखा। जो कि रोगी को ५० प्रतिशत स्वस्थ बनाने में स्वतः सक्षम है।

यह अस्पताल, जो कि विशुद्ध मानवी दृष्टिकोण से धर्मार्थ चलाया जा रहा है, संभवतः महँगा प्रयोग है तथा इसे जनता एवं सरकार के उदार नियमित अनुदान की आवश्यकता है।

मुझे आशा है कि अस्पताल की सारी आवश्यकताओं की पूर्ति में अवरोध नहीं आएगा। मैं उस देवी माँ के चरणों में प्रार्थना करता हूँ, वे हमारे बांधवों को इस पवित्र उपक्रम में यथाशक्ति सहायता करने की प्रेरणा दें। अनेक विनम्र प्रणामों सहित, मैं मायावती आश्रम के स्वामी जी को धन्यवाद देता हूँ। (मूल अंग्रेजी)

५. श्रीज्वालादेवी मंदिर

(१६ मार्च १९६८)

जगदंबा भवानी श्री ज्वालामुखी का दर्शन करने का श्रेष्ठ भाग्य प्राप्त कर कृतकृत्यता का अनुभव कर रहा हूँ।

मंदिर स्वच्छ, प्रशांत रखने का सफल प्रयास व्यवस्थापक मंडल के द्वारा होता देखकर बहुत प्रसन्नता हुई है।

संसार में अनेक पाशों से बद्ध मानव इस शांत स्थान के वायुमंडल में परम ज्योति के दर्शन से आत्मज्योति का साक्षात्कार कर सकते हैं। परम करुणामयी भगवती जगदंबा श्री ज्वालामुखी माता ऐसी प्रेरणा तथा अनुभूति संसार-तप्त मानव को प्रदान करें, यही उसके चरणों में विनम्र प्रार्थना करता हूँ। प्रबंधकर्ता महानुभावों के प्रति प्रणामपूर्वक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

६. श्रीनारायण गुरु समाधि स्थान

(३० जनवरी १९६९; शिवगिरि, केरल)

प्रातः शिवगिरि मठ में दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। यहाँ के प्रशांत एवं उद्‌बोधक वायुमंडल में कुछ समय व्यतीत किया। भगवान के श्रीचरणों में मेरा नम्र अनुरोध है कि यहाँ के कार्यकर्ता उनके शुभाशीष से श्रद्धेय नारायण गुरु द्वारा प्रसृत किया मानवीय एकात्मता का प्रभावी संदेश पुनः एक बार देश-विदेश में जाकर प्रसारित करें। उनके द्वारा किए गए इस कार्य- शांति, जड़-चेतन के विषय में शुद्ध स्नेह और अंतिम चिरंतन सत्य के प्रति पूर्ण समर्पित भक्ति- आज की संघर्ष पीड़ित दुनिया में फिर एक बार प्रभावी बनें।

७. श्री श्रद्धानंद महिलाश्रम

(३१ अक्तूबर १९६९, पुणे)

श्री श्रद्धानंद महिलाश्रम के बारे में मुझे पूर्व से ही जानकारी थी। दो बार कार्य का निरीक्षण किया था। आज भी पूर्ण रूप से आश्रम का निरीक्षण किया है। व्यवस्था में प्रगति और सुधार हुआ है। अत्यंत उपयुक्त

और समाजोपयोगी कार्य है। आबालवृद्धों को काम दिया जाता है। बालिकाओं व तरुण माताओं को जीवन-निर्वाह के साधनों का प्रशिक्षण देने का मूल्यवान कार्य किया जाता है। समाज की असहाय बालिकाओं को मातृगृह के प्रेम का अनुभव आता ही है। इसकी उत्तम प्रगति के लिए परम करुणामय अनाथनाथ श्री परमेश्वर के चरणों में प्रार्थना करता हूँ।

८. विवेकानंद शिला स्मारक

(फरवरी १९७२, कन्याकुमारी)

निश्चय ही जिस महान आत्मा के उत्सर्गमय जीवन ने राष्ट्र को तामसी निद्रा से जगाकर प्रबुद्ध भारत को जन्म दिया, जिसके दूरदर्शी एवं प्राणोत्तेजक विचारों ने राष्ट्र की पराधीनता की श्रृंखला को छिन्न-भिन्न करने की अनुपम शक्ति प्रदान की, जिसके तेजोमय शब्दों ने हिंदू धर्म को अपने स्वरूप का साक्षात्कार करने की प्रेरणा प्रदान की तथा भारत के ऋषियों की प्रज्ञा के चमत्कार से जिसके पराक्रम ने दिग्विजय कर समस्त विश्व में हिंदू-धर्म की वैजयंती फहराई, उन्हीं महान राष्ट्रोद्धारक स्वामी विवेकानंद की प्रबोध शिला पर जन-जन की आत्मा में अनुपम जागृति का संदेश देने वाला यह स्मारक, चिरकाल तक समस्त विश्व को प्रकाश प्रदान करता रहे, यही मंगलकामना है।

९. गोवा संस्कृत पाठशाला

(२६ फरवरी १९७२; कवले, गोवा)

भारतीय जीवन के आधारभूत ज्ञान का मूल रूप में अध्ययन करने के लिए, देववाणी संस्कृत का अध्ययन कर उसमें पारंगत होना अनिवार्य है। अपने राष्ट्रीय प्रवाह की सद्गुणसंपन्न संस्कृति का उत्तम रीति से आकलन होने और प्रत्येक व्यक्ति का जीवन राष्ट्र-परंपरा के अनुरूप होने के लिए जिस भाषा में उस संस्कृति का मूलतः निरूपण हुआ है, उसका सम्यक् ज्ञान आवश्यक है। जीवन पर सत्संस्कार करनेवाली क्रियाओं का उद्गम स्थान श्रुतियाँ हैं। उनका पठन-पाठन अखंड रूप से होना चाहिए। परंतु संप्रति संस्कृत भाषा के अध्ययन तथा वेदाध्ययन एवं तदंगभूत उपासना की ओर दुर्लक्ष्य हो रहा है। उसका परिणाम वर्तमान पीढ़ी में

बढ़ती हुई अभारतीयता, उपभोग-प्रवणता, अनैतिकता आदि के रूप में सभी विचारशील व्यक्तियों को दृष्टिगोचर हो रही है। राष्ट्र-संवर्धन और संरक्षण की दृष्टि से यह अवस्था भयावह है। अतएव संस्कृत भाषा का शास्त्रीय अध्ययन तथा वेदपठन का उपक्रम एक महान राष्ट्रीय आवश्यकता की पूर्ति करने वाला है और वह अभिनंदनीय है। उसका लाभ सभी उठाएँ। युवकों-बालकों को वह शिक्षा ग्रहण करने के लिए प्रोत्साहित किया जाए। उस उपक्रम की सर्वांगीण उन्नति के लिए धन आदि की सहायता करना प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है। कवले स्थित 'श्री शांकर विद्यापीठ' इस दृष्टि से एक उपकारक उपक्रम है। अनेक संस्कृतप्रेमियों और राष्ट्रपरंपरा के अभिमानियों ने स्वतः के सामर्थ्य पर इसकी प्रतिष्ठापना की तथा छात्रों को निःशुल्क ज्ञान-दान की व्यवस्था की। विद्यालय का वायुमंडल शांतिपूर्ण, प्रसन्न और अनुशासनपूर्ण है। ऐसे विद्यापीठ के संवर्धन के लिए सभी उदारहृदयी महानुभाव सर्वतोपरि प्रयत्न करें तथा इस मार्ग से वे राष्ट्रसेवा का श्रेय संपादन करें। इसलिए परम मंगलमयी श्रीजगदंबा के चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि ऐसी बुद्धि संपूर्ण समाज में जागृत हो।

१०. मुरारी अस्पताल, चेन्नै

(चेन्नै में डा. करुणाकरन द्वारा परिचालित 'मुरारी' अस्पताल, ७ फरवरी १९७३)

'न त्वहं कामये राज्यं न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दुःखतप्तानां प्राणिनामार्तिनाशनम्।।'

उपर्युक्त प्रार्थना अपने जीवन के सभी कार्यों में प्रेरणादायक और मार्गदर्शक होगी। दुनिया में दुःखी और आर्त लोगों की संख्या बहुत है। जीवन का इससे बढ़कर उच्च लक्ष्य और कोई नहीं हो सकता। इस रुग्णालय की कल्पना को जिन्होंने मूर्त रूप दिया, वे रुग्ण-सेवा का हर काम अत्युत्कृष्ट रीति से पूर्ण करने के लिए प्रयत्नशील हैं। अतएव उन्हें स्वीकृत कार्य में अवश्य सफलता मिलेगी। मैं जगजननी से प्रार्थना करता हूँ कि इस रुग्णालय का काम पूरा होकर रोगियों की सेवा के लिए सारी सुविधाएँ शीघ्र उपलब्ध हों। इस श्रेष्ठ कार्य में जो लगे हुए हैं, उन्हें मैं विनम्रता से प्रणाम करता हूँ।

११. साप्ताहिक 'युगधर्म'

(साप्ताहिक 'युगधर्म' का प्रारंभ नागपुर में तिलक पुण्यतिथि, १६४८ को हुआ। एक वर्ष पूर्ण होने पर ७ अक्तूबर १६४६ को प्रेषित आशीर्वाद)

सच्ची राष्ट्रीय दृष्टि, उसे पाकर उत्पन्न होनेवाली निःस्वार्थ राष्ट्रसेवा की भावना, व्यक्ति और राष्ट्र के बीच में राष्ट्र ही महान है, उसके लिए व्यक्ति के स्वार्थ त्याज्य हैं, यह धारणा वैयक्तिक जीवन के शील एवं शुद्ध चारित्र्य का विकास इत्यादि आवश्यक अनेक गुणों का निर्माण करने में प्रयत्नशील होकर अराष्ट्रीय, याने अभारतीय कुप्रवृत्तियों को दूर करने की चेष्टा करना तथा राष्ट्र के समस्त घटकावयवों में परम सहिष्णुतापूर्ण विशुद्ध स्नेह का व्यवहार निर्माण करने में दत्तचित्त रहकर, विच्छेदकारी दुर्गुणों को नष्ट करने के निमित्त सदैव उद्यत रहकर, निर्भीकता से सब सद्विचारों का समर्थन करना इसी में 'युगधर्म' के जीवन का साफल्य है। अधिकाधिक योग्यता से 'युगधर्म' यह कार्य करे। परमात्मा उसे चिरायु करे।

१२. संस्कृत-पत्रिका 'भारती'

(२७ सितंबर १६५४, जयपुर)

भारती-पत्रिकायाः पंचमवार्षिकोत्सवः संप्राप्तः इति ज्ञात्वा महान् हर्षः मम मनसि संजातः। संस्कृतभाषायाः सार्वत्रिक-प्रचारार्थं भारती-पत्रिकया विगतचतुर्वर्षेषु यत् किमपि कार्यं कृतं तत् नितराम् अभिनंदनीयम् अस्ति इत्यत्र न कोऽपि संदेहः। संस्कृतभाषायाः दुर्बोधत्वविषये आधुनिकसुशिक्षितेषु यः अकारणमेव भ्रमः विद्यते तस्य निराकरणं भारती-पत्रिकायां प्रकाशितानां सरलसुगमसंस्कृत-लेखानां वाचनेन भवति। यो यो भारतीयः स्वकीयां प्रादेशिकीं भाषां सम्यक् जानाति स स स्वभावतः एव भारती-पत्रिकायां प्रकाशितान् संस्कृतलेखान् जानीयात् इत्यहं मन्ये। किं बहुना भारती-पत्रिकायां प्रकाशितान् संस्कृत-लेखान् यो न ज्ञातुं शक्नोति स खलु स्वकीयां प्रादेशिकीं भाषामेव न सम्यक् जानाति इति अवगन्तव्यम्। हिन्दी-प्रभृतयः सर्वाः प्रादेशिक्यः भाषाः संस्कृतोद्भूताः सन्ति। परं सांप्रतं विविधभाषाभाषिणां भारतीयानां स्वस्वभाषा-दुरभिमानः परांकोटिं गतः इव अवलोक्यते। स्वस्वभाषादुरभिमानेन

सर्वे परस्परपार्थक्यम् उद्घोषंति। एतस्य प्रादेशिकभाषामूलदुरभिमानस्य प्रशमनार्थं संस्कृतप्रचारसदृशं नान्यत्बलवत्तरं रसायनम्।

आंग्लशासनकाले भारतीयानां सर्वोऽपि व्यवहारः परकीयाम् आंग्लभाषाम् आश्रित्य अभवत्। इदानीं स्वतंत्र-भारतस्य व्यवहारतः आंग्लभाषायाः निष्कासनं कृत्वा हिन्दी-प्रमुख-भारतीय-भाषाः उपयोक्तव्याः। परम् एतासु प्रादेशिकभाषासु राज्यव्यवहारार्थम् उच्चशिक्षणार्थं वा अपेक्ष्यमाणा शब्दसमृद्धिः नास्ति। नवशब्दनिर्माणसामर्थ्यं च एतासु प्रादेशिकभाषासु सुतरां नास्ति। अस्माकं भाग्येन अस्मत्पूर्वजैः सततं दृढ़भक्त्या संसेविता, आपत्काले महता परिश्रमेण त्यागेन च संरक्षिता ज्ञानामृतमयी भारतीयसंस्कृतिनिधानभूता सकलभारतीयभाषाणां प्राणशक्तिः इव इयं संस्कृतभाषा अद्यापि जीवति। न केवलं सा जीवति एव अपितु अन्याः सर्वाः प्रादेशिकभाषाः जीवयति संवर्धयति च। संस्कृतभाषायाः एतत् सर्वभाषाव्यापित्वं सर्वभाषांतर्यामित्वं च अज्ञात्वा कैश्चित् विवेकविधुरैः संस्कृतभाषा मृता इति जल्पितम्। संस्कृतभाषायाः एतत् अनुक्तसिद्धं सजीवत्वं सर्वंकषं सामर्थ्यं च ज्ञात्वा सर्वैः राष्ट्रकल्याणकामैः संस्कृतभाषाध्ययनम् अवश्यमेव कर्तव्यम् इति मे सुस्पष्टं मतम्।

भारती-पत्रिकायाः वाचनं संस्कृतानभिज्ञेषु संस्कृताभिरुचिं जनयितुं साहाय्यप्रदं भवेत् इत्यत्र नास्ति कोऽपि संदेहः। राष्ट्रहितार्थं निःस्वार्थतया संचाल्यमानायाः अस्याः संस्कृतपत्रिकायाः विकासार्थं सर्वे संस्कृताभिमानिनः सज्जनाः सर्वविधं साहाय्यं स्वयंस्फूर्त्या दास्यान्ति इति दृढ़म् आशास्ते।

हिन्दी अनुवाद :

भारती पत्रिका का पंचम वार्षिकोत्सव संपन्न हुआ, यह जानकर मन में अत्यंत हर्ष हुआ। संस्कृत भाषा के सार्वत्रिक प्रचार हेतु 'भारती' पत्रिका ने गत चार वर्षों में जो कार्य किया है, वह अतीव अभिनंदनीय है, इसमें कोई संदेह नहीं। आधुनिक सुशिक्षित लोगों में अकारण भ्रम विद्यमान है कि संस्कृत भाषा समझने में अति कठिन है। 'भारती' पत्रिका में प्रकाशित सरल सुगम लेखों के वाचन से उस भ्रम का निराकरण होगा। मेरा मत है कि जो अपनी प्रादेशिक भाषा अच्छी तरह जानता है, वह भारती पत्रिका में प्रकाशित संस्कृत लेख आसानी से समझ सकेगा। जो समझ नहीं सकेगा, वह अपनी प्रादेशिक भाषा अच्छी तरह नहीं जानता है, ऐसा समझना चाहिए। हिंदी के समान अन्य प्रादेशिक भाषाएँ भी संस्कृत से ही उत्पन्न हुई हैं। किंतु वर्तमान में विविध भाषा-भाषियों का स्वभाषा का

दुरभिमान इस चरम सीमा तक पहुँच गया है कि सब अपनी भाषा की पृथकता पर जोर देते हैं। इस दुरभिमान के प्रशमन हेतु संस्कृत का प्रचार ही एकमात्र सफल रसायन है।

अंग्रेजों के कालखंड में सामान्यतः भारतीयों का व्यवहार विदेशी, अर्थात् अंग्रेजी भाषा में होता था। किंतु स्वतंत्र भारत में तो अंग्रेजी भाषा को हटाकर हिंदी जैसी प्रादेशिक भाषाओं को अमल में लाना होगा। परंतु इन भाषाओं में प्रशासन-व्यवहार तथा उच्च शिक्षा के लिए आवश्यक शब्दसंपन्नता नहीं है। नवीन शब्दों के निर्माण की क्षमता भी कम है। सौभाग्य से अपने पूर्वजों द्वारा दृढ़भक्ति व सातत्य के साथ प्रतिकूल कालखंड में भी महान परिश्रम तथा त्याग से संरक्षित ज्ञानामृतमयी भारतीय संस्कृति की आधारभूत तथा सकल भारतीय भाषाओं की प्राणशक्ति संस्कृत आज भी प्राणवान है। वह केवल प्राणवान ही नहीं है, वरन् अन्य प्रादेशिक भाषाओं को अनुप्राणित तथा संवर्धित भी करती है। कई विवेकहीन लोग संस्कृत की सर्वभाषा व्यापकता तथा सर्वांतर्यामिता को न जानते हुए कहते हैं कि संस्कृत एक मृत भाषा है। संस्कृत के उपर्युक्त अनुक्तसिद्ध, सर्वंकष सामर्थ्य तथा सजीवत्व को पहचानकर संस्कृत भाषा का अध्ययन राष्ट्र कल्याण हेतु अनिवार्य कर्तव्य है, ऐसा मेरा सुस्पष्ट मत है।

इसमें कोई संदेह नहीं है कि 'भारती पत्रिका' का वाचन, संस्कृत न जाननेवालों में संस्कृत के प्रति अभिरुचि उत्पन्न करने में सहायक होगा। मैं ऐसा समझता हूँ कि राष्ट्रहित के लिए निःस्वार्थ भाव से संचालित इस संस्कृत पत्रिका के विकास हेतु सभी संस्कृताभिमानी सज्जन सब प्रकार का सहयोग स्वयंप्रेरणा से देंगे।

१३. दैनिक 'युगधर्म'

(पाँच वर्ष पूर्ण होने पर २२ जनवरी १९५६)

'युगधर्म दैनिक के छठे वर्ष में पदार्पण के सुअवसर पर मैं उसकी अबाधित प्रगति की कामना करता हूँ। आज तक शुद्ध राष्ट्रभावना का उसने जो पोषण किया है तथा पक्षपात रहित बुद्धि से वृत्त-वितरण किया है, उससे उसे जो प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, उसमें इसी विशुद्ध राष्ट्रभाव के कारण वृद्धि होती रहे।

१४. 'मन्दोर्मिमाला' काव्यसंग्रह

(रचयिता डा.श्री.भा.वर्णेकर)

पौष शु. ११, १८७७ शके (सन् १९५५)

मित्रवर,

भवता विरचितः 'मन्दोर्मिमाला' नाम काव्यसंग्रहः दृष्टःकिञ्चित् पठितश्च। अस्मिन् काव्यसंग्रहे भवदीयं गीर्वाणवाणीप्रभुत्वं प्रदर्शयन्तः पदलालित्यालङ्काराद्याः काव्यगुणाः अन्ये चानेके साहित्यगुणाः प्रकटाःसन्ति। गीर्वाणभाषायां वक्तृत्वं संभाषणं लेखनं च अतिदुष्करम् इति योऽयं लोकप्रवादःअस्मिन् काले प्राप्ताधुनिकशिक्षणेषु प्रसृतोऽस्ति तस्य वैयर्थ्यं मिथ्यात्वं च भवता अनेकवारं स्पष्टीकृतम्। तदेव एतेन काव्यसङ्ग्रहेण स्पष्टतरं क्रियते। सरलतरा भाषासरणिः सुललिता पदविन्यासपद्धतिः मनोहराऽलंकाररचना इत्यादिभिः निजविशेषैः विलसंती इयं 'मन्दोर्मिमाला' स्वनामधन्या मन्दोर्मिमाला भगवती जाह्नवी इव सर्वलोकानां संस्कृतभाषाऽज्ञानरूपं, संस्कृतभाषा मृता इति मृषाज्ञानरूपं, संस्कृतभाषातिरस्कारादिदोषरूपं दुरितं दूरीकर्तुं समर्था भवतु।

भवदीयं यशोऽपि प्रतिदिनं प्रवर्धताम्। गीर्वाणवाण्याः पुनःप्रतिष्ठापनरूपं भवदीयं जीवनलक्ष्यं च सफलं भवतु इति कामयते श्रीभगवच्चरणयोः प्रार्थयते च।

हिन्दी अनुवाद :-

आपके द्वारा रचित 'मंदोर्मिमाला' नामक काव्य-संग्रह देखा। थोड़ा-बहुत पढ़ा भी। उसमें देवभाषा पर आपका प्रभुत्व दिखाई देता है। पदलालित्य, अलंकार आदि काव्य-गुण और अन्य अनेक साहित्यिक-गुण प्रकट हुए हैं। संस्कृत भाषा में लिखना, बोलना, भाषण देना अति कठिन है, इस प्रकार की धारणा आज के शिक्षित लोगों में है। उसकी मिथ्यता एवं व्यर्थता आपने अनेक बार सिद्ध की है। इस काव्य-संग्रह द्वारा वह तथ्य पुनः स्थापित हुआ। अत्यंत सरल भाषाशैली, पदविन्यास का लालित्यपूर्ण प्रयोग अलंकारों की सुंदर रचना से यह मंदोर्मिमाला सुशोभित है। भगवती गंगा के समान स्वनामधन्य यह मंदोर्मिमाला संस्कृत मृतभाषा है, तिरस्करणीय है आदि अज्ञानजनित दुरितों को, मान्यताओं को दूर करने में समर्थ होगी।

आपका यश प्रतिदिन बढ़ता रहे। संस्कृत की पुनःस्थापना का आपका जीवनलक्ष्य सफल हो, श्री प्रभुचरणों में यह प्रार्थना करता हूँ।

प्रस्तावना

इस भाग में श्री गुरुजी द्वारा लिखित विभिन्न पुस्तकों की प्रस्तावनाओं एवं अभिप्रायों का समावेश किया गया है।

---

१. हिन्दू राष्ट्र मीमांसा

(क्रांतिवीर श्री वि.दा.सावरकर के बड़े भाई श्री बाबाराव द्वारा लिखी 'राष्ट्रमीमांसा', अर्थात् हिंदुस्थान के राष्ट्रीय स्वरूप की विवेचना, पुस्तक की सन् १९४४ में लिखी प्रस्तावना)

हमारे राष्ट्र की राजनीतिक परिस्थितियों में आमूलाग्र परिवर्तन हो रहा है और इस राष्ट्र में रहनेवाले 'राष्ट्रीय' के मूलभूत प्रश्नों के संबंध में जो मतभेद रहते आए हैं उनके कारण अनेक पक्ष तथा पंथ उत्पन्न हुए हैं। ऐसी दशा में राष्ट्र की कल्पना का मार्मिक तथा निश्चित स्वरूप भारतवासियों के सम्मुख रखते हुए उन्हें चेतावनी देकर जागृत करने के उद्देश्य से यह छोटी-सी पुस्तक इस स्वरूप में गर्जन करती हुई प्रकाशित हो रही है। अपने इस राष्ट्र के पुनरुद्धार के उद्देश्य से प्रेरित होकर जो लोग उसके लिए बहुत समय से प्रयत्नशील हैं, उनको इस पुस्तक में यह बतलाया गया है कि इस प्रकार के सब प्रयत्नों को करते समय उन्हें उद्देश्य की पूर्ति की निश्चिंतता की दृष्टि से अपने इन प्रयत्नों का परिभ्रमण किस केंद्र-बिंदु की परिधि के अंदर सीमित रखना होगा। अंत में उन्हें यह निर्देश दिया गया है कि वे अपनी दृष्टि को उस केंद्र-बिंदु से विचलित न होने दें। वास्तव में आज तक हम भ्रममूलक मार्गदर्शन के पीछे चल रहे थे। हमें भ्रम में डालकर विपथगामी करनेवालों को हमने अपने को भ्रम में रखने का अवसर दिया, किंतु अब हमारे लिए ऐसा संकीर्ण समय आकर उपस्थित हो गया है कि

जब हम उस भ्रमशीलता के पंजे से छूटकर भ्रममूलक मार्ग का त्याग करते हुए वैभव तथा गौरव प्राप्त करानेवाले उचित मार्ग का अवलंबन करने की स्वतंत्रता का उपभोग करें। इस सारी उलझन का मूल कारण एक ही है। वह यह कि हम एक ऐसे उद्देश्य की पूर्ति के लिए दौड़-धूप कर रहे हैं, जो यथार्थरूप में हमारी समझ में नहीं आया है। राजनीतिक तथा सामाजिक पुनर्घटना के मूल तत्त्वों की हमें जरा भी कल्पना नहीं है। इससे लाभ होने के स्थान पर हानि ही होगी और यथार्थता एवं शास्त्रशुद्धता (अर्थात् तर्कसंगति –सं.) की दृष्टि से हमारी सारी कल्पनाएँ तथा हमारे सारे विधि-विधान भ्रमग्रस्त बुद्धि की कल्पना-तरंगें ही प्रमाणित होंगे। यदि मूलभूत सिद्धांतों को दृढ़तापूर्वक तथा यथार्थता से लोगों के सम्मुख रखकर उनका भ्रम दूर नहीं किया गया और वास्तविक दृष्टिकोण का परिचय कराकर उन्हें ज्ञानमूलक प्रयत्नों की ओर अग्रसर होने की प्रेरणा न दी गई, तो जो उलझन बहुत पहले ही से राष्ट्र के लिए हानिकारक प्रमाणित होती जा रही है, वह और भी अधिक उग्र रूप धारणकर सर्वनाशकारिणी बन बैठेगी। ऐसे संकीर्ण समय में तो हमारे लिए अपनी सारी शक्तियाँ एकत्र करके उचित मार्ग से भगीरथ प्रयत्नशाली बनने तथा अपने चहुँ ओर फैले भ्रमजाल को तोड़ देने की परम आवश्यकता है। हमारे सामने उचित मार्ग रखा जाना चाहिए और पूर्णतया उचित रूप से वह हमें समझाया भी जाना चाहिए।

वर्तमान स्थिति का चिंतन

अब हम जरा अपनी वर्तमान स्थिति पर विचार करें। इतिहासपूर्व काल से लेकर हम इस पवित्र देश में अत्यंत प्राचीन जातीयता (अर्थात समाज –सं), परम श्रेष्ठ धर्म, गहन गंभीर आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान, उत्कृष्ट संस्कृति, इन स्वत्वों सहित निवास करते आए हैं। किंतु आज हम अपनी इसी पुरातन मातृभूमि के अंदर, अपने ही घर के अंदर, दीनतापूर्वक रहनेवाले अत्यंत दुर्बल समाज की सी दयनीय दशा को पहुँच गए हैं। अपने ही अधिकारवाले इस घर में (हिंदुस्थान देश में) रहनेवाला कोई व्यक्ति यदि इस देश के संबंध में यह कहने लगे, कि 'यह राष्ट्र हिंदू है' तो चहुँ ओर से उसपर तीव्र आलोचना की वर्षा की जाती है, उसकी हँसी उड़ाई जाती है, उसे अराष्ट्रीय घोषित कर दिया जाता है, उसपर जात्यंधता का अभियोग रखा जाता है और इस तरह चहुँ ओर से उसे नोंचकर त्रस्त कर

दिया जाता है। इस देश में निवास करनेवाले विभिन्न जाति या पंथवाले परस्पर विरोधी दलों को अपनी स्वप्नमयी सृष्टि में एकत्र करते हुए आजकल हम लोग उसे हिंदी राष्ट्र (इंडियन नेशन) नामक गुदड़ी का रूप दे रहे हैं। हमें संतुष्ट करने का दिखावा करने के लिए इंग्लैंड ने जो नया राज्य-विधान हमें प्रदान किया है, उसकी ओर दृष्टिक्षेप करने पर भी उक्त विधान की सत्यता का परिचय पाया जा सकता है। इस देश की प्रांतीय तथा केंद्रीय व्यवस्थापिका-सभाओं (असेंबलियों) में ऐंग्लोइंडियनों एवं यूरोपियनों के लिए भी स्थान सुरक्षित रखे जानेवाली इस घटना से अधिक अप्राकृतिक बात कौन-सी हो सकती है? और यह होगी हमारी राष्ट्रीय सरकार। इस घटना से निस्संदेह यह बात स्पष्ट रूप से दिखाई दे सकती है कि हमें इस प्रकार का राज्य-विधान प्रदान करनेवालों के हितसंबंध भारत में वास करनेवाले यूरोपियन तथा यूरेशियन समाज के लोगों के साथ किस प्रकार दृढ़ रूप से निगड़ित हो गए हैं। यही नहीं, अपितु हमारे देश की राष्ट्रीय समझी जानेवाली संस्था (यहाँ अभिप्राय कांग्रेस पार्टी से है —सं.) भी इसी खाई में गिरकर जानबूझकर उसी प्रकार का प्रमाद कर रही है। वे संस्थाएँ भी मानती हैं कि इस देश में पाया जानेवाला प्रत्येक मनुष्य, चाहे वह किसी भी जाति या हितसंबंध का क्यों न हो, इस देश का राष्ट्रीय ही है। इस भ्रममूलक कल्पना की भूलभुलैया में पड़कर तथा सबको एक-सा समझने की चेष्टा करके उन्होंने राष्ट्रीय हितसंबंधों के लिए भय उत्पन्न कर रखा है और फूट का बीज बो रखा है। उनकी इस कार्यवाही के कारण इस देश के राजनीतिक क्षेत्र में विचरण करनेवाले अराष्ट्रीय मनोवृत्ति के लोगों के सिरों पर राजनीतिक अधिकार हस्तगत कर लेने का भूत सवार हो गया है। हम जिसके द्वारा अपनी राजनीति का भव्य मंदिर दृढ़तर नींव पर खड़ा कर सकें, इस प्रकार की राष्ट्र-कल्पना के शास्त्रशुद्ध स्वरूप का अभाव होने के कारण उक्त संकटों की भूलभुलैया से बाहर निकलने का मार्ग स्पष्ट रूप से हमें दिखाई नहीं दे रहा। ऐसी विलक्षण परिस्थिति का निर्माण कैसे हुआ तथा हमारे प्रमादों के दुष्परिणाम किस तरह बढ़ते गए, इस बात को ढूँढ निकालना एक साधारण-सी बात है। भारतवर्ष में वर्तमान शासकों के पैर जब से पक्के जम गए, तभी से भारतीय राष्ट्रिकों के मन में इस बात ने घर कर लिया था कि इन शासकों का विरोध करके अपने राष्ट्र को फिर से प्राचीन वैभव प्राप्त कराने के लिए उन्हें कटिबद्ध होना चाहिए। इन अगुआ कार्यकर्ताओं का ध्यान केवल इसी एक बात की ओर केंद्रीभूत हो

गया था कि उक्त नए प्रतिपक्षवालों (ब्रिटिशों) का विरोध किस प्रकार किया जा सकेगा। परतंत्रता की ये नई शृंखलाएँ जिन-जिन लोगों को कष्टप्रद प्रतीत होने लगीं, वे सब एकत्र होने लगे तथा इन प्रतिपक्ष वालों का सफलतापूर्वक विरोध करते हुए ऐसे संगठन की सृष्टि करने लगे, जिसके बल पर वे अपने कथन के अनुसार चलने के लिए अपने प्रतिपक्षवालों को विवश कर सकें। संभव है कि उस समय सबके लिए एक सी ही हानिप्रद आपत्तियों को जन्म देनेवाले उक्त प्रतिपक्षवालों का विरोध करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर उक्त आपत्तियों के हाथों हानि उठानेवाले सभी समाजों को, अंधतापूर्ण-अविचारी वृत्ति से ही क्यों न हो, एकत्र कर एक ही पाश में जकड़ देनेवाला यह उपक्रम राजनीतिक दृष्टि से अथवा राजनीतिक दाँव-पेचों की दृष्टि से किया गया हो। चाहे जो हो, एक बात तो निश्चित है कि राष्ट्र की स्वाधीनता प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रेरित होकर ब्रिटिश सत्ता का विरोध करने के लिए परस्पर विरोधी रहे हुए समाजों को एकत्र तथा संगठित किया जा रहा था। इस प्रकार की जिस मनोवृत्ति का बीज बोया गया था, उसी का समय पाकर आज एक विस्तृत वृक्ष बन बैठा है। राष्ट्रीय महासभा (यहाँ अभिप्राय इंडियन नेशनल कांग्रेस से है --सं.) के नेताओं के लेखों तथा भाषणों में इसी मनोवृत्ति को प्रधानता दी गई। किंतु इस भ्रममूलक कल्पना को ग्रहण किए जाने के कारण, विचार करने में असमर्थ साधारण जनता के मन पर क्या परिणाम होगा, उससे आगे चलकर कैसी उलझनें पैदा होंगी और उनके बुरे परिणाम हमें किस प्रकार भोगने पड़ेंगे, इसकी यथार्थ कल्पना किसी के भी ध्यान में नहीं आई। पश्चिमी संस्कृति का पूर्वी संस्कृति के साथ जो संघर्ष हुआ, उसका हमारे समाज पर जो परिणाम हुआ, उससे इस परिस्थिति की जटिलता और भी बढ़ गई। यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। समाज की विभिन्न श्रेणियों के संबंध में बनी हुई पुरानी मान्यताएँ इस नई विचारधारा के कारण धीरे-धीरे ढहने लगीं। उसका पर्यवसान यहाँ तक हुआ कि हमारी प्राचीन संस्कृति को हीन तथा पाश्चात्य नई संस्कृति को श्रेष्ठतर समझा जाने लगा। हमारी प्राचीन संस्कृति के वास्तविक मूल्य की यथार्थ कल्पना लोगों के हृदयों से जाती रही। उसपर यह एक बड़ा भारी आघात हुआ है। जिन-जिन विषयों से इस नवीन शक्ति का संबंध आया, उन विषयों की चौंध से जनदृष्टि को यथार्थ स्थिति का ज्ञान नहीं रहा। इस नवशक्ति के प्रबल प्रवाह में विचारशील

लोगों के पैर भी स्थिर न रह सके और इस प्रकार नव-विचारधारा का यह प्रभाव विपथगामी करनेवाला होते हुए भी, धीरे-धीरे बल पकड़ता गया। पाश्चात्य संस्कृति के बड़प्पन की मृग-मरीचिका के पीछे दौड़ लगाने का यह असर हुआ कि हमारी जाति अपनी वैभवपूर्ण गौरवशाली परंपरा पर रही श्रद्धा तथा तत्संबंधी अभिमानजनित आत्मविश्वास से हाथ धो बैठी और अपने आत्म-सामर्थ्य को भी उसने चिरकाल के लिए गँवा दिया। इस प्रकार बुद्धिमान वर्ग आत्मनिंदा तथा व्यर्थ का आत्मतिरस्कार करके, उससे उत्पन्न आत्मविश्वास के अभाव का शिकार बन गया और स्वाभाविक रूप से उसे इस बात का पूर्णरूपेण विस्मरण हो गया कि हम अपनी मातृभूमि की गोद में पहले कितने सम्मानपूर्वक तथा किस गौरव एवं वैभव के साथ वास करते थे। इसका परिणाम यह हुआ कि अपने मन में अपनी इस आत्मगौरवहीनता के कारण यह जाति (उन दिनों यही प्रचलित शब्द था। वर्तमान में इसका अर्थ, जन अथवा समाज है —सं.) अपने उद्धार के लिए दिखलाई देनेवाले प्रत्येक तुच्छ तिनके का भी आसरा लेने के लिए समुत्सुक रहने लगी। इस प्रकार से यह प्राचीन राष्ट्र इस भ्रमोत्पादक परिस्थिति में फँसकर अपने आत्म-सामर्थ्य की यथार्थ कल्पना को खो बैठा और अपने उद्धार के लिए दूसरों की सहायता की ओर लालायित दृष्टि से देखते रहने का आदी बन गया। उसे यह प्रतीत होने लगा कि अन्य राष्ट्रों के सदृश अपने राष्ट्र को भी पाश्चात्य राष्ट्रों के समान उत्कर्षशाली बनाने में यदि वास्तविक रूप से सफलता प्राप्त करनी हो, तो विधि घटना ही से यहाँ पर पदार्पण करनेवाले ऐसे उक्त विरोधी प्रतिद्वंद्वियों के सहयोग के बिना यह सर्वथा असंभव है। इतना ही नहीं, वरन् उनका अंतर्भाव राष्ट्रीयता में किए बिना यह प्राप्त हो ही नहीं सकता। अतः चाहे कितना ही मूल्य उसके लिए क्यों न देना पड़े, उनका सहयोग एवं समावेश हमें प्राप्त करना ही होगा। इस प्रकार की मूर्खतापूर्ण एवं आत्मघात की धारणा उस प्राचीन राष्ट्र की बन बैठी। पाश्चात्यों के द्वारा प्राप्त कल्पनाओं का प्रभाव हिंदुओं के हृदय पर इस प्रकार जम गया कि उसके कारण उनका सामाजिक जीवन अस्थिर एवं अशांत बन गया है। किंतु यहाँ पर इस संबंध में सांगोपांग वर्णन करना संभव नहीं, केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि यह संस्कृति-संघर्ष हमारी भाव-निर्बलता का एक प्रमुख कारण बन गया है और इसीलिए इस समय यह जाति राह में चुभनेवाले कुश-कंटकों का हानिकर एवं दुखदायी

आश्रय सहन कर भी उसे गले लगाए रखने के लिए दौड़-धूप कर रही है।

आत्मविश्वासहीनता

यहाँ पर पाठकों के सम्मुख जो बातें प्रमुख रूप से प्रस्तुत करनी हैं, वे यह कि हम किस प्रकार आत्मविश्वास खो बैठे हैं, अपने धर्म को हम किस प्रकार तुच्छ समझने लगे हैं और यह भूलने लग गए हैं कि राष्ट्र होने के अत्यंत प्रमुख अंग रूप धर्म का राष्ट्रीयता की दृष्टि से वस्तुतः कितना महत्त्व है और पाश्चात्य समाजों के अनुचित अनुकरण के कारण हम किस प्रकार यह भ्रममूलक कल्पना कर बैठे हैं कि राजनीति के क्षेत्र में धर्म का समावेश नहीं किया जा सकता। उधर यूरोप अमेरिका जैसे देशों में यह प्रश्न शायद ही कभी उठता है। वे दोनों महाद्वीप क्रिश्चियन मत के अनुयायी हैं और इसी से उनके पारस्परिक राष्ट्रीय व्यवहारों में यह प्रश्न प्रमुखता से कभी सामने आता ही नहीं। तब भी उनमें आंतरिक पक्षोपपक्षों की दलबंदियाँ तो हुई ही हैं। किंतु स्वाभाविक रूप से उन्हें विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। इसीलिए पाश्चात्य राजनीति-विशारद उतना ही कहने में संतोष मान लेते हैं कि राष्ट्र के विभिन्न अंगों में धर्म एक सर्वसाधारण समान अंग है। इसी कारण से उनका सारा ध्यान प्रादेशिक विभाग कल्पना पर ही केंद्रित रहता है। यद्यपि राजनीतिशास्त्र के पाश्चात्य पंडितों ने राष्ट्र कल्पना की रचना भौगोलिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से ही की है, तो भी उन्होंने यह भी प्रतिपादन किया है कि धर्म-दृष्टि से निर्माण होनेवाली जाति, उसका धर्म तथा भाषा - इन अंगों का समावेश राष्ट्र बनानेवाले अंग-प्रत्यंगों में प्रमुख रूप से किया जाना आवश्यक है। इस पुस्तक के लेखक महोदय ने उनके इस कथन को विशेष तथा स्पष्ट करके दिखाया है। राष्ट्र की कल्पना उक्त बातों पर अवलंबित है, इस बात की ओर ध्यान देकर ही उक्त पंडितों ने (प्रथम) यूरोपियन महासमर के बाद प्रादेशिक बँटवारा करते समय विभिन्न राष्ट्रों की भौगोलिक सीमा में परकीय जनसंख्या का समावेश उचित रूप से किया है। यूरोप की इस अत्यंत जटिल समस्या को यूरोपियन राजनीतिज्ञों ने किस कुशलता के साथ हल किया है, यह अब सबको भली-भाँति विदित है और उसी का विस्तृत विवरण तथा वर्णन इस पुस्तक में है। परस्पर विरोधी अधिकारों के समीकरण की समस्या को वे राष्ट्र के भौगोलिक विभागों का विचार करके हल करना चाहते थे, फिर भी 'राष्ट्र' शब्द की शास्त्रशुद्ध (अर्थात् तर्कसंगत) व्याख्या को भंग न होने देने का कठिन कार्य

अत्यंत कुशलता एवं दूरदर्शिता के साथ संपादित करते हुए उन्होंने उसे हल कर दिया है। इसमें उन्होंने निस्संदिग्ध रूप से यह घोषित किया है कि धर्म, संस्कृति तथा भाषा, इन अंगों के संयोग से एक बनी हुई जो जाति (अर्थात् समाज –सं.) किसी देश में प्राचीन समय से लेकर रहती आई हो वही उस राष्ट्र की अधिकृत जाति समझी जानी चाहिए, राष्ट्र की नागरिकता को प्राप्त करने के लिए ये लोग कितने ही पात्र क्यों न हों, तथा धर्म--संस्कृति इत्यादि बातों में उन्हें सहायता देना कितना ही न्यायसंगत क्यों न हो, फिर भी राष्ट्र को दृष्टि में रखते हुए तो ये लोग पराए ही समझे जाने चाहिए।

धर्मकल्पना का ह्रास

किंतु यूरोपियन राष्ट्रों में धर्म कल्पना का पूर्णतया ह्रास हो गया है। किसी व्यक्ति या समाज के जीवन में धर्म का विशेष स्थान है ऐसा वे नहीं मानते। वहाँ पर धर्म ऐसी बुरी दशा में पहुँच गया है कि केवल कुछ व्यक्तियों के मन की मौज में ही उसका अस्तित्व पाया जाता है; अन्य अवस्थाओं में उसकी आवश्यकता कहीं भी प्रतीत नहीं होती। राजनीति एवं अंतर्राष्ट्रीय मामलों से तो धर्म को दूध की मक्खी की भाँति निकालकर अलग कर दिया गया है। इसके लिए कई कारण भी हैं। पहली बात तो यह है कि इन विषयों में धर्म कई बार शांतिदूत बनने की अपेक्षा लड़ाई-झगड़े का मूल कारण और लूटपाट, हत्याकांड, रक्तपात इत्यादि अत्याचारों का कारण हो चुका है। इस धर्म के कारण लंबे समय तक कतिपय यूरोपियन राष्ट्र अनेकानेक युद्धों की दावाग्नि में झुलसे जाकर उनका सारा जीवन रक्त-शोषित हुआ। धर्म की यह छाप उनके दिलों पर अब भी ज्यों की त्यों बनी रहती, किंतु स्वतंत्र बुद्धि तथा विचार शक्ति रखनेवाले विचारकों एवं वैज्ञानिकों के हृदयाकाश में ज्ञान एवं विज्ञान के उदय होते ही जो जिज्ञासा जागृत हुई उसकी तृप्ति उनका वह धर्म नहीं कर सका। विज्ञान की विविध शाखाओं के सर्वव्यापक ज्ञान के द्वारा भौतिक संसार पर वे जो महान विजय प्राप्त कर सके, उसके आगे धर्म मत-ग्रंथ के अंदर बतलाई गई दंत कथाएँ टिक नहीं सकीं। उनपर रही लोगों की सारी श्रद्धा जाती रही और उनपर रहा हुआ विश्वास उड़ गया। सामाजिक जीवन में आवश्यक समझा जानेवाला धर्म भी उस समाज से प्रायः अर्धसुन्न हो चुका है। लगभग ऐसे ही समय में वहाँ पर प्रचंड प्रगतिपूर्वक औद्योगिक उन्नति हुई और उससे उत्पन्न हुए आर्थिक प्रश्नों के कारण एक ऐसी

विचित्र परिस्थिति उत्पन्न हुई कि सभी के हृदय उसकी ओर आकर्षित हुए। इन्हीं सारे कारणों से राष्ट्र-कल्पना का परीक्षण फिर से एक बार करने का समय आ उपस्थित हुआ और धर्म को पीछे ठेल दिया गया।

समान परंपरा एवं आकांक्षाएँ

'धर्म को राजनीति से अलग रखो' वाली इस पाश्चात्य घोषणा का महत्त्व वहाँ पर भी प्रायः नहीं के बराबर ही है। यूरोप में तो तात्त्विक रूप से प्रायः एक ही धर्म मत का प्रसार पाया जाता है। यद्यपि उसके अंतर्गत कुछ उपभेद पाए जाते हैं, तो भी उन्हें विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता। धर्ममत की एकता ही की ओर सबका ध्यान केंद्रित होता है। किंतु भारत के राजनीतिक नेताओं ने भी यहाँ पर उसी घोषणा को स्वीकार कर लिया। जिनके हृदय पर पाश्चात्य शिक्षा का विशेष प्रभाव पड़ा था और जिन्हें उसके अभाव व अभियोगों का यथार्थ आकलन नहीं हुआ था, ऐसे लोगों ने दूरदर्शिता से काम न लेकर भारत की राजनीति में उक्त यूरोपियन नीति को अंगीकार कर लिया। यूरोपियन लोगों ने जिस नीति का अवलंब किया था, वह वास्तविक रूप से उनके खाने के दाँत थे या दिखाने के उसकी परीक्षा न करके इन भारतीय राजनीतिक लोगों ने वह पाश्चात्य नीति उसके अर्थ एवं अक्षरों सहित ज्यों की त्यों भारत के सिर पर मढ़ दी। इसमें उन्हें यह दिखाई दिया कि राष्ट्र का निर्माण करनेवाले जो पाँच अंग रहते हैं, उनमें से धर्म तथा संस्कृति को अलग हटाकर ही 'राष्ट्र' शब्द को स्वीकार किया गया है और इसलिए उन्होंने भी इस व्याख्या को स्वीकार कर लिया। गत कुछ वर्षों से राष्ट्र रूप की जो कल्पना की जा रही है, उसके अनुसार इन लोगों के द्वारा बनी हुई जो व्याख्या पाई जाती है, वह इस प्रकार है— 'किसी एक भौगोलिक मर्यादा से स्पष्ट किए गए देश में रहनेवाला ऐसा एक मानव-समाज राष्ट्र कहलाता है, जिसकी सर्वसाधारण परंपरा एवं आकांक्षाएँ समान हों।

परंपरा का तात्पर्य

इस व्याख्या की ओर देखने पर हमें स्पष्ट दिखाई देगा कि केवल शब्दों को छोड़कर अन्य किसी भी बात में उसके स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं किया गया है। मूल तत्त्वों में जरा अंतर न कर केवल शब्द रचना में ही सुधार किया हुआ दिखाई देता है, क्योंकि जब हम 'परंपरा' का अर्थ देखने जाते हैं, तब उसमें यही अर्थ पाया जाता है कि पुरातन राजनीतिक,

धार्मिक, सामाजिक तथा आर्थिक दृष्टि से घटी हुई ऐतिहासिक घटनाओं के एकत्रित परिणाम के कारण उस समाज को जो एकता प्राप्त होती है, अर्थात् पूर्वापर संस्कृति एवं उससे उद्भूत राजनीति के कारण जो एक विशेष रूप की सूत्रबद्धता किसी समाज में आती है, उसी को परंपरा कहते हैं, अर्थात् उसके अंदर जातीयता तथा धार्मिक बातों का समावेश न किए जाने की कमी पाई जाती है, वह केवल उपार्थ है, मौलिक नहीं, यह बात विचार करने पर सहज ही ध्यान में आ सकती है। क्योंकि प्राचीन काल की लड़ाइयों में जब कभी एक देश में परिणित होनेवाली किसी जाति का किसी अन्य देश की जाति के साथ संघर्ष होता था, तब वह जातीय अथवा धार्मिक या इन दोनों कारणों से होता था, और न केवल दैशिक कारणों से। धार्मिक राजनीतिक तथा आर्थिक दृष्टि से होने वाले संस्कारों के द्वारा जाति की सृष्टि होती हुई उन संस्कारों के द्वारा एक विशेष संस्कृति बनती जाती थी। धर्म तथा संस्कृति ही से परंपरा बनती थी और अब भी बनती है। इन दोनों के अतिरिक्त परंपरा नाम की कोई स्वतंत्र वस्तु नहीं है। यदि किसी लड़ाई में किसी एक जाति ने दूसरी जाति पर आक्रमण करके उसे परास्त कर दिया और देश में अपना पैर जमाया, तो उन दोनों - जित तथा जेता जातियों के बीच के परस्पर संबंध हमेशा शत्रुता के ही होते हैं और जहाँ पर ऐसी स्थिति होगी, वहाँ पर हम अपनी कल्पना शक्ति को चाहे कितनी ही क्यों न तानें, फिर भी यह कहना हमारे लिए सर्वथा असंभव ही प्रतीत होगा कि ऐसी परस्पर विरोधी दोनों जातियाँ समान परंपरा से युक्त हैं। कुछ इने-गिने उदाहरण ऐसे भी हैं जहाँ जित तथा जेता दोनो जातियाँ एक ही प्रधान जाति की शाखाओं से पैदा हों और धर्म तथा संस्कृति की दृष्टि से उनमें एकता रही हो तो उनमें रहा हुआ नगण्य अंतर दूर होकर वे दोनों शाखाएँ एक-दूसरे में मिल जाएँ और एक प्रबल जाति में परिवर्तित हो जाएँ और फिर व्यावहारिक रूप से आगे चलकर वही संयुक्त जाति उस राष्ट्र की स्वामिनी बन बैठे। इसीलिए आगे जब कभी इस बात को परखने और निश्चय करने का समय प्रस्तुत होगा, कि कौन-सी जाति राष्ट्रीय है और कौन पराई, तब उस परिस्थिति में निःसंदिग्ध रूप से हमें इसी निश्चय पर पहुँचना होगा, कि जो जाति पुरातन समय से एक ही धर्म, संस्कृति आदि से युक्त रहती आई हो, वही उस स्थान की राष्ट्रीय जाति है और उसके विपरीत जो दूसरी जाति उससे शत्रुता रखती हुई भी उस देश में निवास करती होगी, वह पराई होते हुए भी युद्ध-नियमों के बलबूते पर ही

वहाँ पर टिकी हुई है। नई व्याख्या के अनुसार, 'राष्ट्र' शब्द की व्याख्या का जो दूसरा मार्मिक अंग 'साधारण स्वरूप की आकांक्षाएँ' है, उसके संबंध में तो विशेष स्पष्टीकरण करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। क्योंकि स्वाभाविक रूप से ही वे सारी आकांक्षाएँ उस देश की संपूर्ण जनता में पाई जाती हैं और उन्हीं की कक्षा में राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक आदि विविध कार्यक्षेत्रों का अंतर्भाव पाया जाता है।

राष्ट्र के भाग्य संवर्द्धन की अदम्य इच्छा

एक बात स्पष्ट है कि हर एक मनुष्य तथा जाति अपनी-अपनी पूर्व परंपरागत मनोरचना के अनुसार ही आकांक्षाएँ धारण कर सकती हैं और पूर्व परंपरा के अनुसार ही उसकी मनोवृत्ति की रचना भी होती जाती है। यह सिद्धांत अनुभव से प्रमाणित हो चुका है। अतः संसार के पृष्ठ भाग पर 'देश' संस्था से निर्दिष्ट किए जानेवाले प्रदेश के अंदर रहनेवाले लोगों की आकांक्षाओं में समानता होने के लिए उनके हृदयों की स्थिति एवं बनावट में भी समानता का होना अवश्यंभावी है। इस प्रकार हृदयों की स्थिति एवं बनावट में समानता का निर्माण होने के लिए एकमेव सजातीय परंपरा का होना जरूरी है। कहना न होगा कि जो लोक-समाज इस प्रकार विशिष्ट स्वरूप की सजातीय परंपरा से सम्बद्ध हों, उन्हीं की आकांक्षाएँ भी समान एवं एकरूप हो सकेंगी । ऊपर बतलाए हुए उदाहरण को जब हम इस कसौटी पर कसेंगे, तब हमें यह दिखाई देगा कि जब उस देश में एक जाति प्राचीन समय से अपनी धर्मादिक एकता के द्वारा अपने देश के साथ सब प्रकार से ममता के पाशों में निबद्ध हुई हो और उसके विपरीत दूसरी जाति ने युद्ध के नियमों से अपना अस्तित्व वहाँ पर प्रस्थापित कर रखा हो और उस मूल जाति के साथ सतत शत्रुता करती हुई बलात्कारी घमंड से आक्रामक के नाते से वहाँ रहती आई हो, तो उस स्थिति में यह सर्वथा असंभव है कि स्थायी रूप से उन दोनों जातियों के बीच में समसमान हित संबंध बने रहें और इसी दृष्टि से ऐसे देश में रहनेवाली सारी जनता की (इन दोनों जातियों की) आकांक्षा भी समसमान रहना अस्वाभाविक ही है। यहाँ पर एक प्रश्न उठाया जा सकता है कि ऐसे स्थानों पर कौन-सी जाति 'राष्ट्र' कहलाए जाने योग्य होगी? इस प्रश्न का यही एक उत्तर दिया जा सकता है कि जो जाति उस देश के साथ निगड़ित होकर अपने उस पूर्व परंपरागत देश को स्वदेश मानती हुई समसमान धर्म, संस्कृति आदि के

द्वारा उस देश का, राष्ट्र का भाग्य संवर्धन करने की अदम्य इच्छा धारण करती हो, वही उस राष्ट्र की 'राष्ट्रीय जाति' कहलाने योग्य होगी।

नई एवं पुरानी व्याख्या

'राष्ट्र' शब्द की केवल भौगोलिक दृष्टि से की गई नई व्याख्या का विश्लेषण करने पर यह बात हमारे ध्यान में सहज ही आ सकती है कि यह नई व्याख्या इस पुस्तक में विस्तारपूर्वक संपूर्णता से स्पष्ट की गई व्याख्या का अनुवाद मात्र है, उससे अधिक कुछ भी नहीं। नई व्याख्या में 'परंपरा' शब्द के द्वारा जो अर्थ दिखाने का उद्देश्य है, वह उस पूर्व व्याख्या में समाविष्ट धर्म, संस्कृति तथा जाति इन तीन शब्दों का एकीकृत अर्थ ही है। इसी प्रकार सर्वसाधारण आकांक्षाओं के संबंध में जो उल्लेख नई व्याख्या में पाया जाता है, उसके संबंध में भी कहा जा सकता है कि इस प्रकार आकांक्षाओं की समानता तो जाति, धर्म तथा संस्कृति की समानता से हृदयों की जो समान स्वरूप की गढ़न बनती है और उनमें समान हितसंबंध, बुद्धि और समान इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं, उन्हीं के द्वारा एकरूप आकांक्षाएँ प्रकट होती हैं, अन्यथा नहीं। इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि इन दोनों व्याख्याओं में अंतर केवल शाब्दिक ही है, मौलिक नहीं। इतना ही नहीं, वरन् पुरानी और नई व्याख्या की विशेष छानबीन करने पर पुरानी व्याख्या ही अधिक अच्छी प्रमाणित होगी, क्योंकि वह अधिक स्पष्ट, सरल, निःसंदिग्ध तथा व्यवहार्यता की दृष्टि से पूर्णरूपेण समुचित है। अतः इस ग्रंथ के रचयिता ने, नई व्याख्या की ओर विशेष ध्यान न देकर पुरानी व्याख्या से ही काम लिया है और उसी के द्वारा राष्ट्र स्वरूप का आविष्करण किया है।

यहाँ पर एक बात का स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। पुरानी व्याख्या में राष्ट्र कल्पना का एक अंग 'भाषा' माना गया है, किंतु नई व्याख्या में उसका समावेश नहीं किया गया है, क्योंकि धर्म, संस्कृति तथा जाति इन तीनों बातों में एकता होने पर भी हमारे देश जैसे विस्तीर्ण देश में मूल भाषा एक ही होने पर भी प्रांत तथा विभाग भेद के कारण उससे बनी हुई अन्य भाषाओं में सर्वदूर अंतर पड़ना स्वाभाविक है। जैसे-जैसे अधिकाधिक काल व्यतीत होता जाता है, वैसे-वैसे यह अंतर बढ़ता जाता है और उससे भाषा-विषयक विविधता का निर्माण होता है। फिर भी इन सारी भाषाओं की जड़ में मूल मातृभाषा ही का प्रवाह बहता रहता है और उन पृथक-पृथक

भाषाओं के वातावरणों से यह बात स्पष्ट दिखाई जा सकती है कि यद्यपि ऊपरी रूप से उनमें विविधता दिखाई देती है तो भी उस विविधतापूर्ण पृष्ठ भाग के नीचे भाषा की एकात्मता का अस्तित्व बना हुआ है। यह होते हुए भी देश की भिन्न-भिन्न जातीय भाषाओं में इस प्रकार की विविधता (मौलिक एकता होते हुए भी) दिखाई देने के कारण ज्ञात होता है कि 'भाषा' शब्द पर जोर नहीं दिया गया है।

प्राचीन हिंदुस्थान देश— हिंदू-राष्ट्र

प्राचीन तथा अर्वाचीन राजनीतिशास्त्र की विचारधारा की जड़ में जो एकता एवं समानता है, वह इस प्रकार प्रमाणित होने पर भी इस छोटी सी पुस्तक में राष्ट्र के विभिन्न अंग-प्रत्यंगों का जो प्रतिपादन किया गया है, उसका विशेष ध्यान देकर अभ्यास किया जाना चाहिए और राष्ट्र-निर्माण करनेवाले उन अंग-प्रत्यंगों का यथार्थ रूप से जो महत्त्व है, उसे अच्छी रीति से समझ लेना चाहिए और फिर उस सशास्त्र ज्ञान के आलोक में वर्तमान भारत की ओर दृष्टिक्षेप करते हुए हमें इस बात का शोध करना चाहिए कि भारत का वास्तविक राष्ट्र स्वरूप अथवा राष्ट्रीयत्व कौन-सा है? इस प्रकार परिशोधन करने के बाद इस पुस्तक के लेखक के कथनानुसार पाठक भी इसी निर्णय पर पहुँचेंगे कि यह मातृभूमि, यह प्राचीन हिंदुस्थान देश, हिंदू-राष्ट्र ही है। यही हिंदू-राष्ट्र प्राचीन समय में वैभवसंपन्न तथा ऐश्वर्यशाली रहा है। आज यद्यपि उसकी दशा बहुत गिर गई है, तो भी इसमें संदेह नहीं कि अस्तित्व उसी का है। और आगे चलकर अनंत भविष्यत् काल में भी उत्कर्ष तथा समग्र ऐश्वर्य से युक्त होकर इस देश में अपने परिपूर्ण स्वामित्व सहित निवास करने का अधिकार भी इसी हिंदू-राष्ट्र का है। वर्तमान राष्ट्रीय कार्यकर्ताओं को आज यदि कोई आवश्यकता है, तो इसी मनोभूमिका को ग्रहण करने और इस बात को जानने की है, क्योंकि इस समय इस राष्ट्र के अच्छे से अच्छे कार्यकर्ताओं के सब परिश्रम विपथगामी हैं और वे इस (हिंदू) राष्ट्र की उन्नति एवं विकास के कार्य में घातक प्रमाणित हो रहे हैं। जनसाधारण के हृदय में यह भ्रम फैलाया जा रहा है कि अर्वाचीन राजनीतिशास्त्र के अनुसार इस हिंदू-राष्ट्र ही का स्वरूप अक्षुण्ण बनाए रखना तथा हिंदू जाति को इस देश का स्वामित्व दिलाने की चेष्टा करना अन्यायजनक एवं अशास्त्रीय है। लोगों के दिलों पर यह भ्रमजाल फैलाया गया है कि वर्तमान संसार में 'राष्ट्र' शब्द की व्याप्ति

केवल भौगोलिक परिव्याप्ति तक ही सीमित रहती है और उसमें जाति, धर्म, संस्कृति आदि के लिए कोई स्थान ही नहीं है। इस प्रकार का भ्रमजाल फैलाने वाले आधुनिक अगुआ लोग अपनी स्वयमन्य ज्ञानदानता के अज्ञानी चक्कर में पड़कर विपर्यस्त भावनाओं के कारण उन सिद्धांतों की हँसी उड़ाते हैं, जिनका निर्णय हमारे पूर्व आचार्यों ने अपनी विशाल तथा यथार्थग्राही बुद्धि के बलबूते पर किया था। और साथ ही साथ, वे लोग अपने युक्तिवाद से अपने देश बांधवों का बुद्धिभेद करके उन्हें विपथगामी बनाते हैं। ऐतिहासिक तथा सांस्कृतिक दृष्टि से केवल अविश्वास और शत्रुता ही नहीं, बल्कि मन में विद्वेष का विष रखने वाले समाज की इस देश के मूल निवासी समाज के साथ एकता स्थापित करने का जो अव्यवहार्य जी-तोड़ प्रयत्न अपने-आपको सुजान देशभक्त समझनेवाले इन अभागों के द्वारा चलाया जा रहा है, उससे तो हमारे इस राष्ट्र के जीवन-साहित्य की जड़ ही में कुठाराघात हो रहा है। ऐसे लोगों की आँखें खोल देने तथा उन्हें यथार्थ राष्ट्रकार्य की कल्पना कराकर उचित मार्ग सोचने-समझने की स्फूर्ति दिलाने के लिए इस पुस्तक का बहुत उपयोग होगा।

कार्यक्षेत्र में उतरने का आवाहन

पुस्तक के लेखक ने बड़ी आस्था के साथ इस पुस्तक के उत्तरार्ध में 'हिंदुस्थान-हिंदू-राष्ट्र' की कल्पना का यथार्थ स्वरूप दिखाकर प्रांजल बुद्धिवाले सारे हिंदुओं से यह प्रार्थना की है कि वे अपनी जाति एवं संस्कृति का ऐश्वर्य बढ़ाने के लिए समर्थ, सुसंगठित एवं बलवान होकर कार्यक्षेत्र में उतर आएँ। इस बात का तो पहले ही पूर्ण रूप से वाद-विवाद होकर निर्णय हो चुका है कि 'हिंदू' शब्द में किस कल्पना एवं अर्थ का समावेश होता है। वह शब्द यथार्थ रूप से संग्राहक है और उसी विशाल अर्थ में इस पुस्तक में उसका उपयोग भी किया गया है और अंत में उस विशाल अर्थ में जिनका समावेश किया जा सकता है, ऐसी हिंदू जाति की अंगभूत अन्यान्य उपजातियों से इस पुस्तक में यह प्रार्थना की गई है कि वे शीघ्रातिशीघ्र जागृत होकर 'हिंदू-राष्ट्र' के उद्धार के लिए प्रतिज्ञाबद्ध बन जाएँ, क्योंकि हम इस समय कैसी दयनीय दशा को आ पहुँचे हैं, यह बात वर्तमान परिस्थिति पर सरसरी रूप से दृष्टि दौड़ाने पर भी तत्काल समझ में आ सकती है। आज हमारे देश का जो आतंकग्रस्त चित्र दिखाई दे रहा है, वह इस प्रकार है— एक ओर एक समाज प्रकट रूप से हमारा शत्रुत्व करता हुआ हम पर आक्रमण कर रहा है और हमारे मनुष्यबल को तथा

अन्य साधन-संपत्ति को हमारे हाथों से छीन रहा है, दूसरी ओर दूसरा समाज अपने मधुर भाषणों का भुलावा देता हुआ उपकार एवं उपयोगिता का आडंबर खड़ा करके तथा निरुपद्रवी पवित्रता का ढोंग फैलाकर हमारी मनुष्य-संपत्ति हमारे हाथों से निकाल ले जाता है। राष्ट्र-रक्त का शोषण कर रहा है और इसके अतिरिक्त अन्य लोग, जिनसे हमारे पैरों में पड़ी हुई दासता की शृंखलाएँ अधिक दृढ़ हुईं और हम अधिकाधिक हीन दशा को पहुँचे, इस प्रकार की हानिकर कार्यवाहियाँ कर रहे हैं। इसपर भी हम लोगों की पारस्परिक उदासीनता, असावधानी, परस्पर वैमनस्य, पारस्परिक अविश्वास, अपनी संस्कृति के संबंध में सहेतुकतापूर्वक भ्रम फैलानेवाले पाश्चात्य दृष्टिकोण-जनित अनास्था एवं अनादर रखनेवाले हठीले लोगों की अधिकता होने से उनके द्वारा हमारे पूर्वजों के संबंध में फैलाई जानेवाली नासमझी और अयुक्त तथा अनर्थकारी राजनीतिक वातावरण के निर्माण की भूलभुलैया में पड़कर लोगों को अपने हित से विमुख कर उनके अज्ञान से लाभ उठाते हुए उन्हें आत्मघात करने के लिए प्रवृत्त करनेवाले पिशुन-बुद्धि के नेताओं की बेताल सवारी का कोलाहल, इन सारी क्रियाओं का संयोग उक्त दुरवस्था के साथ होकर हमारे देश की परिस्थिति तथा वस्तुस्थिति बहुत हृदयविदारक बन गई है। स्वयमन्य पंडित बनकर जो लोग हमारी अच्छी से अच्छी बातों का विनाश कर उनके स्थान पर पाश्चात्य हीनता की प्रतिष्ठापना करने जा रहे हैं, इतना ही नहीं, वरन् जो कुलकपूत हमारे मन में अपनी वास्तविक राष्ट्रीयता की विस्मृति उत्पन्न कराकर ऐसी एक भयानक एवं विचित्र परिस्थिति की ओर हमें ले जा रहे हैं कि जिससे हमारे हिंदुत्व का सब प्रकार से नाश हो। उनकी ये सारी करतूतें और इनसे भी अधिक भयानक कार्यवाहियाँ अब तक जिस संकटमयी परिस्थिति का वर्णन किया गया है, उससे भी भयानक तथा विनाशकारी विपत्तियों से भरी हुई हैं। इन लोगों में एक पक्ष यह कहता है कि हिंदू धर्म तथा संस्कृति भ्रममय होने के कारण त्याज्य है, तो दूसरा पक्ष 'ये सब बातें भ्रमशीलता एवं मूर्खता का मूर्तिमान स्वरूप हैं' ऐसा कहते हुए उनका त्याग करने के लिए प्रवृत्त करके हमें संदेहास्पद एवं संदेहजनक किसी विपरीत स्वरूप के राजनीतिक मोक्ष की मृगमरीचिका के पीछे दौड़ने का उपदेश दे रहा है। इन दोनों प्रकार के विघातक प्रयत्नों में उन्हें बहुत कुछ सफलता प्राप्त हुई है और उससे हिंदू-हृदय में यह भ्रम पैदा हो गया है कि प्राचीनकाल से हमारी अपनी रही आई हुई यह मातृभू वास्तविक रूप से हमारी नहीं है और न

हम लोग वास्तविक रूप से सुसंस्कृत ही हैं। यह भ्रम हमारे हृदयों में बैठ जाने के अन्य भी कुछ कारण हैं। उनमें से कुछ कारणों का विस्तृत विवेचन इस पुस्तक में लेखक ने किया है। संभव है कि सहेतुक बुद्धिभेद के जो उदाहरण उसमें दिग्दर्शित किए गए हैं, उनसे सब लोग सहमत न हो सकें। फिर भी उनके अंदर समाए हुए इस विधेय को तो कोई भी अमान्य नहीं कर सकेगा कि यथार्थ ज्ञान को छिपाकर अयथार्थ कल्पना तथा मिथ्या भावनाओं का प्रभाव हिंदू-हृदयों पर जमाने का सहेतुक प्रयास किया गया है और इस प्रयास में उन्हें बहुत कुछ सफलता भी मिली है। हिंदुओं के हृदयों पर इन प्रयासों की मोहिनी फैली हुई है। इतना ही नहीं, वरन् उसकी पक्की पकड़ हिंदू नेताओं के दिलों पर भी जमी हुई है, जिससे ये नेता भी उन स्वप्नमयी भ्रममूलक कल्पनाओं एवं विनाशकारी उद्देश्यों की ओर जनसमाज को खींचकर ले जाने की चेष्टा कर रहे हैं।

जन-जागरण

उक्त भ्रममयता की मोहिनी से जन-मन जागृत हो उठे, अपनी नैसर्गिक श्रेष्ठता, प्रचंड शक्ति एवं सुजानता के गुणों का उसे भान हो तथा पूर्वकाल की अत्युन्नत स्थिति फिर से प्राप्त कर लेने की महदाकांक्षा लोगों में जागृत हो, इसी उद्देश्य से पुस्तक के लेखक ने इस पुस्तक में अपने जागरणनाद को निनादित किया है। दुर्बलता से उत्पन्न असमर्थता की भावना, आत्मविश्वास का अभाव, असमर्थता की निराशा से उत्पन्न होनेवाली हीन भावना, इन सारे दोषों को लेखक ने यथासंभव हटा दिया है। साथ ही साथ, उसने हम लोगों के हृदयों में घर करके बैठी हुई राष्ट्रीयता की भ्रममूलक कल्पना को अलग हटाकर हिंदुस्थान हिंदू-राष्ट्र ही है, इस प्रकार की निश्चिति हमारे मन में चिरस्थायी करते हुए इस मिथ्या आरोप की व्यर्थता भी हमारे मन से दूर कर दी है कि हमारे अपने रहते आए हिंदुस्थान देश के अंदर यदि हम अपने स्वाभाविक स्वरूप के अधिकारों की रक्षा करने के लिए तत्पर हो जाएँ, तो वह निंद्य या दूषणीय जात्यंधता होगी। किसी देश की स्वामिनी जाति स्वयं अपने ही देश के अंदर जात्यंधता के इस आरोप की पात्र हो ही कैसे सकती है? अलबत्ता, जो पराए लोग इस देश में इस इच्छा से रहने लग गए हैं और यहाँ जिनका अस्तित्व राष्ट्र की सद्भावना पर ही निर्भर रहेगा, वे सब यदि एक होकर यहाँ की हकदार जाति का विरोध करने लग जाएँ, तो उन्हें राष्ट्राभिमान-शून्य, इतना ही नहीं, वरन् यदि वे शत्रुभाव धारण कर लें, तो उस दशा में उन्हें

राष्ट्र का शत्रु भी माना जाएगा और माना जाना भी चाहिए। अपनी शक्ति एवं अधिकारों का ज्ञान प्राप्त कर राष्ट्र व जाति जागृत हो उठी है, यह देखकर जो लोग भय से ही हल्ला मचाते हैं, वे लोग प्रत्यक्ष पापकर्म करते हुए पकड़े जानेवाले दुराचारी पापियों को छोड़कर दूसरे कौन हो सकते हैं? चोरों की इस प्रकार की हाय-तौबा की ओर ध्यान देने की धनी को कोई आवश्यकता नहीं। इसके विपरीत उसको तो यही उचित होगा कि वह ऐसे दंड अपनाए कि जिनसे उनमें पक्की धाक जम जाए, जिसके प्रभाव से फिर कभी आँख उठाकर धनी के स्वत्वों पर अपनी कुदृष्टि न डालें। जनता के मन में इस प्रकार की जागृति उत्पन्न हो, ऐसा प्रयत्न भी लेखक ने इस पुस्तक में किया है।

अहिंदुओं के संबंध में दृष्टिकोण

पाठकों को इस पुस्तक को अभ्यासपूर्वक पढ़ने की मंत्रणा या सम्मति देने से पहले एक और बात बतलाने की आवश्यकता है। जिनके देशप्रेम एवं प्रांजलता के संबंध में संदेह तक नहीं किया जा सकता, ऐसे कुछ नेता भी अन्य लोगों की भाँति यह प्रश्न पूछ बैठते हैं कि 'अहिंदुओं का आप क्या करेंगे?' 'क्या उन्हें इस देश से निकाल बाहर करेंगे,' 'राष्ट्र के भावी राजनीतिक उत्कर्ष के कार्य में अहिंदुओं के लिए क्या प्रबंध किया जाएगा?" उनके ये प्रश्न निःसंदेह सच्चे अंतःकरण के होते हैं। उग्र दल की दृष्टि से तो दूसरे प्रश्न का उत्तर 'हाँ' दिया जा सकेगा, क्योंकि इनमें से कुछ अहिंदू जातियों ने पूर्वकाल में अपनी ऐतिहासिक अत्याचारपूर्ण घटनाओं की सृष्टि के लिए क्या ऐसे कार्य नहीं किए हैं, जिनके कारण हिंदुओं के हृदयों पर उनके संबंध मे सतत तीव्र द्वेष की भावना बनी रहे? क्या उनमें से कुछ लोगों की ओर से अब भी ऐसे अनन्वित कार्य नहीं हो रहे हैं कि जिनके द्वारा वे इस कठोर शासन के लिए पात्र प्रमाणित हों ? क्या वे अब तक हीन स्वार्थी बुद्धि से ऐसी माँगें अधिकाधिक अनुपात में प्रस्तुत नहीं करते जा रहे हैं, जो राष्ट्र-कल्याण के लिए विघातक हों? क्या वे ऐसा व्यवहार अब तक नहीं करते आ रहे हैं, जो राष्ट्रद्रोही एवं प्रत्यक्ष शत्रुता का द्योतक हो? किंतु यह सब कुछ होते हुए भी यह हिंदु-राष्ट्र अपनी प्राचीन उदारता की ओर ध्यान देकर अब तक विशाल हृदय से उनके सारे अपराधों को क्षमा करता आया है और अब भी यद्यपि उनके उक्त दुष्टतापूर्ण कार्यों की ओर ध्यान देने पर वे उक्त निर्वासन की सज़ा के पात्र प्रमाणित होते हैं, तो भी हिंदु-राष्ट्र उनके साथ इतनी कठोरता का व्यवहार

नहीं करना चाहता। इन पराए लोगों से केवल एक ही बात की अपेक्षा की जाती है और वह यह है कि वे राष्ट्र के साथ बेईमान न बनें और राष्ट्र की प्रगति की राह में रोड़े अटकाना छोड़ दें। उस दशा में हम भी अपनी शास्त्रशुद्ध कल्पना के अनुसार पाश्चात्य विचारकों की विचार-प्रणाली को उचित स्थान देने के लिए सिद्ध हैं। चाहें इच्छा से हो, चाहे ऐतिहासिक घटनाओं के कारण, किंतु ऐसी पराई अल्पसंख्यक जातियों के अस्तित्व के कारण विभिन्न देश-विदेशों में जो जटिल समस्याएँ उठ खड़ी होती हैं, उसपर विचार करके उन्हें हल करने का कार्य यूरोपियन महासमर के पश्चात् प्रस्थापित हुए राष्ट्र संघ ने कर डाला है। इन अल्पसंख्या वाली जातियों के अधिकारों का समीकरण देश की प्रधान हकदार जाति के अधिकारों के साथ उन्होंने इस चतुराई एवं विवेकपटुता के साथ संपन्न किया है कि जिससे न तो मूल हकदार जाति के हित संबंधों पर किसी प्रकार का आघात ही होता है और न राष्ट्र की एकता ही भंग होने पाती है। उसके द्वारा निश्चित की गई वह व्यवस्था तथा उसकी जड़ में रही हुई विवेक-परंपरा अब सबके लिए परिचित-सी हो गई है। लेखक ने इस पुस्तक में अपने देश की वर्तमान स्थिति की तुलना राष्ट्रसंघ के उस निर्णय के साथ की है। इस परिस्थिति में हो रही राष्ट्रघातक तथा राष्ट्रविरोधी बातें इतनी स्पष्ट तथा सर्वश्रुत हैं कि उनका अधिक विवरण देने की आवश्यकता नहीं है। अतः राष्ट्र संघ के उक्त निर्णय के अनुसार हमारे देश की अल्पसंख्या वाली जातियों का प्रश्न हल किया जाए, इस प्रकार का प्रयत्न करके राष्ट्रीय हित साधना प्रत्येक हिंदू राष्ट्रीय का एक आवश्यक कर्तव्य है। सबसे बड़ी दुःख की बात तो यह है कि इंग्लैंड में भारत के भविष्य की सृष्टि करने के लिए जो वर्तुल परिषद (गोल मेज कान्फ्रेंस –सं.) हुई थी, उसमें हिंदू-राष्ट्र की ओर से हिंदू महासभा के नेता तो इस बात पर जोर देकर कह रहे थे कि हिंदुस्थान जिस राष्ट्रसंघ का एक सदस्य है, उसी राष्ट्रसंघ के द्वारा किए गए निर्णय के अनुसार अल्पसंख्यक जातियों के प्रश्न का निपटारा किया जाए। इसके विपरीत, उस समय राष्ट्र के वास्तविक हित की ही ओर हमारी दृष्टि लगी हुई है, ऐसी डींग मारनेवाले, राष्ट्र के निर्दोष राजनीतिक ज्ञान का सारा भंडार अपने ही पास है, ऐसा दावा पेश करने वाले तथा अपने जाज्वल्य देशप्रेम का प्रदर्शन करते फिरने वाले नेता ने इस सूचना को उल्टाकर उसके स्थान पर इस राष्ट्र के माथे पर राष्ट्रविरोधी, राष्ट्रघातक तथा लोकविलक्षण प्रकार की कुप्रसिद्ध जातीय निर्णय योजना

लदवा ली। उस निर्णय के संबंध में राष्ट्रीय महासभा (अर्थात् कांग्रेस –सं) और उसके शीर्ष पर विराजमान रहे हुए नेता जब 'न तो वह स्वीकृत है और न धिक्कृत' इस प्रकार की वृहन्नलावत नीति का अवलंबन करते हैं और अपनी इस नीति के समर्थन में जब असमर्थनीय एवं हास्यास्पद तर्क पेश करते हैं, तब उनकी उस दयनीय दशा पर तरस आता है और साथ ही क्रोध भी। संयुक्त संसदीय मंडल में जिस रीति से इस प्रश्न की खींचातानी की गई, जिस प्रकार के घृणित रूप के झगड़े लड़े गए, अराष्ट्रीय समझौते का बाजार जिस प्रकार बढ़ाया गया और राष्ट्रहित का गला घोंटने के लिए की जानेवाली स्वार्थपूर्ण लूटमार का जो घृणित दृश्य दिखाई दिया, उसे देखने पर यही एक बात स्पष्टरूप से पाई जाती है कि वर्तमान संसार में 'राष्ट्र' की कल्पना का जो स्वरूप रहता आया है, उसके संबंध में संपूर्णरूप से हम लोग अज्ञान में हैं और हिंदुस्थान के राष्ट्रस्वरूप का भारतीयों के मनों पर जो राष्ट्रीयत्व विहीन, विपर्यस्त एवं विकृत प्रतिबिंब पड़ा हुआ है, वही इस दुरवस्था का प्रधान कारण है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि हिंदुस्थान में हिंदू राष्ट्रीयता का ही राज्य रहे, इस स्वाभाविक तथा नैसर्गिक कल्पना को ग्रहण करना भी भारतीयों के हृदयों के लिए दूभर सा हो उठा है। जिसके सारे हितसंबंध इसी भूमि के साथ निगड़ित हों, इस भारतभूमि ही को जो अपनी मातृभूमि समझता हो, इस मातृभूमि के हितसाधन ही की एकमेव बुद्धि जिसके मन में बसती हो, जिसकी सर्वदा यही धारणा रहती आई हो कि उसके लिए इस संसार में इस मातृभूमि से बढ़कर दूसरी कोई वस्तु पवित्र नहीं है और इन्हीं सब कारणों से जो इस भूमि को अपनी पितृभू एवं पुण्यभूमि मानता आया हो, संक्षेप में इतिहास पूर्वकाल से लेकर जो अति प्राचीन जाति इस देश में रहती आई है, उसी में जिसने जन्म धारण किया हो और प्रांजल राष्ट्र प्रेम से प्रेरित होकर जो इस मातृभूमि के उद्धार कार्य में अपना सर्वस्व अर्पण करने के लिए सिद्ध हुआ हो, उस हिंदू को, उस एकमेव हिंदू ही को 'राष्ट्रीय' (national) यह विशेषण क्यों न लगाया जाए, यह बात हमारी समझ में नहीं आती। हमारे इस देश में ऐसी एक संपूर्ण जाति है, जो ऐसे अफगान या तुर्की खलीफा के हित अपनी एड़ी का पसीना चोटी तक पहुँचाने के लिए सदा प्रवृत्त होती है जिसका अब अस्तित्व तक नहीं रहा है अथवा इस देश के बाहर के किसी एक स्थान को अपना ध्यान-केंद्र बनाते हुए वह उसकी ओर अपनी सारी प्रार्थनाओं का प्रवाह प्रवाहित करती है। इसके अतिरिक्त इस भूमि के

अंदर की किसी भी वस्तु को वह पवित्र नहीं समझती। ऐसी जाति का समावेश राष्ट्रीय जाति में करना या होना सर्वथा असंभव है। ऐसे लोग पराए (घर के बाहरवाले) मानने योग्य हैं।

हिंदू पुनः जगत्गुरु बने

ऐसी वस्तुस्थिति होने पर भी हम हिंदू लोग ऐसी कोई बात नहीं कहते जैसी कि राष्ट्रीय सभा के अध्यक्ष पद को दो बार प्राप्त करने वाले मौलाना मुहम्मद अली ने कह डाली थी। उन्होंने कहा था कि इस समय हमारे दुश्मन रहे हुए अंग्रेजों को इस देश से निकाल बाहर कर देने के लिए हमारा आपस में एक बन जाना एक राजनैतिक पैंतरा है और उनके (अंग्रेजों के) इस देश से निकल जाने के पश्चात् इस देश पर किसका अधिकार रहना चाहिए, इस बात का निर्णय ये दोनों जातियाँ (हिंदू तथा मुसलमान) आपस में लड़कर कर डालें। भारत में रहनेवाली अहिंदू जातियों की राष्ट्रीयता की झलक दृष्टिगत कराने के लिए उक्त शब्द पर्याप्त होंगे। हमारी यह राष्ट्रीय जाति (हिंदू जाति) अपनी सांस्कृतिक उदारता एवं उदात्तता से, प्रायः अपराध की सीमा तक पहुँचनेवाली निस्पृहता की पराकाष्ठा से प्रेरित होकर, अपने मित्रों एवं दुष्ट कृत्य करनेवाले शत्रुओं की ओर भी क्षमा भावना से देखती है तथा उनके सारे अपराधों को बिसार देने के लिए सिद्ध होती हुई अपनी दोनों भुजाएँ फैलाकर विद्वेषी दलों तक को अपने दृढ़तर आलिंगन में समाविष्ट कर लेने एवं उनके साथ बंधुभाव का व्यवहार करने के लिए सदा सिद्ध रहती है। किंतु जिन जातिवालों को अन्य किसी देश में जाने के लिए स्थान नहीं रह गया है, यहाँ पर जिन्होंने जन्म धारण किया है और जीवनपर्यंत इसी देश में रहने के बाद जिनका 'मृत शरीर' इसी देश की भूमि में समाविष्ट होनेवाला है और इस देश के राष्ट्रीयत्व को प्राप्त करने का सौभाग्य जिन्हें प्राप्त हुआ है, ऐसे जातीय लोगों से ऐसी अपेक्षा की जानी बिल्कुल स्वाभाविक होगी कि वे अपने इस पुरातन देश के साथ द्रोह न करें। हिंदू जाति का राष्ट्रीय वातावरण राष्ट्रद्वेष के विष से विषाक्त न बना दें और राष्ट्रसंघ के द्वारा निश्चित की गई अपनी उस सीमा के अंदर रहें, जिससे कि वे अपना अस्तित्व सुखमय बना सकें और साथ ही साथ अन्य जातिवालों के सुख में भी बाधा न उत्पन्न हो। वास्तविक रूप से देखने पर ज्ञात होगा कि यह हिंदू जाति इतनी उदार है कि वह अपने किसी शत्रु के साथ भी दुष्टता का व्यवहार न कर सकेगी

और इस प्रकार अपने शत्रुओं के साथ भी मित्रता का व्यवहार करना स्वयं अपना ही अधिकार समझते हुए उसके लिए वह राष्ट्र संघ जैसी पराई और त्रयस्थ संस्था का मुँह भी ताकती न रहेगी। उसके इस उदारतापूर्ण स्वभाव के पर्याप्त प्रमाण उसके इतिहास में सहज ही में पाए जा सकते हैं। इतना ही नहीं, वरन् यह भी उक्त आधारों को देखने पर प्रमाणित हो चुका है कि उसके स्वभाव में क्षमाशीलता का इतना अतिरेक हुआ है कि जिसके कारण यह गुण भी राष्ट्र के लिए घातक प्रमाणित होकर वर्तमान दुरवस्था का एक कारण बन गया है। इस प्रकार की यह हिंदू जाति है। अपने राष्ट्रीय पुनर्निर्माण में हिंदू उन्हें नहीं भूलेगा, जो आज उसके पड़ोसी हैं, जो उसके घर में रहते हैं, भले ही वे किसी प्रकार वहाँ घुसे हों। उन्हें सब प्रकार का उचित संरक्षण दिया जाएगा जो एक मानव होने के नाते उन्हें मिलना चाहिए। क्योंकि हिंदू-स्वार्थ मानव-प्रेम का ही दूसरा नाम है, यह परंपरा से चला आ रहा है और इसके पर्याप्त ऐतिहासिक प्रमाण मौजूद हैं। ये सब बातें 'राष्ट्र मीमांसा' नामक इस ग्रंथ में, जो देश में अपने ढंग का प्रथम ग्रंथ है, किस प्रकार से विकसित और प्रतिपादित की गई हैं, यह पाठकों को पढ़ने से स्वयं ही ज्ञात होगा। मैं इसके अध्ययन के लिए आपको आमंत्रित करता हूँ। इस ग्रंथ के लेखक की यह हार्दिक इच्छा है कि यह छोटा सा ग्रंथ हमारे राजनैतिक और सामाजिक जीवन में वैज्ञानिक दृष्टिकोण से देखने की शक्ति प्रदीप्त करे और हिंदू राष्ट्र को जागृत करने और सच्ची राष्ट्रीयता के स्वरूप को समझने के लिए प्रोत्साहन दे, जिससे यह राष्ट्र एकता को धारण कर अपनी वास्तविक महानता और शक्ति पर पूर्ण विश्वास रखते हुए गौरव के पथ पर अग्रसर हो सके। इस आशा की पूर्ति हो और हिंदू को पुनः अपना जगद्गुरु का पद प्राप्त हो।

२. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम

(नागपुर के सुप्रसिद्ध नागरिक श्री यादवराव जामदार द्वारा लिखित 'वाल्मीकीज राम एंड हिज पॉलिटिक्स' नामक अंग्रेजी ग्रंथ की २ दिसंबर १९४९ को अंग्रेजी में लिखी प्रस्तावना का भाषानुवाद)

भारतवर्ष के लोगों के सम्मुख प्रभु रामचंद्र का जीवन एक आदर्श पुरुष, मानव-सामर्थ्य के लिए जो सर्वोत्तम उन्नति संभव हो सकती है, उस

मर्यादा पुरुषोत्तम के रूप में अंकित किया गया है। रामचरित्र के महान गायक वाल्मीकि ने प्रभु रामचंद्र के अवतार पर विश्वास होते हुए भी बहुत प्रयत्नपूर्वक उनको अद्‌भुत, रहस्यमय एवं दैवी शक्तियों से युक्त अवतार के रूप में चित्रित नहीं किया, अपितु मानवीय गुणों, मानवीय भावनाओं तथा मानवीय सामर्थ्यसंपन्न एक मनुष्य के रूप में प्रस्तुत किया है।

एक ऋषि एवं द्रष्टा के नाते वाल्मीकि ने उन लोगों की मनोरचना का ठीक-ठीक विश्लेषण किया था, जिनके लिए वे महाकाव्य की रचना कर रहे थे। उन्होंने देखा कि लोग इस दुर्बलता से ग्रसित हैं कि श्रेष्ठ अवतार नामस्मरण के लिए हैं, न कि अनुकरण करने के लिए। इस कमजोरी के कारण लोग कूपमंडूक एवं निरुद्योगी बनते हैं और उनका अधःपतन होता है। इसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य को श्रेष्ठ बनने, परमपिता परमात्मा के समान पूर्ण बनने, इस लोक में चैतन्यपूर्ण कार्यशीलता के द्वारा शुद्ध एवं समृद्धशाली जीवन का निर्माण करने और साथ ही साथ अवतार के द्वारा अभिव्यक्त सत्य का साक्षात्कार करने की प्रवृत्ति (मनुष्य के सच्चे धर्म) का दमन हो जाता है और मनोदौर्बल्य, अंधश्रद्धा और निष्क्रियता उसके स्थान पर आ जाने से समाज का पतन, विघटन और विनाश होता है।

आज भी यह दुर्बलता दिखाई देती है। श्री कृष्ण, श्री रामचंद्र, भगवान बुद्ध (जो सभी अवतार थे) मनुष्यों के सामने आदर्श स्वरूप थे, परंतु लोगों ने अपनी दुर्बलता के वशीभूत होकर उनका अर्थहीन नामोच्चारण मात्र ही किया तथा उनके आदर्श जीवन की ओर से आँखें मूँद ली। शिवाजी, लोकमान्य तिलक और महात्मा गाँधी को अवतार कोटि में रखकर, उन्हें निर्जीव पूजा का विषय बनाने तक लोगों की प्रवृत्ति बढ़ गई। समस्त संकटों का स्वेच्छापूर्वक सामना कर और दुर्लंघ्य पर्वत-सदृश बाधाओं को लाँघकर जीवन के शाश्वत मूल्यों एवं आदर्शों की प्रतिष्ठा करनेवाले उनके जीवनादर्शों को हमने आँखों से ओझल कर दिया।

प्रभु रामचंद्र जी का मानव रूप

हमारे समाज की परंपरागत दुर्बलता का भान होने के कारण वाल्मीकि ने मानवीय विकास की चरम सीमा तथा मानवी गुणों के अनुपम आदर्श के रूप में प्रभु रामचंद्र को, मानवातीत गुणों से युक्त एक मानव के रूप में इस प्रकार प्रस्तुत किया है कि उनकी माता-पिता के प्रति भक्ति, भाइयों के प्रति स्नेह, पत्नी-प्रेम, करुणा और विशुद्धता सबकी प्रेरणा के

विषय बन गए हैं। ये और अन्यान्य प्रतिदिन के मानव-जीवन के पक्षों को इतने उत्कृष्ट रूप में रखा गया है कि जिनसे स्फूर्ति ग्रहण कर सर्वसाधारण मनुष्य अपने दैनिक जीवन को उस उज्ज्वल आदर्श के अनुसार ढाल सके तथा उन्नत कर सके। जिन कठिनाइयों से वे पार निकले, माता-पिता तथा बाद में अर्द्धांगिनी के वियोग का दुःख सहन किया और अंत में पाप एवं अधर्म की शक्तियों पर उन्होंने जो विजय प्राप्त की, उससे हमारे हृदय में आशा की लहर पैदा होती है। विश्वास का अंकुर उगता है और इस अदम्य साहस की स्फूर्ति प्राप्त होती है कि समस्त आपत्तियों से लोहा लेकर, उनपर विजय प्राप्त कर इस पृथ्वी पर अपने को ईश्वरीय प्रतिमा के अनुरूप बना सकते हैं।

महान व्यक्तित्व

परंतु मनुष्य और विशेषतया मनुष्यों के नेता के जीवन का एक पक्ष और है– अपने समाज, जिसका वह स्वयं भी घटक है, के प्रति कर्तव्य। इस पक्ष की अभिव्यक्ति देश, काल, परिस्थिति के अनुसार विभिन्न रूपों में होती है। जो नेता को उपदेशक, धार्मिक एवं सामाजिक सुधारक, राजनैतिक प्रकाश-स्तंभ अथवा इन सब के सम्मिलित रूप में उपस्थित करती है। वाल्मीकि द्वारा गाए गए श्री रामचंद्र के जीवन में इन समस्त रूपों की अभिव्यक्ति होती है। यहाँ एक सीमित प्रस्तावना में, मनुष्यों में आदर्श ऐसे इस महापुरुष के समस्त गुणों की विस्तृत व्याख्या करना अप्रासंगिक होगा। इतना ही कहना पर्याप्त है कि सभी परिस्थियों में, सुख-दुःख में, हमारे समाज ने इस महान व्यक्तित्व से स्फूर्ति प्राप्त की है और सफलता प्राप्त करने में उससे मार्गदर्शन पाया है।

आधुनिक काल में मनुष्य पर राजनीति का प्रभाव है। दिनो-दिन वह अधिकाधिक हावी होती जा रही है। यहाँ यह विचार करने का प्रश्न नहीं है कि यह प्रगति ठीक दिशा में है अथवा नहीं, परंतु यह आज की स्थिति है। राजनैतिक आकांक्षाओं के इस युग में भी श्री रामचंद्र, अंग्रेजी शासन से मुक्ति पाने के संघर्ष में हमारे समाज को स्फूर्ति प्रदान करते रहे हैं। एक मराठी पत्र 'काल' के विख्यात देशभक्त संपादक स्वर्गीय श्री शिवराम महादेव परांजपे ने श्री रामचंद्र को 'अत्याचारी-संहारक' संबोधित कर लोगों को उनके कार्यों का स्मरण दिलाया था और लोगों में विदेशी शासन से लोहा लेने की ज्वाला प्रदीप्त की थी। महात्मा गाँधी ने 'रामराज्य'

का स्मरण दिलाकर लोगों को प्रेरित किया कि वे अपने को सुखी और आर्थिक अभाव से मुक्त करने के लिए प्रयास करें।

रामराज्य की पुनर्स्थापना

उपर्युक्त पृष्ठभूमि में प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक ने श्री रामचंद्र को चतुर राजनीतिज्ञ तथा ऐसे 'रामराज्य' के संस्थापक के रूप में लोगों के सामने कुशलता से प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है, जिसमें शांति का साम्राज्य था, लोग धर्म और कर्तव्य का पालन करते थे तथा सुख और वैभव का जीवन बिताते थे। श्री रामचंद्र के जीवन के विभिन्न पहलू; जैसे परिस्थिति का आकलन करने की क्षमता, राजनैतिक सूक्ष्म दृष्टि, राजनीतिज्ञता, अपना सब कुछ समर्पित कर जनसेवा का व्रत, दुष्टों का निर्दलन, दुष्टों के चंगुल से निष्पाप लोगों की मुक्ति और रक्षा, धर्म का अभ्युत्थान, अर्थात् समाज की धारणा से विषमता का निर्मूलन, विभेदों में सामंजस्य, परस्पर विद्वेष का निवारण तथा विपुल विविधता प्रकट होनेवाले जन-जीवन में मौलिक एकता आदि का साक्षात्कार होता है। इन पहलुओं के कारण उस समय की समस्याओं का निवारण हुआ। आज भी हमें वर्तमान समस्याओं का समाधान तथा अपने देश में रामराज्य की पुनर्स्थापना के लिए उनका गहराई से अध्ययन कर, उनसे उचित शिक्षा ग्रहण कर, उन्हें आत्मसात कर आचरण में लाना होगा।

अपेक्षित गुणसंपदा

मानव का नेतृत्व करनेवाले लोगों में, सार रूप में जिन गुणों की आवश्यकता है और रामराज्य की प्रतिष्ठापना की जो पूर्वपीठिका है, वह है पूर्णतया शुद्ध व्यक्तिगत जीवन, समाज के सुखःदुख में समरस होने की क्षमता और परिणामतः स्वयंस्वीकृत आत्मसंयमी जीवन, अजेय सैनिक शौर्य द्वारा भी जनता के इन क्लेशों को उत्पन्न करनेवाली आक्रामक शक्तियों का दमन करने का चातुर्य, सत्य के प्रति प्रेम, वचनपालन का संकल्प और जनहित-सिद्धि हेतु परिपूर्ण आत्मसमर्पण, चाहे उसके लिए फिर कितने ही त्याग की आवश्यकता (उदाहरणार्थ– सीता देवी का त्याग) हो और सबसे महत्त्वपूर्ण बात है समाज के धर्म एवं संस्कृति पर अटल निष्ठा। ये तथा अन्य अनेक गुण जो इस महान जीवन में प्रकट हुए हैं, उन्हें उन सब लोगों को अपने अंदर निर्माण करने की आवश्यकता है, जो हमारे समाज को आज दुःख-दारिद्र्य से समृद्धावस्था की ओर तथा अधःपतन से गौरव की

ओर ले जाने के लिए प्रस्तुत हैं, अन्यथा रामराज्य केवल एक अर्थहीन शब्द के रूप में हमारी जिह्वा पर रह जाएगा और वह कल्पना स्वप्न ही रह जाएगी, साकार नहीं होगी।

पथ प्रदर्शन

श्री रामचंद्र के जीवन के इस दुर्लक्षित पक्ष, जिसमें मानवता की महानता निहित है, पर प्रस्तुत ग्रंथ में प्रकाश डाला गया है। आज जबकि समस्त देश पर नैराश्य एवं क्षोभ की घटाएँ घिरी हुई हैं और जनता अनुभव करती है कि वे सब लोग, जिनके हाथ में नेतृत्व की बागडोर है, वैसे नहीं हैं, जैसा उन्हें होना चाहिए था, लोगों के मन की यह सुप्त अभिलाषा कि उन्हें प्रकाश और योग्य मार्गदर्शन तथा ऐसी प्रेरणा प्राप्त हो, जिससे निराशा के अंधकार में भी प्रकाश दिखाई दे, दिन-प्रतिदिन और अधिक तीव्र होती जा रही है। ऐसी परिस्थिति में श्री रामचंद्र के जीवन की प्रस्तुत व्याख्या हमारे पथ-प्रदर्शन के लिए आशा की किरण है।

३. हमारे राष्ट्रजीवन की परंपरा

(श्री बाबासाहेब आप्टे द्वारा लिखित 'हमारे राष्ट्रजीवन की परंपरा' की दास नवमी शके १६७२, सन् १९५० को लिखी गई प्रस्तावना)

हमारे प्राचीन वाङ्मय में जगस्थितिपालक श्रीपरमेश्वर के जो अनेक अवतार वर्णित हैं, उनमें मत्स्यादि दस अवतारों को ही प्रमुख स्थान दिया गया है। ये दस अवतार, उनके आविर्भाव के समय तत्कालीन जनता की दयनीय अवस्था, उनका जीवनकार्य, उनके श्रेष्ठ पराक्रम, उनके द्वारा किया हुआ दुष्ट-नियमन व साधु-सज्जनों का संरक्षण इत्यादि अनेक बातें, अखिल भारत के आबालवृद्धों की जिह्वा पर हैं। यह बात भी सर्वविदित है कि भारतीय जनता, जिसे आज 'हिंदू' कहते हैं, उक्त दशावतारों में प्रमुख गिने जानेवाले श्रीरामचंद्र एवं श्रीकृष्ण की उपासक है। प्रश्न उठ सकता है कि इन अवतारों के प्रति ही जनता में इतने एकमत से आदर की भावना क्यों है? अखिल विश्व और विशेषकर इस पुण्यपावन भरतभूमि में समय-समय पर ऐसे असंख्य महापुरुषों के उत्पन्न होने पर भी, जिनमें अवतारों के विभूतिमत्व, श्रीमत्त्व एवं उर्जितत्व के लक्षण लागू हो सकते हैं, जनता ने

केवल इन्हीं दस को ही चुनकर अपने हृदयों में क्यों बसाया? इसका व ऐसे अन्य प्रश्नों का उत्तर, अवतार के जीवन के सर्वमान्य उद्देश्य –

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।।

(गीता ४/८)

(साधु पुरुषों का उद्धार करने के लिए, पापकर्म करनेवालों का विनाश करने के लिए और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिए मैं युग-युग में प्रकट होता हूँ) – से प्राप्त हो सकता है।

धर्म की परिभाषा

'धर्म' शब्द का यह प्रमुख अर्थ कि जिसके द्वारा अभ्युदय व निःश्रेयस की प्राप्ति होती है और समाज सुव्यवस्थित, सुखी, एवं एकसूत्र में बँधा रहता है, सबको विदित ही है, अर्थात् ऐहिक जीवन को सुख-साधनों आदि से अत्यंत समृद्ध कर, जिससे व्यक्ति को पशुत्व से मानवत्व की ओर, मानवत्व से दैवी-संपत्तिरूप गुणसमुच्चय प्राप्त कर मोक्ष की ओर बढ़ने की प्रेरणा प्राप्त होती है तथा अनुकूल परिस्थिति का लाभ होता है, वही धर्म है। मानव स्वभावतः ही समाजप्रिय प्राणी है। प्रत्येक भू-भाग में मानव एकाकी न रहते हुए, आपस में मिल-जुल कर रहते हैं, अर्थात् अपना एक समाज बनाकर, उसमें प्रत्येक व्यक्ति को एक-दूसरे पर अवलंबित रहना पड़ता है। उसी प्रकार प्रत्येक को अपना जीवन निर्भयता एवं सुख से व्यतीत कर सकने के लिए इन सभी व्यक्तियों के पारस्परिक संबंधों को मित्रता, सहकार्य तथा आत्मीयता से युक्त रखना आवश्यक होता है। दूसरे शब्दों में, समाज का सुव्यवस्थित होना आवश्यक है, अन्यथा अव्यवस्था निर्माण होकर, व्यक्ति को अपने विकास के निमित्त अपेक्षित शांति का लाभ कभी भी नहीं हो सकेगा। इसके साथ ही ऐहिक जीवन में व्यक्ति के सर्वथा समाजाधीन होने के कारण, जिस प्रमाण में समूचे समाज की उन्नति होगी, उसी प्रमाण में प्रत्येक व्यक्ति का अभ्युदय साध्य हो सकेगा। समाज की उन्नति का अर्थ, उसके कुछ व्यक्तियों का भाग्यपूर्ण जीवन नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति को उसकी शक्ति-बुद्धि के अनुसार जीवन के सुखों की अधिक से अधिक प्राप्ति होना तथा प्रत्येक को अपनी उन्नति हेतु अधिक से अधिक अवसर एवं तदनुरूप सुख की प्राप्ति हो सकती है। सभी व्यक्तियों को इस प्रकार सुख प्राप्त हो सकने की व्यवस्था होने पर ही, समाज

सुव्यवस्थित रह सकता है। अतः यह स्वाभाविक है कि उन्होंने इस सुव्यवस्था का निर्माण और उसकी रक्षा करने में अपनी अलौकिक श्रेष्ठता प्रकट की, उन्हीं की स्मृति समाज के हृदय-पटल पर अमिट अक्षरों में अंकित हुई और आनुवंशिक संस्कार के रूप में समाज उन श्रेष्ठ व्यक्तियों का पुजारी बन बैठा।

दुष्ट आक्रामकों का पराभव

समाज के सुव्यवस्थित सुखी जीवन के मार्ग में दो प्रकार की बाधाएँ उत्पन्न हो जाया करती हैं। जो समाज किसी विशिष्ट भू-भाग में बसा हुआ होता है और सभी व्यक्तियों का योग्य समन्वय कर अपने जीवन को सुख-शांतिपूर्ण बनाने में प्रयत्नशील रहता है, उस समाज पर अन्य भू-भाग के निवासी समाज की ओर से होनेवाला आक्रमण ही पहली और सहज ही ध्यान में आनेवाली बाधा है। ऐसे परचक्र के प्रसंग पर स्वार्थी, साम्राज्यलोलुप तथा दुष्ट प्रवृत्तिवाले आक्रामकों का उन्मूलन कर, यहाँ तक कि आवश्यकता पड़ने पर उनका नाश करते हुए भी रक्षा करना, एक आवश्यक कर्तव्य ही होता है। जो अलौकिक पुरुष, ऐसे आक्रमण के कारण त्रस्त व दीन तथा आक्रामकों के भौतिक सामर्थ्य को देख हतप्रभ व निराश बने हुए समाज में, आशा का नवचैतन्य उत्पन्न करता है, समाज की समस्त शक्तियों का केंद्रीकरण कर अपनी नेतृत्वकुशलता के द्वारा समाज के हाथों दुष्ट आक्रामकों का पराभव कराते हुए समाज के त्राता के रूप में उठ खड़ा होता है, उसने अवतारकार्य का एक महत्वपूर्ण कार्य पूरा किया, ऐसा कहा जा सकता है। दशावतारों में से अधिकांश के जीवन में उत्कटता के साथ व्यक्त हुआ अवतारकार्य का यह भाग, हमें सहज ही दिखाई पड़ता है।

विशिष्ट संस्कारों की शुद्धता व सुरक्षा

परकीय आक्रमणों का सामना करते समय, उस समाज में एक विशेष प्रकार की एकत्व की भावना जड़ पकड़ने लगती है। अन्य समाजों से अपने समाज की भिन्नता का ध्यान होने से, स्वकीय और परकीय की भावना व्यक्त होती है। एक विशिष्ट भू-भाग में तथा समान परिस्थिति में, समाज की सुस्थिति की समान कल्पना अंतःकरण में सँजोकर, एक विशिष्ट जीवनप्रणाली अपनी है, इस बात का अनुभव स्पष्ट होने लगता है, अर्थात् उस भूमि का राष्ट्रीयत्व प्रकट होता है और अन्य लोगों के साथ चलनेवाले संघर्ष में अपने समाज के केवल व्यक्तियों का ही नहीं, अपितु अपने राष्ट्रीय

वैशिष्ट्य का भी संरक्षण करना महत्त्वपूर्ण है, ऐसी कल्पना दृढ़मूल होती जाती है। परकीयों से संपर्क या संघर्ष निर्माण होने पर भी अपने वैशिष्ट्य को अक्षुण्ण बनाए रखने के निमित्त, प्रत्येक व्यक्ति पर दृढ़ संस्कार अंकित किए जाने की सावधानी रखने का प्रयत्न होता है। अतः ऐसे संस्कारों को अंकित करनेवाले तथा उन्हें उज्ज्वल रखनेवाले उपायों को व्यवहृत करने हेतु समाज योजना करता है और उन योजनाओं के द्वारा अपने विशिष्ट संस्कारों को शुद्ध व सुरक्षित बनाए रखने का प्रयत्न करता है।

राष्ट्र जीवन का वैशिष्ट्य

अपने भारतवर्ष में ऐसी योजना से संबंधित विचार, अनेक प्रयोग करने के पश्चात् निश्चित किए गए। सारांश में उनका निष्कर्ष यही रहा है कि प्रत्यक्ष सत्ता व संपत्ति से अलिप्त रहनेवाला, ज्ञानसंपन्न, शीलसंपन्न, तपःपूत, संपूर्ण समाज के उत्कर्ष हेतु जीवन-सर्वस्व न्योछावर करनेवाला और अपने उज्ज्वल चारित्र्य, पावित्र्य व समाजहित चिंतन के द्वारा समाज पर अपना प्रभाव रखनेवाला एक वर्ग होना चाहिए तथा उसे स्व-सत्ता को भी (यदि वह उन्मत्त व दुष्ट हो) समाज कल्याणार्थ दंडित करते हुए उसके स्थान पर सच्ची लोकहितकारी सत्ता प्रस्थापित करनी चाहिए, समाजशिक्षा द्वारा सभी व्यक्तियों में स्वकर्तव्य जागृति करते रहना चाहिए, कहीं पर भी अन्याय, अनाचार, दुःख आदि को उत्पन्न नहीं होने देना चाहिए, यदि उत्पन्न हुए हों तो सर्वत्र नित्य संचार करते रहने के कारण उस ओर यथासमय ध्यान देकर, समाज की बिगड़ी हुई घड़ी को फिर से ठीक बैठा देना चाहिए। ऐसे वर्ग को निर्माण करना और उसका सभी प्रकार से संरक्षण व संवर्धन करना ही अपने भारतीय राष्ट्रजीवन का वैशिष्ट्य है।

समाज के प्रेमादर का केंद्र

किंतु कभी-कभी सत्ता इतनी उन्मत्त हो जाती है कि वह इस वर्ग के अंकुश को भी नहीं मानती। सत्ता के मद से उन्मत्त सत्ताधारी, स्वकीय होकर भी दुष्टता करने लगते हैं। उनके अत्याचारों से, प्रजा त्रस्त व दीन हो जाती है। सत्ताधारियों की हाँ में हाँ मिलानेवाले लोगों की ओर से अनेक अत्याचार होते हैं और समाज की घड़ी बिगड़ने लगती है। सत्तालोलुपता, उपभोगलालसा आदि दुर्गुण उत्पन्न होते हैं और स्वार्थ और फूट की प्रवृत्ति बल पकड़ती है तथा उसके परिणामस्वरूप राष्ट्रजीवन खतरे में पड़ जाता है। समाज पर राष्ट्रजीवन के समुचित संस्कार अंकित कर, उसकी (समाज

की) धारणा करनेवाले वर्ग पर अत्याचार प्रारंभ होते हैं तथा उस वर्ग का ही नाश होने के चिह्न दिखाई देने लगते हैं। उसका नाश, याने राष्ट्र की संस्काररूप निधि का संरक्षण-संवर्धन करनेवालों का, याने पर्याय से राष्ट्रजीवन का ही नाश होने की आशंका दिख पड़ती है। समाज के सुव्यवस्थित सुखी जीवन के मार्ग में रोड़े अटकानेवाली, यह स्थिति दूसरी बाधा है। अपने प्राचीन जीवन में ऐसी बाधा अनेक बार आई, ऐसा दीख पड़ता है। स्वकीय किंतु उन्मत्त व अनाचारी बने हुए और इसीलिए भारत में राष्ट्रीय गुण के रूप में संरक्षित व संवर्धित की गई दैवी संपदा से विमुख होकर आसुरी वृत्ति ग्रहण किए हुए, कभी-कभी स्वसंस्कृति, स्वधर्म एवं स्वसमाज से भ्रष्ट हो तथा परकीय संस्कृति व समाज आदि से तादात्म्य प्राप्त कर और उनका पक्ष लेकर स्वसमाज एवं धर्म पर आघात करने हेतु कटिबद्ध सत्ताधारियों के कारण, मानो अब सर्वनाश ही होगा- ऐसी आशंका निर्माण करनेवाली स्थिति उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार जबकि अधर्म का बोलबाला था, धर्माचरण करनेवाले साधुपुरुषों अर्थात् समाजहितैषी वर्ग पर अत्याचार करते हुए उनको नष्ट करने का प्रयत्न करनेवाले दुष्टजन जब प्रबल हो चुके थे, उस समय उन उन्मत्त सत्ताधारी दुष्टों को दंडित कर समाजहितचिंतक तपस्वीजनों की रक्षा करनेवाले, समाज की घड़ी को पुनरपि ठीक बैठानेवाले, अर्थात् धर्म-संस्थापना करनेवाले, जो असामान्य, अतिमानवी महापुरुष उत्पन्न हुए, पददलित समाज के सुप्त आत्मविश्वास एवं सामर्थ्य को जिन्होंने जागृत किया; असीम कर्तृत्व, परमोच्च चारित्र्य, निरतिशय राष्ट्रप्रेम को जिन्होंने प्रत्यक्ष आचरण में लाकर दिखाया। व्यक्ति चाहे कितना ही महान क्यों न हो, यहाँ तक कि सार्वभौम चक्रवर्ती पद पर ही वह अधिष्ठित क्यों न हो, फिर भी वह राष्ट्र से कदापि महान नहीं हो सकता और इसलिए राष्ट्र एवं समाज का सम्मान करते हुए व्यक्तिगत मतों को उसके अनुरूप ढाल लेना, भावनाओं को वश में रखना, अवसर आने पर प्रजा के सुख तथा मार्गदर्शन के निमित्त अपने स्वयं के सुख को तिलांजलि देना ही व्यक्ति का परम कर्तव्य है, यह सिद्धांत जिन्होंने स्वयं के आचरण से समाज को सिखलाया, हमारे समाज के वही हृदयसम्राट एवं राष्ट्रगुरु मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचंद्र व भगवान श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ अवतारों के रूप में समाज के प्रेमादर का केंद्रस्थान बने।

संस्कृति संरक्षण व संवर्धन

इस प्रकार विचार करने पर हमें यह सिद्धांत जँचने लगता है कि

हमारे दशावतारों की कथा भारतीय राष्ट्रजीवन के क्रमशः विकास का इतिहास है। इसी सिद्धांत को प्रस्तुत ग्रंथकार ने प्रस्थापित एवं विशद करने का प्रयत्न किया है, जिसके द्वारा भारतीय समाज-रचना की जड़ कौन-सी है, उसमें किन गुणों को प्रधानता दी गई है, किन प्रवृत्तियों का त्याग करना सिखलाया है आदि बातें स्पष्ट होती हैं और समाज के राष्ट्रजीवन की आत्मा, अर्थात् उसकी संस्कृति के सरंक्षण संवर्धन का महत्त्व ध्यान में आ जाता है। इन सर्वश्रेष्ठ अवतारों के जीवनचरित्र का अवलोकन कर अंतःकरण में यह बात दृढ़ हो जाती है कि संस्कृति-संरक्षण व संवर्धन का अर्थ प्रतिगामी होना नहीं, वह राष्ट्र को अमर बनाए रखने के निमित्त आचरणीय एवं अनिवार्य कर्तव्य है। विशेषतः आजकल, पुरोगामित्व के आकर्षक किंतु भ्रामक नारे का शिकार बनकर, संस्कृति-संरक्षण के कार्य की उपेक्षा एवं उपहास करने की जो प्रवृत्ति दिखाई देती है, उसे दशावतार कथाओं की ओर देखने की यह दृष्टि दूर कर सकेगी। जीवितावस्था के पश्चात् मृत्यु आती है, इसीलिए कालानुक्रम के आधार पर मृत्यु को निमंत्रित करने की क्रियाओं को पुरोगामी समझना जितना गलत है, उतना ही नहीं प्रत्युत उससे भी अधिक संस्कृति-संरक्षण की उपेक्षा कर, भारत के समाज व राष्ट्रजीवन के रहस्य को जानने का प्रयत्न न करते हुए, उस जीवनप्रवाह से विसंगत व बहुजनविरोधी तथा उस जीवन के लिए घातक प्रवृत्ति एवं प्रणाली का आश्रय लेना गलत है। इस सत्य को, अपने सभी अवतारी पुरुषों की जीवनकथाओं ने अनेक बार सिद्ध किया है। वह सत्य इन दशावतार कथाओं के विवरण में किस प्रकार सिद्ध हुआ है, यह बात प्रस्तुत पुस्तक को अध्ययनपूर्वक तथा पूर्वाग्रहविमुक्त होकर पढ़ने से सहज ही ध्यान में आ जाएगी।

राष्ट्र जीवन का प्रवाह

अपने भारतीय राष्ट्रजीवन के विकास का एवं उसके स्वरूप का दिग्दर्शन अपने प्राचीन वाङ्मय में किया गया है। वेद, इतिहास (अर्थात् रामायण-महाभारत) और पुराणों में कथाओं व रूपकों के रूप में, अशिक्षित आबालवृद्ध सभी को आकर्षक व रोचक प्रतीत होनेवाले स्वरूप में, अपनी संस्कृति, अर्थात् राष्ट्र का इतिहास चित्रित किया गया है। उनमें समाविष्ट चमत्कृतिपूर्ण बातों को किनारे करते हुए, उनमें असंदिग्ध रीति से प्रकट की गई अपनी राष्ट्रभावना को समझ लेना, अपने राष्ट्र के अति प्राचीनकाल से सतत चले आए हुए जीवन का गौरवपूर्ण इतिहास ध्यान में लाना और

सर्वसाधारण जनता को अपने राष्ट्र के अमरत्व की बात समझाते हुए, अर्थात् उस अमरत्व को अपने राष्ट्र ने अनेक बार प्रत्यक्ष प्रलय जैसे भीषण सर्वसंहारक संकट पर भी विजय प्राप्त करते हुए किस प्रकार सिद्ध किया है, इसे सोदाहरण समझाते हुए, जनता में आत्मविश्वास, स्वसामर्थ्य का समुचित अभिमान तथा अपने राष्ट्र के अतुलनीय श्रेष्ठत्व का सुदृढ़ ज्ञान प्रसारित करना परमावश्यक है। हमने आज से पूर्व कभी भी संपूर्ण भारत एक राष्ट्र वाली बात का अनुभव नहीं किया है। राष्ट्र की कल्पना तक हमने पाश्चात्यों से ग्रहण की है और अब हमारा एक नवीन राष्ट्र बन रहा है, ऐसे अनेक भ्रामक तथ्यों का आज सभी ओर बोलबाला दिखाई देता है। इस कथन की पुष्टि में अनेक प्रचलित वाक्यप्रचार व शब्दप्रयोग उद्धृत किए जा सकते हैं, अर्थात् उज्ज्वल भविष्य का निर्माण करने की दृष्टि से आवश्यक प्रेरणा, उत्साह एवं आत्मविश्वास जिसमें से उत्स्फूर्त होता है, भावी राष्ट्रजीवन को परमश्रेष्ठ बनाने के निमित्त शक्ति, गुणसंपदा निर्माण होती है, अपने उसी गौरवपूर्ण इतिहास को, अपने एकरस, एकसूत्र जीवनप्रवाह का साक्षात्कार करते हुए, राष्ट्र को सुसंगठित एवं प्रभावी बनानेवाले स्फूर्तिस्रोत को ही अस्वीकार करने की प्रवृत्ति प्रबल हो जाने से आज हमारे राष्ट्र के सम्मुख ध्येयशून्य, आदर्शहीन और इसीलिए निराशामय जीवन खड़ा दिखाई देता है। राष्ट्र के नाते अति प्राचीनकाल से अपने जीवन से निगड़ित श्रेष्ठ आदर्श के दृष्टिपथ से ओझल हो जाने से, स्वाभाविकतया ही हमारा समाज स्वार्थी भोगलोलुप बन, इन अवगुणों के कारण कलहप्रिय और इसीलिए सामर्थ्यहीन, अप्रतिकारक्षम तथा महान आकांक्षाओं से च्युत होता हुआ दिखाई दे रहा है। ऐसे जीवन-मरण के प्रसंग पर, सभी प्रकार के भ्रामक तथ्यों का निराकरण करने के निमित्त अपने राष्ट्रजीवन के विस्मृत इतिहास का क्रमबद्ध प्रतिपादन करते हुए, इस सत्य का साक्षात्कार समाज के अंतःकरण पर अंकित करा देना नितांत आवश्यक है। अनादिकाल से अपने भारतीय राष्ट्रजीवन का प्रवाह अखंड प्रवाहित है, उसकी गति अप्रतिहत है, वह अमर, विश्वविजयी एवं गौरवपूर्ण है।

भारत जगद्गुरु पद पर अधिष्ठित हो

मेरे विचार में यह ग्रंथ, इसी आवश्यकता की पूर्ति हेतु निर्मित हुआ है। इसमें निहित विचारधारा, मैंने ग्रंथकर्ता के मुँह से सुनी थी। अब अनेक मित्रों के आग्रह पर, उसको उन्होंने यथाशक्ति सांगोपांग विवेचन के प्रयत्न के साथ, पुस्तकरूप में समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया है। हो सकता है कि

इसमें प्रतिपादित कुछ मतों व अनुमानों से किसी का मतभेद हो, किंतु मेरे विचार में ग्रंथ के इस मूलसूत्र से कि दशावतार कथाएँ रूपक रूप में अपने भारतीय राष्ट्रजीवन का विकास दर्शाती हैं और अपना राष्ट्रजीवन अनादिकाल से चला आया हुआ स्वयंस्फूर्त है (परानुकरण से निर्मित नकली नहीं), इस संबंध में किसी का भी मतभेद नही हो सकेगा। जैसा कि अपने निवेदन में लेखक महोदय ने स्वयं ही बताया है, इस ग्रंथ से अनेक जिज्ञासु अभ्यासकों का ध्यान अपने चिरंजीव प्राचीन वाङ्मय की ओर आकृष्ट हो और परिणामस्वरूप उसमें निहित अमृत का आकंठ पान करने की सुवर्ण संधि हम पाठकों को प्राप्त हो तथा समाज में आत्मसाक्षात्कार के द्वारा स्वाभिमानी, सामर्थ्यसंपन्न, तेजस्वी तथा यशस्वी जीवनयापन करने का दुर्दम्य उत्साह निर्माण होकर दिन-प्रतिदिन वृद्धिंगत होता रहे, यही उन सच्चिदानंदघन, धर्मसंस्थापक, साधुसज्जनरक्षक, दुष्टविध्वंसक, दयाघन श्रीप्रभु के चरणों में प्रार्थना है, जिन्होंने मत्स्यादि अवतार धारण कर, इस भरतभूमि को परमपवित्र एवं देवदुर्लभ श्रेष्ठता प्राप्त कराते हुए भारत को जगद्गुरु पद पर अधिष्ठित कर, अखिल मानव-समाज को अभ्युदय-निःश्रेयस हेतु धर्म का पाठ पढ़ाकर, सर्वत्र चिरंतन सुख एवं शांतिमय जीवन प्रस्थापित करने के स्वयं के कार्य पर उसे नियुक्त किया। अस्तु, इन्हीं शब्दों के साथ कुछ बढ़ी हुई सी यह प्रस्तावना समाप्त करता हूँ।

४. गीतामृत

(पूज्यपाद सत्यानंद स्वामी द्वारा संग्रहीत तथा आकाशवाणी प्रकाशन जालंधर द्वारा प्रकाशित श्रीमद्भगवद्गीता के श्लोकों की पुस्तिका 'गीतामृत' की प्रस्तावना, जो विक्रमी संवत् २००७, सन् १९५० की श्रीकृष्ण जन्माष्टमी को लिखी गई थी)

जगद्गुरु भगवान श्रीकृष्ण जी का अमर उपदेश श्रीमद्भगवद्गीता संसार के सब श्रेणियों के मानवों का समाधान कर उन्हें जीवन साफल्य का मार्ग बता रहा है। बदलते काल में दिन-प्रतिदिन उसकी पूर्णता अधिकाधिक प्रतीत हो रही है। उसके सिद्धांतों को आत्मसात् कर जीवन रचकर प्रत्येक व्यक्ति सुख प्राप्त कर सकता है। अपने राष्ट्र की आज की चारित्र्यहीन, स्वार्थ-लोलुप, अकर्मण्य अवस्था में उस सर्वश्रेष्ठ उपदेश का अध्ययन,

मनन एवं तदनुसार जीवन-निर्माण अतीव आवश्यक है, अन्यथा राष्ट्र का भवितव्य अंधकारमय ही होने की आशंका है। इस महान उपदेश का सांगोपांग अध्ययन करना आवश्यक है। परंतु सर्वसाधारण मानव को स्वकर्तव्य पालन कर अपनी तथा अपने राष्ट्र की उन्नति करने के लिए प्रेरणा दे, ऐसे कुछ महत्त्वपूर्ण श्लोक चुनकर उस थोड़े में ही सर्वउपदेश का निचोड़ प्राप्त हो इस दृष्टि को लेकर पूज्यपाद श्री स्वामी सत्यानंद जी महाराज ने यह अल्प-सा प्रबंध रचा है। अपने राष्ट्र में साधारण मनुष्य श्रद्धापूर्ण आस्तिक भावना का होने के कारण अखंड मंडलाकार विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, लय का कारण ईश्वर को मानता है। अतः सर्वप्रथम उसका आवाहन किया गया है। अपनी माया-शक्ति से जगन्नियंत्रण करता हुआ वही सब भूतों के हृदय में विराजमान है। उसी की शरण लेना परमशांति एवम् सिद्धि प्राप्त करने का एकमात्र मार्ग है। उसकी शरण लेकर उसकी पूजा करने से यह सिद्धि मिल सकती है। इस पूजा का यथार्थ स्वरूप अपने कर्म को करना ही है। अपने नियत कर्म सुचारु रूप से कर उन्हें ईश्वर को समर्पित करना ही उसकी वास्तविक अर्चना है। इस अर्चना से ही ईश्वर साक्षात्काररूप सिद्धि प्राप्त हो सकती है। अपने हृदय में ही जगन्नियन्ता ईश्वर का निवास है और वह अपने सब कर्मों का साक्षी एवं प्रेरक है – यह ज्ञान मनुष्य की ईश्वरीय प्रेरणा को शोभा दे, ऐसे शुभकर्म करने को प्रवृत्त कर तद्विपरीत कर्मों से सर्वथा दूर रहने की दृढ़ इच्छा उत्पन्न करता है और अपने नियत कर्म सद्भाव से कर उसके द्वारा ईश्वर की वास्तविक उपासना करने के लिए प्रोत्साहित करता है।

हृदय में विराजमान ईश्वर अपनी आत्मा ही है। उसका यथार्थ ज्ञान होने से मृत्यु केवल शरीर का धर्म है, अपने वास्तविक स्वरूप – आत्मा का नहीं, यह समझकर मनुष्य 'अकुतोभय' होता हुआ अपने कर्तव्य को पूर्ण करने के लिए निश्चयपूर्वक आगे बढ़ता है।

कर्म करना मनुष्यमात्र के लिए स्वभावसिद्ध है। ईश्वरानुभव प्राप्त करना ही सिद्धि है– ऐसा कहकर यदि कोई कहे कि मैं कर्म नहीं करूँगा तो उसका यह कहना व्यर्थ है। शरीर, मन, बुद्धि – सभी कोई न कोई व्यापार करते ही रहते हैं। केवल कर्म न करने से तथा प्रारब्ध-कर्म छोड़ने से सिद्धि मिलना तो दूर रहा, किंतु बाह्य व्यापार छोड़ कर मन में उनका चिंतन करना अत्यंत अनुचित, ढोंगमात्र है। उससे हानि ही होती है। अतः मन को शांत, अक्षुब्ध रखकर उसको सब

लाभालाभ, जयाजयों में निश्चल एवं सम रखकर ईश्वरापर्ण बुद्धि से स्वकर्म करते रहना ही उचित मार्ग है।

निःस्वार्थ भाव से लोकसंग्रहार्थ समाज सेवा की दृष्टि से अपने राष्ट्र की सुव्यवस्था और सुसंगठित सुखपूर्ण जीवन के निर्माण हेतु किया हुआ कर्म ही अपना नियत स्वकर्म है। उसे करते हुए अपने स्वार्थ को राष्ट्रहितार्थ होम करना ही यज्ञ है। संपूर्ण विश्व यज्ञ के आधार पर ही चलता है। इस ब्रह्मचक्र के अधिष्ठान यज्ञ में स्वार्थ का हवन न करते हुए जो केवल स्वार्थसिद्धि में ही लगे रहते हैं, वे सब पापी, पापभुक् हैं, ईश्वर के अपराधी हैं।

अतः स्वार्थ हवनस्वरूप यज्ञ का पालन करना, अर्थात् समाज हितार्थ अपना शक्ति-सर्वस्व लगाकर अनासक्त बुद्धि से कर्म करते हुए जीवन यापन करना, यही सर्वश्रेष्ठ कर्तव्य है। प्रत्यक्ष भगवान श्रीकृष्ण जैसे आप्तकाम जगद्गुरु भी कर्म करके लोकसंग्रह का श्रेष्ठतम आदर्श सामान्य मानव के अनुकरण के लिए उपस्थित करते हैं। उनके पदचिह्नों पर चलकर स्वकर्म करते हुए, स्वकर्तव्य-पालन में कितनी ही बाधाएँ, कितने ही संकट क्यों न आएँ, उनसे अविचलित रहकर, निःस्वार्थ होकर, अपना प्रत्येक व्यापार जगदाधार यज्ञ का रूप ही है – इस ज्ञान से चलते हुए, राष्ट्र की समुन्नति हेतु जीवन की आहुति समर्पित करना मनुष्य के लिए सिद्धि प्राप्त करने का तथा ईश्वर का साक्षात्कार करने का सर्वसुलभ, सर्वश्रेष्ठ मार्ग है।

ऐसे निःस्वार्थ, अनासक्त, सात्त्विक त्यागभाव से भरे राष्ट्रभक्त कर्मयोगियों की आज नितांत आवश्यकता है। यही राष्ट्र की माँग है। हम सब राष्ट्र-संतान श्रीमद्भवद्गीता के उपदेशक भगवान श्रीकृष्ण के निर्दिष्ट मार्ग से चलकर इस माँग को पूरा करें।

पूज्यपाद श्री स्वामी सत्यानंद जी महाराज ने यह प्रबंध रचकर राष्ट्र को कर्मयोग का मार्ग सुलभता से समझाने का प्रयास किया है, जिसके लिए हम सब उनके अत्यंत ऋणी हैं। उस ऋण को चुकाने का एक ही मार्ग है, इस प्रबंध में स्पष्ट किए कर्मयोग को अपनाकर हम राष्ट्र की सेवा में तन-मन-धनपूर्वक जुट जाएँ। हम सबका हृदयस्थ परमात्मा हमें यही सत्प्रेरणा दे। इति।।

५. भारतीय समाज शास्त्र

(सातारा, महाराष्ट्र के चिंतक एवं लेखक श्री गो. रा.राजोपाध्ये के ग्रंथ 'भारतीय समाज शास्त्र' की १६ जुलाई १९५४ को लिखी गई प्रस्तावना)

पुस्तक पर अभिप्राय देने की प्रथा है, इसलिए नहीं, किंतु उस संबंध में स्वयं का अभिमत लिखना, इसमें कुछ भी अस्वाभाविक नहीं है। साधारणतः पढ़ने मात्र से ऐसा लगा कि इस तरह के शास्त्रीय विषय पर अपना मत रखने की मेरी पात्रता नहीं है।

यह विषय एक विशिष्ट पद्धति से प्रस्तुत करने का अवसर आने से, गत दो वर्षों के अपने भारत-भ्रमण में वर्तमान में चल रहे व्यक्ति स्वातंत्र्यवाद, प्रजातंत्रवाद व समाजवाद उसके सभी उपभेदोंसहित साम्यवाद तक, ये दोनों कैसे तर्कहीन, शास्त्रहीन व मानव-समाज को अंततोगत्वा सच्चा सुख व उन्नति प्रदान कर सकने में अपात्र हैं व अपने शास्त्र यद्यपि आज उपेक्षित हैं, उपहास का विषय बने हुए हैं; तथापि वर्णव्यवस्थात्मक समाज-धारणा ही कैसे अनिवार्य है व उसके द्वारा व्यक्ति व समाज के उत्कृष्ट संबंध प्रस्थापित कर मानव का ईश्वर तक उत्कर्ष कर, संघर्षविहीन, सहकार्यात्मक स्वभाव रचने हेतु वही कैसे योग्य, तर्कसंगत व श्रेष्ठ है, यह विषय प्रस्तुत करने का मैं अपने अल्पज्ञान द्वारा यथासंभव प्रयत्न कर रहा हूँ। आज के पाश्चात्य अंधानुकरण के समय में इन विचारों को समर्थन मिलना दुष्कर होने पर भी, योग्य रीति से सतत प्रयत्न करते रहने पर कालांतर में अपने इस प्राचीन राष्ट्र की अस्मिता जागृत हो, योग्य समाज-धारणा को अनुकूल समय प्राप्त होगा, इसमें कोई शंका नहीं। परंतु उसके लिए आज के वातावरण का विचार कर, वर्तमान समाजधुरीय पंडितों की मनःस्थिति का ध्यान करते हुए, पाश्चात्य विचारों को उन्हीं की परिभाषा से खंडित करते हुए व प्रारंभ में उसी परिभाषा में अपना मत रखते हुए, साथ में क्रमशः अपना प्रस्तुतीकरण कर अपनी शास्त्रीय परिभाषा तक पहुँचना आवश्यक है। हमने ऐसा प्रयत्न किया है। ईश्वरीय कृपा से चारों ओर से ऐसे प्रयत्न हुए तो शीघ्र ही भारतीय राष्ट्रजीवन सही अर्थों में भारतीय होगा, इसमें कोई शंका नहीं है।

कल प्रातः प्रवास हेतु जाने के कारण यह जल्दबाजी में लिखा है। मुख्य उद्देश्य– मुझे पुस्तक प्राप्त हुई है व पुस्तक मैंने पढ़ी है तथा

अंतर्भूतविषय मुझे रुचिकर है, यह बतलाने की मन की अभिलाषा से यह पत्र आपको लिख रहा हूँ। कुछ विवादास्पद मुद्दे होंगे तो सूक्ष्म अध्ययनोपरांत ही दिखलाई देंगे। अतः अभी इस बारे में कुछ नहीं लिखता।

६. श्री रामकृष्ण परमहंसीयम्

(नागपुर, मकरसंक्रांति शके १८७८, १४ जनवरी १९५७)

प्रस्तुत काव्य भगवान श्री रामकृष्ण परमहंस देव के शतश्लोकात्मक स्तुति के रूप में मेरे चिरपरिचित निकटवर्ती मित्र प्रा.श्रीधरराव वर्णेकर द्वारा रचा गया है। उन्हीं के मुख से मैंने यह स्तोत्र सविवरण सुना है। सुनते समय अंतःकरण में सद्भक्ति का उद्बोधन करनेवाला प्रसाद उन श्लोकों में होने का अनुभव पाकर, इस सत्काव्य के संबंध में मेरे हृदय में बहुत आदर का भाव स्थिर हुआ है।

गीवार्ण वाणी संस्कृत को पुरातन और अब प्रचलन के अयोग्य मानने की अनिष्ट प्रवृत्ति आजकल सर्वत्र दिखाई देती है। उस पवित्र भाषा में सरलता से बोला जा सकता है। आधुनिक जीवन के सब विचार, भाव तथा उससे संबंधित सभी विषयों को सुस्पष्ट व्यक्त करना सुगम है, इसका प्रमाण इस काव्य से सबको प्राप्त होगा। प्रचलित प्राकृत बोलियों में जितनी सहजता से संभाषण, लेखन तथा काव्यनिर्मिति आजकल के वक्ता, लेखक, कवि कर सकते हैं, उतनी ही या अधिक सहजता से अंतःकरण की भावोत्कट स्फूर्ति संस्कृत भाषा का बाना परिधानकर व्यक्त होने में कुछ भी कठिनाई नहीं है। यह सत्य इस भक्तिरस परिप्लुत स्तोत्र-काव्य से प्रमाणित हो रहा है। किसी भी भारतीय प्राकृत भाषा का सामान्य ज्ञान जिसे है, उसे यह स्तोत्र पढ़ते-पढ़ते ही समझ में आ सकता है। उसके प्रसाद गुण से अत्यंत सुख प्राप्त हो सकता है। तो भी अधिक सुगमता से उसका अर्थबोध होकर उसके माधुर्य का आस्वाद आबालवृद्ध सब कर सकें, इस हेतु प्रत्येक श्लोक का शब्दार्थ एवम् भावार्थ प्रचलित हिंदी भाषा में देकर ग्रंथकर्ता ने हम स्थूल बुद्धि के लोगों पर बहुत बड़ा उपकार किया है।

युगावतार भगवान रामकृष्ण की भक्ति, उनके आदेशों को गंभीर स्वर से सर्व जगतीतल को सुनानेवाले श्रीमत् स्वामी विवेकानंद ने प्रदर्शित प्रखर कर्ममार्ग, मनोनिरोधरूप योगमार्ग, भक्तिज्ञान की उपासना का मार्ग,

इहलोक में मातृभूमि के प्रति उत्कट भाव, स्वराष्ट्र सेवार्थ निःस्वार्थ अविरत उद्योग, शिवज्ञान से जीवमात्र की सेवा आदि आज के युग के मानवों के लिए परमकल्याणकारी है। विशेषतः हम सब भारतीय इन मार्गों को अपनाकर भगवान श्री रामकृष्ण की सद्भक्ति से संपूर्ण वायुमंडल भर दें, यह अपना कर्तव्य है। उस कर्तव्य का स्मरण प्रत्येक व्यक्ति के हृदय में कराकर उसे अपना जीवन पवित्र कर भगवान 'श्रीरामकृष्णपरमहंसीयम्' अर्थात् 'युगदेवताशतकम्' स्तोत्र सबको देने में समर्थ तथा सफल हो, यही श्रीभगवान श्री रामकृष्णदेव के पास प्रार्थना करता हूँ।

७. सुलभ सांघिक आसने (भाग-२)

(२१ सितंबर १९५७ को लिखी गई प्रस्तावना)

श्रीमान् जनार्दन स्वामी का नाम अपने प्रांत में सर्वश्रुत है। योगासनों का प्रचार कर जनसाधारण के मन में उनकी रुचि उत्पन्न करना तथा उनके संबंध में जो भ्रम है कि योगासन बहुत कठिन हैं, सर्वसाधारण के लिए नहीं, अपितु केवल अध्यात्म-मार्ग पर चलनेवाले तपस्वियों के लिए ही हैं, इत्यादि धारणाओं को दूर करना तथा योगासनों के प्रयोग से अनेक रोगों का प्रतिबंध तथा निवारण होकर शरीर स्वस्थ, हृष्टपुष्ट, सबल बनकर स्वास्थ्य, मन तथा बुद्धि की अभिवृद्धि का योग्य अधिष्ठान बनता है एवं जीवन के सब ऐहिक कर्तव्यों को सुचारु रूप से पूर्ण करने की क्षमता उसमें आकर जीवन, उत्साह तथा आनंद से परिपूर्ण होता है, इन तथ्यों को जन-मन में दृढ़ करना– इस महत्वपूर्ण राष्ट्रीय पुनर्निर्माण के कार्य में स्वामी जी संलग्न है।

आसनों का प्रात्यक्षिक दिखाकर सर्व दूर प्रचार करना अकेले के लिए कठिन है। इस हेतु सचित्र आसनों की पुस्तक छपवाकर उसे अल्प मूल्य से वितरित करना आवश्यक है। यह सोचकर स्वामी जी ने मराठी में 'सुलभ सांघिक आसने' छपवाया। उसके दो भाग प्रसिद्ध हो चुके हैं। हिंदी का प्रथम भाग पहले तैयार हुआ है। अब द्वितीय भाग भी प्रकाशित हो रहा है। इन पुस्तकों की उपयुक्तता मराठी भाषी पाठकों में सिद्ध हो चुकी है। किंतु अपने देश में बहुतांश जनता मराठीभाषी नहीं हैं। अतः अपने देश में निश्चित की गई संघराज्य भाषा हिंदी में यह अति उपयुक्त पुस्तक प्रसिद्ध होना नितांत आवश्यक देखकर, श्रीमान् स्वामी जी ने यह द्वितीय भाग

छपवाने का उपक्रम आरंभ किया है। इससे संपूर्ण देश के बंधुओं को मार्गदर्शन मिलेगा।

योगासनों पर अनेक ग्रंथ तैयार हो चुके हैं। अनेक भाषाओं में वे छप चुके हैं। विद्वानों ने स्वानुभव तथा आधुनिक शास्त्रों के आधार पर उनका स्पष्टीकरण भी किया है, किंतु वे सब वैयक्तिक रीति से आसनों का व्यायाम करने में उपयुक्त हैं। वैयक्तिक जीवन में सुधार व्यक्तिगत रूप से व्यायाम कर बहुत लोग कर सकेंगे, परंतु आज के समय की माँग सामूहिक व्यायाम के द्वारा सूत्रबद्ध अनुशासनपूर्ण समाज जीवन की दिशा से वैयक्तिक स्वास्थ्योन्नति के साथ ही सामाजिक संगठन के बल का निर्माण करने की है।

श्रीमान् जनार्दन स्वामी जी ने आसनों को क्रमबद्ध कर संख्याक्रम के अनुसार एक साथ अनेक लोग पूर्ण अनुशासन से कर सकें और फलस्वरूप संगठित समाज का अनुभव तथा निर्माण कर सकें, ऐसी सबके लिए अनुकूल व्यवस्था कर समाज पर अनंत उपकार किए हैं। इन छोटी परंतु बहुगुणी पुस्तकों का समुचित लाभ उठाकर व्यक्तिशः स्वस्थ व सबल शरीर एवं सुदृढ़ मन तथा सूत्रबद्ध समर्थ समाज प्रस्थापित करने का प्रयत्न सब देशवासी बंधु करें, यही इच्छा है।

८. भारतीय स्वतंत्रता का सशस्त्र संघर्ष १८५७ से नेताजी सुभाषचंद्र बोस तक

(साहित्याचार्य श्री बाळशास्त्री हरदास की मराठी पुस्तक का अनुवाद श्री शि.शं.आप्टे द्वारा अंग्रेजी में किया गया था। उसकी रक्षाबंधन शके १८७६ को लिखी गई प्रस्तावना)

पथ-प्रदर्शक मालिका

प्रस्तुत कृति श्री बाळशास्त्री हरदास द्वारा लिखित मराठी पुस्तक '१८५७ से सुभाष तक' का अंग्रेजी अनुवाद है। श्री बाळशास्त्री एक विख्यात विद्वान हैं, प्रभावी वक्ता हैं, जिन्होंने अपनी राष्ट्रीयता के विशिष्ट संदर्भ में रामायण, महाभारत और वेदों पर दिए गए मौलिक व्याख्यानों के

आधार पर पूरे देश में असंख्य श्रोताओं को मंत्रमुग्ध किया है। उन्होंने सन् १८५७ की क्रांति से लेकर नेताजी सुभाषचद्र बोस द्वारा किए गए महान प्रयास के निकटतम काल तक स्वातंत्र्य के सशस्त्र-संघर्ष के इतिहास का विशेष अध्ययन किया है। इस अध्ययन से उन्होंने यह पुस्तक प्रस्तुत की है, जिसके फलस्वरूप ऐसी महान आत्माएँ, जिन्होंने क्रांति के विकट पथ का अनुसरण करते हुए स्वेच्छा से, प्रसन्नतापूर्वक मातृभूमि की स्वतंत्रता और वैभव हेतु अपना जीवन सर्वस्व न्योछावर किया, उनके महत् प्रयत्न, बलिदान, शौर्य प्रदर्शन तथा जीवन में प्रकटित असंख्य देशभक्तियुक्त कृत्यों को प्रकाशमान किया है। इस संघर्ष गाथा ने, राष्ट्रसेवा-मार्ग का अनुसरण करनेवाली आगामी पीढ़ियों के लिए असंख्य प्रतिभाशाली देशभक्तों की एक पथप्रदर्शक मालिका प्रस्तुत की है।

सशस्त्र संघर्ष का दुर्लक्षित इतिहास

दुर्भाग्यवश अंग्रेजी शासन के समय वास्तविक इतिहास का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो गया है। उस समय इन वीरों के पराक्रम का स्मरण करना भी देशद्रोह माना जाता था। वीर सावरकर के '१८५७ का भारतीय स्वतंत्रता-संघर्ष का इतिहास' नामक ग्रंथ का क्या बना, सभी को ज्ञात है और अब पुनः अपने लोगों के हाथ में सत्ता आने पर इन स्वातंत्र्य वीरों के नाम और कृत्यों की इस तरह से आलोचना की जाती है, मानो वे विस्मरणीय व घृणास्पद अपराधी थे। अपना देश, जन, राष्ट्र, राष्ट्रीय धरोहर, इनसे बढ़कर अपने दल, कार्यक्रम, विश्वास या व्यवसाय को प्रेम करनेवाले लोग जब सत्ता में आते हैं, तब वे प्रायः ऐसा ही अन्याय करते हैं। परिणामस्वरूप अपनी स्वतंत्रता हेतु किए गए सशस्त्र संघर्ष को प्रकाश में लाने का कोई गंभीर प्रयास नहीं हुआ।

त्रुटि के प्रायश्चित का प्रयास

निस्संदेह हमें स्वतंत्रता जैसा जो कुछ भी प्राप्त हुआ है, वह उदारमतवादी लोगों की तुलनात्मक सौम्य गतिविधियों से लेकर हिंसक क्रांतिकारी आंदोलन के भयंकर आविष्कार का संयुक्त परिणाम है। क्रांतिकारियों का यह प्रयास कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। यहाँ से गए हुए विदेशी राज्यकर्ताओं के कथन को ही यदि विश्वसनीय माना जाए कि 'आजाद हिंद फौज' के सेनापति नेताजी सुभाषचंद्र बोस के आक्रमण के कारण रक्षा-दलों के सब विभागों में विद्रोह पैदा हुआ तथा विदेशियों की प्रभुसत्ता धूल में मिल गई,

तो इस पार्श्वभूमि में हमारे नेताओं और विद्वानों द्वारा की गई गौरवमयी स्वातंत्र्य-संग्राम की उपेक्षा एक अक्षम्य पाप है। यह पुस्तक उस त्रुटि के प्रायश्चित का एक महत्त्वपूर्ण प्रयास है तथा इसके माध्यम से संपूर्ण देश में ६० वर्षों के दीर्घकाल तक हुए अलग-अलग दिखनेवाले, परंतु परस्पर जुड़े हुए स्वतंत्रता के प्रयास यहाँ के वासियों के सामने आएँगे।

कष्टसाध्य प्रयत्न

मूल पुस्तक मराठी में है, जिससे सीमित देशवासियों को ही उसका लाभ मिल सकता है। अतः कुछ महानुभावों के अंग्रेजी भाषांतरण के सुझाव पर हमारे मित्र श्री शिवशंकर आप्टे के अध्यवसाय के फलस्वरूप यह कृति प्रस्तुत हो रही है। अनुवाद सदैव एक कठिन कार्य होता है। विचारों में प्रकट हुई मूल भावनाओं की उत्तमोत्तम प्रकटीकरण की अपेक्षा करना उचित नहीं है, तथापि इस अनूदित अभिव्यक्ति में सभी भावनाएँ व विचार सुंदर पठनीय रूप में उपलब्ध हैं। आंग्ल भाषा के ज्ञाता हमारे बंधु उपस्थित कठिनाई को समझ सकेंगे। बाळशास्त्री जी की शब्द-संपदा अत्यंत समृद्ध तथा श्रेष्ठ स्तर युक्त है, जिसका यथार्थ अनुवाद करना कठिन है। जो लोग इस पुस्तक को पढ़ेंगे, श्री आप्टे के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करेंगे, जिन्होंने अपने इतिहास के इस तेजस्वी कालखंड को, आंग्ल भाषा में अनूदित करने के कष्टसाध्य कार्य को पूर्ण किया है।

समाजवाद व साम्यवाद के चंगुल में फँसना

पूर्वजों द्वारा संपन्न कृत्यों को अंधविश्वास और सम्मान से स्वीकार करने को इतिहास का अध्ययन नहीं कहा जा सकता। अपितु उन्होंने जो अच्छा किया, जो असफलताएँ मिलीं, नीतियाँ और व्यवहार के ठीक और गलत दोनों पक्ष, गुणावगुणों का अवलोकन, सर्वोत्कृष्ट से प्रेरणा व मार्गदर्शन, कमियों से उचित पाठ सीखना, उन सभी बातों को छोड़ना, जिनके कारण असफलता एवं निराशा मिली तथा तुलनात्मक कम गलतियाँ करते हुए प्रगति के पथ पर अग्रसर होना, आदि सभी बातें इसी (इतिहास) के अध्ययन के अंतर्गत आती हैं। हमारी श्रद्धा और सम्मान की पात्र, महान कार्यपूर्ति की प्रेरणा व उत्साहप्रदाता, आत्मसमर्पण का उदाहरण प्रस्तुत करनेवाली, कुलीनता, कार्यनिष्ठा, ज्वलंत देशभक्ति की चेतना निर्माण करनेवाली असंख्य घटनाएँ हमारे इस इतिहास में हैं। भूतकाल के उदाहरणों के इन सभी गुणों को हमें आत्मसात करना है, परंतु उसमें हमें

अनुशासन, संयम, समन्वय व राष्ट्रजीवन के यथार्थ आकलन तथा इस प्रकार पराजयोपरांत नवजीवन के प्रति वास्तविक समर्पण का अभाव दिखाई पड़ता है, जिसके कारण छल, मतभिन्नता एवं विश्वासघात के अनेक उदाहरण सामने आए, परिणामस्वरूप क्रांतिकारी संगठनों के सभी प्रयत्नों को विफल करते हुए, उन्हें हतोत्साहित तथा निराश कर दिया। राष्ट्रजीवन के यथार्थ आकलन का अभाव तथा विफलताओं से आई निराशा के परिणामस्वरूप, हमारे अनेकों विख्यात क्रांतिकारी रूस की सफल क्रांति की ओर आकर्षित हुए, ऐसा आसानी से कहा जा सकता है। इससे वे बाह्य राष्ट्रनिष्ठा एवं विश्वासयुक्त आतंकवादी के नाते रूपांतरित हुए। ऐसा आज भी चल रहा है। वस्तुतः हमारे पुरातन, अमर राष्ट्रीय जीवन एवं उसकी धरोहर की जीवमान अनुभूति की कमी तथा जीवन के सभी अंगों के लोगों में व्याप्त निराशा के कारण विविध प्रकार के समाजवाद विशेषतः रूसी समाजवाद की ओर आकर्षण, आज भी बढ़ रहा है। जब अंग्रेज यहाँ के शासक थे, तब वर्तमान नेता उनके चले जाने व स्वतंत्रता-प्राप्ति के पश्चात् का लोक-लुभावन चित्र प्रस्तुत करते थे। परंतु अब अंग्रेजों के यहाँ से जाने के दस वर्ष बाद भी, यहाँ ऐसा हतभाग्य भाव तथा घोर निराशा है कि अनेकों बंधु देशबाह्य, अवैज्ञानिक, प्रतिगामी, प्रतिक्रियावादी, तथाकथित समाजवाद, साम्यवाद एवं तत्सम मतों के चंगुल में फँस रहे हैं।

प्राचीन व अर्वाचीन काल का बोध

इस महान संघर्ष का गहन अध्ययन करने के बाद, दिन-ब-दिन बिगड़नेवाले आधुनिक प्रवाह का विचार करने पर अपना यह कर्तव्य बन जाता है कि भूतकाल में की गई गलतियों को सुधारें तथा सशक्त, सजीव और प्रभावी राष्ट्रभावना का पुनर्जागरण करें (यदि इतिहास व उत्तम राष्ट्रवाद के विज्ञान पर अपना विश्वास है, तो इसे 'हिंदू राष्ट्रभावना' भी कह सकते हैं)। यह हिंदू-राष्ट्र है, इसी दृढ़ विश्वास के आधार पर देश और लोगों के प्रति पूर्णतया समर्पित होकर, राष्ट्रजीवन का सर्वांगीण विकास तथा ऐसे सबल चरित्र का निर्माण करना होगा, जहाँ राष्ट्रजीवन को दूषित करनेवाले विश्वासघात को कोई स्थान न हो। हिमाचल से कन्याकुमारी तक तथा पश्चिम से पूर्व सागर तक सभी लोगों को एक सूत्र में पिरोना होगा। इसलिए सभी संकुचित मतभेदों को भुलाकर विच्छिन्न समाज को सजीव, सशक्त राष्ट्रीय स्वरूप प्रदान करने हेतु एक शक्तिशाली, सुअनुशासित,

समन्वित संगठन की निर्मिति करनी होगी। यह हमारे प्राचीन और अर्वाचीन काल का बोध है। यह पुस्तक यदि इस पाठ को हमें सिखाकर सही मार्ग पर चलने की प्रेरणा देती है, तो लेखक व अनुवादक, दोनों का परिश्रम पूर्णतया सार्थक माना जाएगा।

अतः हम उस सर्वशक्तिसंपन्न माँ के चरणों में प्रार्थना करें, जिसने इस राष्ट्र को सदैव सुज्ञान एवं सत्कर्म हेतु अपनी गोद में लिया है। हमारा कर्तव्य है कि हम अपने को उसकी संतान कहलाने योग्य सिद्ध करें तथा इस पृथ्वी पर धर्म की सत्ता स्थापित करने और शांति व समृद्धि लाने के अपने जीवनोद्देश्य को पूर्ण करने में सफल हों।

९. डा. हेडगेवार चरित्र

(श्रीमच्छकराचांर्य जयंती वैशाख शुक्ल ५, शके १८८२, सन् १९६० को श्री नारायण हरि पालकर द्वारा लिखित ग्रंथ की प्रस्तावना)

परमपूजनीय डा. हेडगेवार जी का कुछ विस्तार के साथ लिखा हुआ जीवन-चरित्र प्रकाशित हो रहा है। उनकी मृत्यु के कुछ दिनों के अंदर ही पाठकों के सम्मुख उनके जीवन की झाँकी देनेवाला चरित्र प्रस्तुत किया गया था। प.पू. डाक्टर जी के जीवन और विचार की कुछ जानकारी हो सके, इसी उद्देश्य से उसकी रचना हुई थी। कुछ प्रमाण में यह उद्देश्य पूरा भी हो रहा था, किंतु डाक्टर जी को जाननेवाले तथा उनके प्रति श्रद्धा रखनेवाले जो अनेक बंधु देशभर में फैले हैं, उनका समाधान उस छोटे से स्फुट ग्रंथ से होना संभव नहीं था। अतः अनेक लोगों की यह आग्रहपूर्वक माँग थी कि एक विस्तृत जीवनचरित्र प्रकाशित किया जाए। यह पुस्तक उनके आग्रह का ही परिणाम है।

इस पुस्तक के लेखक श्री नाना पालकर बचपन से राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के निष्ठावान स्वयंसेवक हैं। उनके मन में परमपूजनीय डाक्टर जी के प्रति अत्यंत श्रद्धा एवं आदर का भाव है। लेखनकला में भी वे पटु हैं। यह कष्टसाध्य कार्य उनको सौंपा गया तो भली-भाँति पूर्ण हो सकेगा, इसी विश्वास से उनके ऊपर यह भार डाला गया। जिन-जिन व्यक्तियों अथवा कार्यों के साथ परमपूजनीय डाक्टर जी के संबंधों का उन्हें

पता चल सका, उन सभी स्थानों पर जाकर तथा उन व्यक्तियों से एवं उन कार्यों के संबंध में जितनी जानकारी संभव थी, सब इकट्ठा कर तथा उसे तरतीब से लगाकर अत्यंत परिश्रम के साथ उन्होंने इस ग्रंथ की रचना की है।

कठिनाइयाँ

ग्रंथ-निर्माण में आई कठिनाइयों का उल्लेख करने का विशेष कारण नहीं है। फिर भी कुछ प्रमुख बातों का उल्लेख कर देना असंगत नहीं होगा। सबसे प्रमुख बाधा थी चरित्रनायक की प्रसिद्धिपराङ्मुखता। अतः स्वतः उनके द्वारा उनके जीवन के संबंध में सहज ही किसी बात का पता नहीं चलता था। इस गुण के कारण समाचार-पत्रों में उनके संबंध में बहुत-थोड़ा उल्लेख होता था। उन्होंने अपने पास भी लगभग कुछ भी लिखकर नहीं रखा। स्वीकृत कार्य में ही जीवनपर्यंत तल्लीन होने के कारण तथा कार्य में ही अपना संपूर्ण व्यक्तित्त्व विलीन कर देने के कारण अपने व्यक्तिगत जीवन का 'आत्मचरित्र' लिखने की कल्पना एवं उसके लिए कुछ टिप्पणियाँ लिख रखने के विचार की संगति उनके स्वभाव के साथ नहीं बैठाई जा सकती।

फिर, उनके जीवन का पहला काल क्रांतिकारी कार्यों में व्यतीत हुआ था। अतः विदेशी शासकों की गृधदृष्टि से स्वतः को तथा अपने संबंध की संपूर्ण जानकारी बचाए रखने की सतर्कता बरतना भी आवश्यक था। फलतः इस सतर्कता के कारण उन्होंने अपने अस्तित्व को ही पूर्णतः अगोचर सा बनाए रखने का मानो स्वभाव ही बना लिया था।

सहयोगियों का स्वर्गवास

उनकी विविध गतिविधियों में साथ देनेवाले अनेक सहयोगी कुछ जानकारी दे सकते थे, परंतु इस ग्रंथ को लिखने के लिए आवश्यक अनुकूल स्थिति उनके निधन के लगभग बीस वर्ष के उपरांत उपलब्ध हुई तथा इस लंबी अवधि में उनके सहयोगियों में से भी बहुत-से इहलोक-लीला का संवरण कर गए। इस प्रतिकूल परिस्थिति में यह अपरिहार्य था कि उनके जीवन के संबंध में बहुत ही तुटपूँजी एवं आनुमानिक जानकारी प्राप्त हो। फिर भी उनके जो-जो सहयोगी, मित्र अथवा परिचित सुदैव से जीवित थे अथवा हैं, तथा उसी प्रकार उनके संबंध में जो कुछ थोड़ा-बहुत उल्लेख इधर-उधर बिखरा हुआ मिल सका, उस सबका संग्रह करके लेखक ने यह सुसंबद्ध एवं प्रामाणिक ग्रंथ लिखा है। दीर्घकाल तक केवल एक ही धुन

लेकर अत्यंत लगन के साथ चारों ओर दौड़धूप करते हुए संपूर्ण सामग्री एकत्र करने में उनको कितना शारीरिक एवं मानसिक कष्ट हुआ होगा, इसकी कल्पना ही की जा सकती है।

विस्मरण

अर्थात् यह कहना कठिन है कि परमपूजनीय डाक्टर जी का परिपूर्ण चित्रण ग्रंथ में हुआ है। बहुत-सी छोटी-मोटी घटनाएँ अनेक जनों के स्मृतिपटल से लोप हो गई होंगी। उनके कारण उसके स्वभाव एवं गुणों के दिग्दर्शन की संभावना नष्ट हो गई। पर कोई अन्य उपाय संभव न होने के कारण इस चरित्र-वर्णन से ही हम सबको संतोष करना होगा।

चरित्र से संदेश

परमपूजनीय डाक्टर जी के कष्टपूर्ण, परिश्रमी एवं कर्मठ जीवन से साधारण व्यक्ति को एक आशावादी संदेश मिलता है।

"दरिद्रता, प्रसिद्धिविहीनता, बड़ों की उदासीनता, परिस्थिति की प्रतिकूलता, पग-पग पर बाधाएँ, विरोध, उपेक्षा, उपहास आदि के कटु अनुभव के साथ-साथ स्वीकृत कार्य की पूर्ति के लिए आवश्यक साधनों का अत्यंत अभाव आदि कितनी ही कठिनाइयाँ मार्ग में आएँ तो भी अपने कार्य के साथ तन्मय होकर 'मुक्तसंगोऽनहंवादी.....' इस वृत्ति, सुख-दुःख, मानापमान, यशापयश आदि किसी की भी चिंता न करते हुए यदि कोई प्रयत्नरत रहेगा तो उसे अवश्य ही सफलता मिलेगी।"

पूर्व प्रकाशित डाक्टर जी के छोटे जीवनचरित्र के आरंभ में 'क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे' जो यह सुभाषित दिया है वह उनके ऊपर पूरी तरह घटित है। किंबहुना उनका संपूर्ण जीवन ही इस उक्ति का मूर्तिमंत उदाहरण था। अपने घर-बार के कामकाज में हताश होकर हाथ-पाँव छोड़ देनेवालों को, किसी भी सामाजिक कार्य को करते समय बाधाओं से घबराकर निराशा से कार्यविमुख होनेवालों को, इस पवित्र जीवन से आशा का संदेश प्राप्त होकर सदैव ही कार्यरत रहने की प्रेरणा मिल सकेगी।

अभिजात राष्ट्रप्रेम

ऐसे प्रेरणादायक जीवन के कतिपय प्रेरक गुणों एवं सिद्धांतों को अपने जीवन में भी स्थान देना हितकारक है। इसलिए कुछ प्रमुख बातों का

यहाँ उल्लेख करना लाभकारी होगा। उनका सर्वप्रथम उल्लेखनीय गुण है उनके मन में राष्ट्रविमोचन की, राष्ट्रोन्नति की उत्कट लगन। उनमें राष्ट्रभक्ति का यह भाव बाह्य परिस्थिति के कारण उत्पन्न नहीं हुआ था, अपितु उनका अभिजात स्थायी स्वभाव ही था। बचपन से ही वह प्रकट होता था। तत्कालीन अंग्रेजी शासन की दासता के कारण एक विशिष्ट स्वरूप में उनकी राष्ट्रभक्ति का आविर्भाव होना अपरिहार्य ही था। किसी-न-किसी प्रकार विदेशी राज्य को देश से उखाड़ फेंकना चाहिए, उनकी यह इच्छा इसी उत्कट राष्ट्रभक्ति में से पैदा हुई थी। अंतःकरण में निर्भय पौरुष का भाव होने के कारण सशस्त्र क्रांति की ओर उनका झुकाव सहज था।

परस्पर सहयोग पूरकता

किंतु दूसरे मार्गों का समादर न करने की क्षुद्रता उनके अंदर नहीं थी। उनकी तो यही उदात्त भूमिका थी कि "सब अपने-अपने प्रकार से विदेशी सत्ता को निर्मूल करने के लिए प्रयत्नशील हों, उसमें विचित्र कुछ भी नहीं है। अपने ही मार्ग का हठ धारण कर अन्य सब प्रकार के काम करनेवालों को हीन और हेय न मानते हुए सबके बीच जितना संभव हो सहयोग बना रहे।"

आजकल के राजनीतिक वातावरण में विभिन्न दलों के परस्पर ईर्ष्या-द्वेष को देखते हुए तो यह बड़े-बड़ों को भी स्पष्ट समझ में आ जाएगा कि डाक्टर जी के जीवन के इस सिद्धांत को अपने अंतःकरण में धारण करके सार्वजनिक जीवन में सहकार्य, मेल-जोल तथा परस्पर पूरकता का वायुमंडल निर्माण करने के लिए प्रयत्न कितने आवश्यक हैं।

हिंदुत्व ही राष्ट्रजीवन का आधार

अपने उग्र स्वभाव के अनुसार सशस्त्र प्रतिकार उनको प्रिय था। फिर भी उसके मूल में राष्ट्रभक्ति की प्रेरणा होने के कारण अंग्रेज के पराए, शत्रु एवं शोषक होने पर भी केवल उसके विरोध का विचार उनके मन में रहे, यह संभव नहीं था। अतः जिस राष्ट्र की भक्ति अंतःकरण में है— वह कैसा है, उसका स्वरूप क्या है, उसका शरीर अर्थात् दृश्यरूप किनके कारण बना है आदि मूलभूत प्रश्नों का उन्होंने गहन चिंतन किया।

प्राचीनतम भूतकाल से घटनेवाले तथा प्रत्यक्ष आँखों के समक्ष हुए प्रसंगों से उन्हें 'अपनी पुण्यभूमि का राष्ट्रजीवन, हिंदू जीवन ही है', इस

त्रिकालाबाधित सत्य का साक्षात्कार, चाहे बाल्यावस्था में उसकी अनुभूति वे सप्रमाण, स्पष्ट एवं असंदिग्ध रूप से न बता पाए हों, पूर्ण रूप से हो गया।

उनके जीवनकाल में तथा आज भी जिस अनैतिहासिक एवं असत्य तथा कथित सम्मिश्र राष्ट्रवाद का मंडन एवं गुणगान किया जाता है, वह बुद्धि और तर्क की कसौटी पर खोटा तथा विशुद्ध राष्ट्रभावनाओं को दुःखानेवाला है।

इस खोटे राष्ट्रवाद के कारण ही अपने और पराए, राष्ट्रीय समाज और उसके शत्रु, विदेशी आक्रामक एवं उनसे प्राणपण से जूझनेवालों की परख करने में अक्षम्य घोटाला हुआ है। जब तक अपना राष्ट्र इस भ्रम एवं असत्य का आधार लेकर चलने का हठ करता रहेगा, तब तक उसपर एक के बाद एक अनिष्ट आते रहेंगे। अपमानित, असुरक्षित एवं संकटग्रस्त राष्ट्रजीवन का उत्तरोत्तर ह्रास होते हुए कदाचित अंत में उसके विनाश की घड़ी भी आ जाए यह दुःखद प्रतीति पिछले चालीस-पचास वर्षों की घटनाओं से होती है। यदि पक्षाभिनिवेश, दुराग्रह एवं अन्य समाजों का भय मन में से निकालकर अपने राष्ट्रजीवन का विचार किया, तो परमपूजनीय डाक्टर जी के पदचिह्नों पर चलते हुए हम सब यही कहेंगे कि 'अपना हिंदू राष्ट्र ही है। पहले था और अपने पराक्रम से आगे भी सदैव के लिए उसे सर्वश्रेष्ठ अवस्था में रखना है।'

वास्तव में तो अपने राष्ट्र के विषय में पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष प्रस्तुत करते हुए उसे विवाद का विषय बनाकर 'हिंदू राष्ट्रवाद' कहना भी परमपूजनीय डाक्टर जी की उत्कट अनुभूति से विसंगत है। यह वाद नहीं हो सकता। हिंदू राष्ट्र तो वादातीत सत्य है।

अलौकिक आनंद

अपने आराध्य हिंदू राष्ट्र का परिपूर्ण साक्षात्कार होने के कारण ही उन्हें संपूर्ण संकट, सब बाधाएँ सहज प्रतीत हुईं तथा अपने उपास्य की भक्ति की प्रखर ज्वाला में व्यक्तिगत एवं कौटुंबिक जीवन के आकर्षण और सब प्रकार का स्वार्थ जलाकर भस्म करने का अलौकिक आनंद उन्होंने अनुभव किया। इस जीवनचरित्र में उनके स्वराष्ट्रशरण, निःस्वार्थ एवं भव्य व्यक्तित्व का दर्शन करने को मिलेगा। व्यक्तिगत आशा-आकांक्षा, मान-सम्मान आदि संपूर्ण स्वार्थों को भस्म कर राष्ट्रसेवक का विशुद्ध एवं परिपूर्ण स्वरूप यहाँ हमें दिखेगा। उनके सदैव प्रसन्न एवं हँसमुख जीवन का अभ्यास कर

अपने अंतःकरण में यह स्पष्ट छाप पड़ेगी कि सच्चा सुख एवं जीवन की सार्थकता का समाधान स्वार्थशून्यता में ही निहित है।

शुचिता का मानवरूप

स्वार्थरहित एवं ध्येयनिष्ठ जीवन ही विशुद्ध, पवित्र एवं चरित्रसंपन्न रह सकता है। परमपूजनीय डाक्टर जी तो अंतर्बाह्य शुचिता की साक्षात मूर्ति ही थे। उनकी ओर देखकर यही लगता था कि शुचिता मानव-रूप धारण कर व्यवहार कर रही हो।

सार्वजनिक जीवन में चरित्र की रक्षा करने के संबंध में उदासीनता ही नहीं, अपितु चरित्र आदि विषयों की अवहेलना करने की जो प्रवृत्ति चारों और दिख रही है, उस पृष्ठभूमि में प्रखर पावित्र्य के तेज से चमचमाता उनका जीवन अधिक उभरा हुआ दिखेगा तथा अपने मन को आकृष्ट करता हुआ हमारे अंतःकरण में भी अपने जीवन को शुचितापूर्ण एवं मंगलमय बनाने की प्रेरणा और विश्वास निर्माण कर सकेगा।

यश से भी अलिप्त

अनेक बार देखने को मिलता है कि यदि कर्तृत्ववान एवं गुणी व्यक्ति अनेक आपत्तियों में से मार्ग निकालता हुआ सफलता की ओर प्रशस्त होता है तो उसमें आत्मविश्वास के स्थान पर अहंकार उत्पन्न हो जाता है, स्वभाव उग्र हो जाता है, दूसरों को तुच्छ समझने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। यह सब होना तथा उसके कारण गैर-मिलनसारी वृत्ति उत्पन्न होती है। गैर-मिलनसारी की वृत्ति उत्पन्न होना स्वाभाविक होने पर भी इष्ट नहीं है। विशेषकर राष्ट्र-सेवा का व्रत लेनेवालों को तो इस प्रकार की प्रवृत्तियों को प्रश्रय देना सर्वथा अनुचित है।

परमपूजनीय डाक्टर जी को तो कुल-परंपरा से तेज-क्रोधी स्वभाव तथा आत्मनिर्भर रहने का स्वाभिमान प्राप्त हुआ था। इसके अतिरिक्त सभी संकटों का सामना करते हुए उन्हें परास्त कर अकेले ही राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ जैसी अतुलनीय संगठित सामर्थ्य उत्पन्न करने में उन्हें कल्पनातीत सफलता मिली थी। इस स्थिति में उनके मन में अहंकार, तुनुकमिजाजी आदि अवगुणों के उत्पन्न होने के लिए पर्याप्त अनुकूलता थी, परंतु उनके जीवन की ओर देखने से पता चलता है कि वे इन सभी अवगुणों से सदैव अलिप्त रहे। उनके जीवन में तो सौजन्य, निरभिमानता, अहंकारशून्यता, मिलनसारी स्वभाव एवं वाणी की मृदुता, प्रत्येक परिस्थिति में क्षोभरहितता

आदि गुणों का ही परिपोष दिखता है। वंश-परंपरा से प्राप्त क्रोधी स्वभाव भी उनके बाद के जीवन में नहीं-सा हो गया था। 'स्वभावो दुरतिक्रमः' यह कहा गया है। किंतु उन्होंने उसको भी जीतकर अपने काबू में कर लिया था। उनका यह स्वभाव-परिवर्तन इतना विलक्षण था कि मनोवैज्ञानिक चमत्कार ही कहा जाएगा। यह सब कैसे हुआ? उन्होंने यह सब विचारपूर्वक एवं प्रयत्नपूर्वक क्यों किया? यदि यह समझ लिया तो इस चमत्कार का थोड़ा-बहुत स्पष्टीकरण हो सकेगा।

अपने राष्ट्र के स्वरूप के निश्चित एवं स्पष्ट साक्षात्कार की अनुभूति होते ही उन्होंने राष्ट्र की अवनति, ह्रास और पराभव की मीमांसा सत्य मार्गदर्शक इतिहास के प्रकाश में की।

पराभव की मीमांसा

'अपने समाज के व्यक्तियों में सामाजिक भावना का अभाव, मातृभूमि, धर्म, संस्कृति आदि का केवल तांत्रिक एवं औपचारिक स्मरण और पालन पर्याप्त नहीं है, अपितु समस्त विदेशी आघातों से उसकी रक्षा के लिए जान को हथेली पर लेकर चलने की तैयारी रखनी होती है, इस विषय का अज्ञान, सामाजिक और राष्ट्रीय कर्त्तव्यों के प्रति उदासीनता, परस्पर की नित्य सहायता करने की तत्परता न होना, क्षुद्र स्वार्थपरायणता आदि इसी प्रकार के अनेक अवगुणों से व्याप्त होने के कारण समाज असंगठित, जर्जर एवं दुर्बल हो गया है। इस शक्तिहीनता से ही उसे पराभव, परतंत्रता एवं सभी क्षेत्रों में निकृष्ट अवस्था प्राप्त हुई है।'

यह सत्य उन्होंने हृदयंगम कर संपूर्ण समाज के सम्मुख रखा। उन्होंने यह भी निष्कर्ष निकाला एवं देश को बताया कि इस दुरवस्था को दूर करने का एक ही उपाय है कि 'व्यक्ति-व्यक्ति पर सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन के सत्संस्कार कर उन्हें एकसूत्रबद्ध एवं अनुशासित शक्ति के अंग के रूप में सिद्ध किया जाए तथा इस प्रकार के सभी व्यक्तियों के स्नेहमय व्यवहार, एकात्मता तथा राष्ट्र की समष्टि में अपने व्यक्तित्व को विलीन करने के गुणों के आधार पर एक अखिल देशव्यापी अनुशासित एवं संगठित सामर्थ्य का निर्माण किया जाए।'

संगठन की बातें करना सरल है, पर उसे व्यवहार में लाने के लिए आवश्यक था कि एक ऐसे तंत्र का निर्माण किया जाए, जिसके द्वारा शुद्ध राष्ट्रीय भाव एवं राष्ट्र-समर्पित जीवन के संस्कार अंतःकरण पर हो सकें

और दृढ़ रह सकें तथा परस्परानुकूल स्नेहपूर्ण व्यवहार व्यक्तियों का स्थायी स्वभाव ही बन जाए। इस आवश्यकता की पूर्ति के लिए ही उन्होंने राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की प्रतिदिन की शाखाओं के विशेष तंत्र का निर्माण किया।

स्वयं का आदर्श

इसके लिए योग्य एवं अंगभूत व्यवहार का निर्धारण किया तथा अपने स्वयं के उदाहरण से अपने दुरतिक्रम स्वभाव को भी बदलकर उस व्यवहार के अनुरूप बनाकर, उन्होंने असंभव को भी संभव कर दिखाया। समर्पित जीवन का सामर्थ्य क्या-क्या कर सकेगा? यह कौन बता सकता है? वंशगत संस्कारों को भी शुद्ध कर, अनिष्ट को नष्ट करने तथा इष्ट एवं आवश्यक गुणों की स्थापना एवं संग्रह करने की अतिमानवीय शक्ति उन्हें अपनी सर्वस्वार्पण की वृत्ति से ही प्राप्त हुई थी।

एक ही राजनीति – स्वातंत्र्य-संग्राम

इस असामान्य शक्ति का परिपूर्ण दर्शन देनेवाली एक और बात का उल्लेख आवश्यक है। प्रस्तुत चरित्र को पढ़ते समय परमपूजनीय डाक्टर जी की अनेक राजनीतिक गतिविधियों का हमें पता चलता है। अंग्रेज प्रत्यक्ष रूप से विदेशी था, उसके अत्याचारी शासन की असह्यता अनुभव में आती थी। इस परिस्थिति में प्रत्येक विचारवान व्यक्ति को यही लगता था कि अंग्रजों को निकालकर पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करना ही जीवन का प्रमुख कर्तव्य है। इस विचार से लोकमान्य जी ने अपने काल में समाज-सुधार या राजनीति के विवाद में राजनीति को असंदिग्ध रूप से स्वीकार किया था। इसी आधार पर परमपूजनीय डाक्टर जी कहते थे कि 'परतंत्र राष्ट्र के लिए स्वतंत्रता-संग्राम के अतिरिक्त और कोई राजनीति नहीं हो सकती।' इसीलिए चुनाव, कौंसिल आदि की ओर उनकी सदैव उपेक्षा रही। अन्यान्य सामाजिक कार्यों की ओर भी उन्होंने इसी उद्देश्य से ध्यान दिया कि उनका स्वतंत्रता-संग्राम में उपयोग हो सके।

ईर्ष्यापूर्ण राजनीति से अलग

यद्यपि परिस्थिति के अनुसार उन्होंने राजनीति का अवलंबन किया था, फिर भी राष्ट्र के उत्कर्षापकर्ष के कारणों की मीमांसा कर उन्होंने यह ध्यान में रखा कि स्पर्धा, ईर्ष्यादिपूर्ण प्रचलित राजनीति केवल अनुपयुक्त ही नहीं, अपितु यदि पूरी सतर्कता नहीं बरती गई तो हानिकारक भी सिद्ध हो

सकती है। साथ ही यह सत्य पहचानकर कि राष्ट्र के उज्ज्वल भविष्य की आधारशिला उसका जागृत, अनुशासित एवं सुसंगठित सामर्थ्य ही है, उन्होंने परिस्थिति के आघात-प्रत्याघात, स्वकीयों की टीका एवं अवमानना आदि को हँसते-हँसते सहकर भी उस तंत्र को खड़ा करने में अपना जीवन-सर्वस्व लगा दिया तथा अपने प्रारंभिक जीवन में सशस्त्र क्रांति एवं कांग्रेस, हिंदू महासभा आदि से जो संबंध बनाए थे, उन्हें धीरे-धीरे सहज दूर कर दिया।

उन क्षेत्रों के राष्ट्रभक्त नेताओं तथा उनके कार्य के विषय में मन में आदरभाव रखते हुए उन्होंने स्वयंसेवकों को यह सतर्कता बरतने को कहा कि उनके विषय में क्षण मात्र भी अनादर का भाव उत्पन्न न हो, किंतु उन्होंने अपना आदर्श सबके सामने रखते हुए यह शिक्षा भी दी कि 'इन कार्यपद्धतियों से दूर रहकर ही समाज-संगठन संभव है और वही प्रत्येक कार्यकर्ता को करना चाहिए।'

स्वयं को बदलने का सामर्थ्य

बाल्यकाल से विविध राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न, विदेशी राज्य के नाम मात्र से ही जो क्षुब्ध एवं क्रुद्ध हो जाए, इस प्रकार अतीव संवेदनशील एवं उत्कट भावनापूर्ण व्यक्ति को प्रचलित राजनीतिक कार्यों से अपना हाथ खींचे बिना मन को हटा लेना तथा सब प्रकार से बुद्धि को जँचनेवाले कार्य के अनुकूल ही अपने मनोभाव को बनाना कितना कठिन हुआ होगा और इस प्रकार का परिवर्तन अपने अंदर लानेवाले की विवेकशक्ति कितनी परा-कोटि की और सामर्थ्यवान होगी तथा अपने निष्कर्षों एवं तदनुरूप कार्य पर उनकी निष्ठा कितनी अटल होगी, इसकी कल्पना करना भी कठिन है। इस प्रकार का कल्पनातीत शक्तिसंपन्न विवेक एवं कार्यनिष्ठा उनके पवित्र, निःस्वार्थ एवं राष्ट्रसमर्पित जीवन के कारण ही प्राप्त करना संभव था। यह उनके जीवन का अत्यंत भव्य एवं अनाकलनीय चमत्कार है।

आत्म परिवर्तन का मंत्र

इस दृष्टि से प्रस्तुत चरित्र का पठन लाभदायक होगा। बाहर से सामान्य दिखनेवाले स्वरूप में असामान्यता का तेज दिखेगा तथा प्रत्येक के मन में यह आत्मविश्वास जगेगा कि 'मैं भी अपने अंतःकरण पर राष्ट्रसमर्पित जीवन के संस्कार डालकर, उन्हें दृढ़ रखते हुए, अपने विकारों को नष्ट

कर, स्वभाव को शुद्ध करके, राष्ट्र के चिरकालीन वैभव के निर्माण के लिए तथा बाह्य वातावरण के आकर्षणों पर विजय प्राप्त कर राष्ट्र की स्थायी शक्ति के एक अटल अंग के नाते जीवनपर्यंत परिश्रम करते हुए अपना जीवन सफल एवं सार्थक कर सकूँगा।'

परमपूजनीय डाक्टर हेडगेवार के दिव्य जीवन का यही आशाप्रद एवं स्फूर्तिदायी संदेश है। मुझे लगता है कि इस ग्रंथ की यही फलश्रुति है। यह संदेश घर-घर, व्यक्ति-व्यक्ति के अंतःकरणों में पहुँचे तथा लेखक का परिश्रम सफल हो, यही कामना है।

१०. 'स्व. डा. मुंजे चरित्र'

(श्री बाळशास्त्री हरदास द्वारा लिखित डा. मुंजे के चरित्र की प्रस्तावना, २४ मई १६६६)

डा. मुंजे को इहलोक का त्याग किए अनेक वर्ष बीत जाने पर, उनका चरित्र अब कहीं प्रकाशित होकर लोगों के सामने आ रहा है। ग्रंथकार ने स्वयं इस विलंब के कारण बताए हैं। यह विलंब अपरिहार्य है। मुद्रित प्रति से इस ग्रंथ के पठन का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है।

प्रेरणा तथा मार्गदर्शन

जिस कालखंड में डा. मुंजे को जन्म प्राप्त हुआ, विकास हुआ तथा उन्होंने सार्वजनिक और राजनैतिक जीवन को मोड़ दिया, उसका स्वरूप कैसा था, इसे ठीक प्रकार से आँक सकने वाले बहुत थोड़े व्यक्ति जीवित हैं। उस कालखंड की जनमानस की अवस्था, विदेशी राज्यशासन के प्रबल पाश, नेतृत्व करनेवालों की राजमान्यता तथा लोकमान्यता के दोलायमान होने की थी। क्षुद्र दासभाव के अनंतर राज्यमान्यता पर लोकमान्यता की वर्धिष्णु प्रभावी पकड़ निर्माण हुई। उसके परिणामस्वरूप विदेशी सत्ता से शस्त्र-प्रयोग से लेकर असहयोग तक किसी भी प्रकार से प्रत्यक्ष संघर्ष करने की जनता की प्रवृत्ति दृढ़तर होती गई। इन सारे स्थित्यंतरों का ज्ञान हुए बिना डा. मुंजे के चरित्र का क्रम ध्यान में नहीं आ सकता। डा. मुंजे जिन लोकमान्य तिलक को अपना राजनैतिक गुरु मानते थे, उनके कालखंड का प्रस्तुत ग्रंथ में समावेश हुआ है। भारतीय स्वातंत्र्य के इतिहास का महत्त्वपूर्ण काल इस चरित्र-वर्णन के निमित्त मर्मग्राही कुशलता से यहाँ वर्णित हुआ

है। डा. मुंजे ने मध्यप्रदेश के राष्ट्रीय आंदोलन के मूल प्रवर्तक होने के कारण उनके चरित्र वर्णन के प्रवाह में इस कालखंड के विवेचन का पूर्ण समावेश होना अनिवार्य ही था। पाठकों को इसमें से उस काल की परिस्थिति के सम्यक् ज्ञान के साथ डा. मुंजे सम प्रखर देशभक्त के जीवन का विकास ज्ञात होगा। राष्ट्रसेवा के लिए स्वार्थ को तिलांजलि देकर, सुख-दुःख, मान-अपमान आदि की अवहेलना कर ध्येयदृष्टि से कभी दृढ़ता, तो कभी नम्रता के इस लचीलेपन से कार्य सिद्धि करने के लिए मन तथा बुद्धि की आवश्यक सजीवता किस प्रकार होती है, इसका ज्ञान डा. मुंजे के जीवन-विकास के क्रम में पाठकों को होगा तथा अपना जीवन राष्ट्रहित में संस्कारित करने के लिए प्रेरणायुक्त मार्गदर्शन प्राप्त होगा, इसमें संदेह नहीं। डा. मुंजे के कर्तृत्वशाली तथा धैर्यशाली जीवन का प्रभावी काल आगे आनेवाला है। उसके बाद ही उनके बहुविध गुणों की सच्ची परख हो सकेगी तथा उसके उपरांत ही इस ग्रंथ का सही मूल्यांकन करना संभव हो सकेगा।

हिमाचल सा अडिग आधार

ग्रंथकार ने मुझे इस ग्रंथ की प्रस्तावना लिखने का अनुरोध किया। ऐसा उन्होंने क्यों किया, यह मैं नहीं समझ पाया हूँ। मै इसके लिए अपने को योग्य नहीं समझता। इसके अतिरिक्त, इस ग्रीष्म काल में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के देशभर में चल रहे शिक्षा वर्गों में उपस्थित रहने के दो महीने के अविराम प्रवासक्रम में, मुद्रित पढ़कर, थोड़ा-सा लिखने के लिए अवकाश मिलना संभव नहीं है। यह ज्ञात होने पर भी उन्होंने यह अनुरोध किया। इसका एक कारण हो सकता है। स्व. डा.मुंजे के छोटे भाई स्व. भाऊसाहेब मुंजे तथा मेरे स्व. पिताजी का बचपन में निकट का परिचय था। उसी दृष्टि से वे मुझे स्नेह करते थे। दूसरी बात यह है कि जिस राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ की अल्प-स्वल्प सेवा करने का सौभाग्य मुझे प्राप्त हुआ है, उसके संस्थापक परमपूजनीय डा. केशवराव हेडगेवार से डा. मुंजे ने पुत्रवत् स्नेह कर, उनकी क्रांतिकारी गतिविधियों में भी उनका समर्थन और संरक्षण किया था। आगे जब संघ-कार्य प्रारंभ हुआ, तब उसका संवर्धन करने में उन्होंने सब प्रकार की सहायता की और डा. हेडगेवार संघ के प्रमुख हैं तथा मैं संघ का एक स्वयंसेवक हूँ, यह बात प्रत्येक अवसर पर उद्‌घोषित कर, संघ के कार्यक्रमों में गणवेश में उपस्थित रहकर, उसे सब लोगों को साक्षात कराने में सदैव गौरव का अनुभव किया। परमपूज्य

डा. हेडगेवार के बाद वही स्नेह, आशीर्वाद तथा पूर्ण सहयोग मुझे भी प्राप्त हुआ। जब तक डा. मुंजे जीवित रहे तब तक मुझे हिमाचल सा अडिग आधार प्राप्त होता रहा। जिसके कारण निर्भयता से हिंदूराष्ट्र के सत्य सिद्धांत के मंडन हेतु देशभर संचार करते रहने का मैं साहस तथा उत्साह अनुभव करता रहा। मुझे लगता है कि डा. मुंजे के कृपाभाजन के नाते भी ग्रंथकार ने मुझ पर यह दायित्व सौंपा है।

मणिकांचन योग

इस ग्रंथ की प्रस्तावना लिखने की मेरी योग्यता नहीं है। ग्रंथ की श्रेष्ठता के संबंध में अपना मत देना मेरी क्षमता के बाहर है। परंतु डा. मुंजे के समान राष्ट्रभक्त, स्वार्थशून्य, सस्ती लोकप्रियता की अवहेलना कर अपने ध्येय पर अडिग रहने वाला धीरोदात्त पुरुष ग्रंथ का वर्ण्य विषय है तथा साहित्याचार्य महामहोपाध्याय बाळशास्त्री हरदास के समान प्रथितयश विद्वान, डा. मुंजे के नेतृत्व में प्रचंड कार्य किया हुआ कर्मठ कार्यकर्ता ग्रंथकार है। यह मणिकांचन योग इस ग्रंथ का सौभाग्य है। इससे इस महान चरित्र-ग्रंथ की श्रेष्ठता पाठक सहज रूप से समझ सकते हैं।

अंत में इस ग्रंथ का उत्तरार्ध शीघ्र प्रकाशित हो तथा नई पीढ़ी को इससे निःस्वार्थ राष्ट्र सेवा की प्रेरणा तथा देशवासियों को इस ग्रंथ का संग्रह कर अपने सच्चे हित साधन की सद्‌बुद्धि प्राप्त होने के लिए सर्वशक्तिमान परमेश्वर के चरणों में प्रार्थना करते हुए, यह अल्प प्रस्तावना पूर्ण करता हूँ।

११. प्राणायाम

(परमहंस जनार्दन स्वामी द्वारा प्राणायाम विषय पर लिखे गए ग्रंथ पर श्री गुरुजी की ४ अक्तूबर १९६६ को गुवाहाटी, असम से लिखी गई प्रस्तावना)

परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रीमत् जनार्दन स्वामी का परिचय महाराष्ट्र प्रांत के प्रायः सभी बंधुओं को है। 'योग' शब्द का उच्चार करते ही सामान्य जनों के लिए यह कुछ तो भी रहस्य है, अनाकलनीय है, ऐसी धारणा है। इस शास्त्र के कुछ अंश वैसे हैं, यह नकारा नहीं जा सकता। पूर्वसिद्धता किए बगैर उसका सूक्ष्म अनुभव प्राप्त करना संभव नहीं। किंतु योगशास्त्र जिस प्रकार उच्च आध्यात्मिक अनुभूति का प्रत्यक्ष प्रायोगिक शास्त्र है, उसी

प्रकार ऐहिक दीर्घ जीवन, स्वस्थ व सबल शरीर और स्वीकृत कार्य पर मन केंद्रित करते हुए चित्त की अव्यवस्था दूर करने की और अंततः कार्य में पूर्ण यश प्राप्त करने की क्षमता प्राप्त करा देनेवाला, यह अत्यंत उपकारक शास्त्र भी है।

आध्यात्मिक जीवन की ऊपर की सीढ़ियाँ चढ़ जाने की इच्छा हो या इस लोक में सुख-यश प्राप्त करने की इच्छा हो, योगशास्त्र ने व्यक्ति की पूर्वसिद्धता करने के लिए दिग्दर्शित किया हुआ, यह अनुपम मार्ग है।

यम-नियम

योग के अष्टांगों में से पहले चार अंग इसी दृष्टि से हमारे सामने रखे गए हैं। उसमें से यम और नियम अंतर्बाह्य शुचिता के लिए आवश्यक हैं। बहिरंग और अंतरंग साधनों की दृष्टि से उनका महत्त्व स्पष्ट ही है। ऐहिक और पारमार्थिक, ऐसी दोनों दृष्टि से यम-नियमों का अभ्यास अनिवार्य है। यह आसानी से समझनेवाली बात है।

उसके बाद तीसरा अंग आसन उसकी योगसाधना की दृष्टि से 'स्थिरसुखमानासनम्' ऐसी अत्यंत सुलभ व्याख्या होते हुए भी, मन एकाग्र करने के लिए एक ही आसन में तकलीफ न होते स्थिर बैठने की, याने आसन भंग करने की, या बदलने की आवश्यकता न रहे, इस प्रकार का सुदृढ़, किंतु लचीला शरीर रखने के लिए और व्याधिमुक्त, सक्षम और उत्साहपूर्ण जीवन के लिए जानकारों ने अनेक प्रकार के आसन ढूँढ निकाले हैं। शरीर स्थित सब मल, दोष, विकार समाप्त करके, अपितु वह निर्माण ही न हों, इस प्रकार का शुद्ध शारीरिक स्वास्थ्य प्राप्त हो और शरीर के सभी अंग अत्यंत कार्यक्षम हों, इस दृष्टि से प्रत्येक अवयव को योग्य व्यायाम देने के और सब गतिविधियाँ आसानी से करने की क्षमता प्रदान करनेवाले अनेकानेक आसन प्रकार भी प्रचलित किए गए हैं। यह आसन कैसे करें ? उनके द्वारा कौन-से प्रकार के दोषों का निराकरण होता है? कौन-से आसनों का नियमित या परिमित रीति से अभ्यास करते हैं? क्या परिणाम होता है? योग्य शरीर स्थिति कब प्राप्त होती है? इसका विवरण जानकारों ने अनेक ग्रंथो में दिया है।

स्वामीजी का नया योगदान

श्री जनार्दन स्वामी ने भी अपने 'सुलभ सांघिक आसने' किताब के माध्यम से सामान्य जन आसानी से समझें, इस रीति से आसनों की अच्छी

जानकारी दी है। आसनों के व्यक्तिगत लाभ की दृष्टि से अकेले ने किया हुआ प्रयोग लाभकारक ही है, किंतु उसको सांघिक जीवन के लाभ का आयाम देने की दृष्टि से स्वामी जी ने आसनों के अभ्यास की एक अभिनव और अत्युपयुक्त व्यवस्था देने का उपक्रम यशस्वी किया है।

प्राणायाम का महत्त्व

आसनों के बाद का योग का अंग, याने प्राणायाम। प्राणायाम के संबंध में अनेक प्रकार की गलत फहमियाँ हैं। उनके कारण लोगों के मन में डर पैदा हुआ है। उसके लिए खेद व्यक्त करते हुए स्वामी जी ने प्राणायाम की पूर्वसिद्धता का सांगोपांग विवरण, प्राणायाम के स्पष्ट और असंदिग्ध अर्थ, उसके विविध प्रकार, उससे होनेवाले विभिन्न लाभ— इनका विवेचन इस पुस्तक में किया है।

उनका यदि ध्यानपूर्वक पठन किया और स्वामी जी की सूचनाओं का पालन किया तो प्राणायाम से हमारा चित्त एकाग्र हो सकेगा। उसके अभ्यासक को अपने अंदर की सुप्त शक्ति जागृत होने का अनुभव प्राप्त होगा और ऐहिक अभ्युदय प्राप्त करने के लिए सुयोग्य सामर्थ्य अपने में है, इसका साक्षात्कार भी होगा। 'कितने भी कष्ट करने के बाद थकान न आते हुए अदम्य उत्साह से काम करने की अमाप शक्ति अपने में है' इसका बोध भी होगा। पारमार्थिक दृष्टि से ध्यानादि अंगों का अभ्यास करने की पात्रता हमने प्राप्त की है, ऐसा विश्वास निर्माण होकर हमें सर्व प्रकार का सुखी, समृद्ध और श्रेष्ठ जीवन बिताने का अवसर प्राप्त होगा।

ऐसी असामान्य योग्यता जिससे प्राप्त हो सकती है, उस प्राणायाम शास्त्र की चर्चा करनेवाला यह सुबोध ग्रंथ लिखकर श्री जनार्दन स्वामी ने जनसाधारण को उपकृत ही किया है। उनका जीवन त्यागमय और ऋषितुल्य होने के कारण उनको कोई अभिलाषा नहीं। कोई अपना अभिनंदन करे, प्रशंसा करे ऐसी उनकी अपेक्षा नहीं रहती। मान-सम्मान और कीर्ति की भी उनको अभिलाषा नहीं है। केवल जनता जनार्दन की सेवा करने की दृष्टि से उन्होंने यह किताब लिखी है।

अपने आसपास का समाज दुःखी है, कष्टी है, दुर्बल है, अकर्मण्य है, आत्मविश्वास खो बैठा है, उसके कारण एक समय जगद्गुरु के स्थान पर विराजमान अपना यह राष्ट्रजीवन अधोगति की ओर चला है। यह देखकर विकल व द्रवित होकर उन्होंने अपने अमृतमय परंपरास्थित ज्ञान

का यह अमृतकलश राष्ट्रोद्धार हेतु जनता के हाथ में दिया है। जनसाधारण ने इस अमृत का आस्वाद लेना चाहिए। इस ग्रंथ में बताया गया अध्ययन करना चाहिए और अपने इस राष्ट्र को पुनरपि जगद्वंद्य करने के लिए कठिन परिश्रम करने योग्य आवश्यक शक्ति व्यक्तिशः प्राप्त करनी चाहिए। उसीसे स्वामी जी को संतोष होगा।

श्रीमत् जनार्दन स्वामी का यह कृपाप्रसाद राष्ट्र को नई प्रेरणा देनेवाला सिद्ध हो, ऐसी प्रार्थना श्री भगवान के चरणों में करते हुए मैं यह प्रस्तावना पूर्ण करता हूँ।

१२. शिवाजी : एक प्रकाश

(हिंदी के विख्यात कवि पं. श्यामनारायण पांडेय द्वारा लिखित छत्रपति शिवाजी महाकाव्य की प्रस्तावना, सन् १९६८)

अवनति, उन्नति का खेल

राष्ट्र के जीवन में सुख-दुःख का, वैभव-पराभव का अनुभव आता रहता है। सर्वकाल वैभव का उपभोग करनेवाला या सदा के लिए अधःपतन की गर्त में सड़ते रहने के लिए अभिशप्त कोई राष्ट्र नहीं है। अपने भारत के राष्ट्र-जीवन में भी वैसे उतार-चढ़ाव कई बार आ चुके हैं। रावण के नेतृत्व में राक्षसों द्वारा आक्रांत भारत की दीन-हीन अत्याचारपीड़ित अवस्था का वर्णन मिलता है। धर्म उध्वस्त हुआ, नारियों का पावित्र्य असुरक्षित हुआ और वे नराधमों की कामुकता का शिकार बनीं। गृहस्थ जीवन उध्वस्त हुआ, राज्य नष्ट हुए, स्वातंत्र्य सूर्य अस्तंगत हुआ और चारों ओर भीति का वायुमंडल छा गया। सर्वत्र हाहाकार मच गया। जन-जन का हृदय निराशा से व्याप्त हो गया। इस गहन अंधकार में कहीं भी प्रकाश की किरण नहीं दिखाई देती थी। पूर्ण विनाश, धर्म-संस्कृतियुक्त अपने वैशिष्ट्य से उन्नत राष्ट्रजीवन का संपूर्ण विध्वंस अटल दिखता था। इसके घोर तिमिर को चीरकर अयोध्या में श्री रामचंद्र, उनके बंधु, श्री सीता माई और अन्यान्य सहकारी प्रकट हुए। आशा की, तेजस्विता की, स्वाभिमान की, धर्म से सुसंस्कृत जीवन की, पराक्रम की, अत्याचारी आततायियों पर विजयाकांक्षा की दीपशिखा की भाँति, अमानिशा का अंत करने सूर्यप्रभा की भाँति और

दुष्टों का विनाश होकर समग्र राष्ट्रजीवन फिर से धन-धान्य परिपूर्ण, धर्माचरण में अनुरक्त, निर्भय, निःशंक विजयोन्मुख बनकर खड़ा हुआ। युग-युग में कई बार ऐसे प्रसंग आए हुए हैं। ऐसा ही अवनति उन्नति का एक खेल, सर्व जगतीतल को चकित करनेवाला कुछ शताब्दियों के पूर्व सबको देखने के लिए मिला।

अधःपतन से घोर अंधकार

अरबस्थान में जन्म पाकर अखिल मानव जाति को अपने झंडे के नीचे लाने की महत्वाकांक्षा से प्रेरित इस्लाम मत तलवार के बल पर चारों ओर फैलने लगा था। साहसी-पराक्रमी कठोर अरबों का तूफान के समान आक्रमण सर्व दिशाओं में बढ़ा। पश्चिम में स्पेन तक पूरा यूरोप, अफ्रीका का उत्तरी प्रदेश, एशिया में ईरान, तुर्कस्थान, मंगोल आदि देखते-देखते उनके द्वारा जीत लिये गए। राज्य नष्ट हो गए, पुराने धर्म तथा धर्मस्थान उध्वस्त किए गए। अत्याचार, हत्या, बलात्कार, स्त्री-वित्तादि का अपहरण आदि पापों का ज्वार आ गया। हिमालय के उत्तर में चीन का पूर्वी महासागर के किनारे तक का हिस्सा उनके पदाघात के नीचे कराहने लगा और हिमालय की घाटियों को पारकर भारत में सिंध, गांधार, उपगणस्थान, पंचनद प्रदेश में उनके विध्वंसक क्रूर आक्रमण प्रारंभ हो गए। भारत में उस समय तक स्वत्व का विस्मरण, राष्ट्र-धर्म की उपेक्षा, संघ-जीवन के प्रति दुर्लक्ष्य, स्वार्थबुद्धि, तदुत्पन्न परस्पर कलह, परस्पर का द्वेष, विश्वासघात करने की अनीति से ऐहिक उत्कर्ष करने की दुर्भावना, स्व-पर विवेकभ्रष्टता आदि पराभव को निमंत्रण करनेवाले, स्वातंत्र्य को नष्ट कर पारतंत्र्य की श्रृंखला को बुलानेवाले भीषण दुर्गुणों ने समाजजीवन को उन्मार्गगामी, धर्मभ्रष्ट कर दिया। एक सुव्यवस्थित देशव्यापी सत्ता नहीं रही। छोटी-छोटी राजसत्ताएँ पनप रही थीं। आपस में लड़ाई-झगड़े करने के अतिरिक्त और कुछ सोचने की क्षमता ही मानो नष्ट हो चुकी थी। देश की सीमाओं पर इस्लाम के नाम पर अरब तथा धर्मांतरण से उनके साथी बने तुर्क आदि के अपनी तूफानी शक्तियों से आघात पर आघात हो रहे थे और उनको झेल कर देश-रक्षा करने का भार, केवल सीमास्थित पर्वतीय राजाओं पर पड़ा था। तब यह आक्रमण देश पर है, केवल उन राजाओं का वह प्रश्न नहीं है, पूरे समाज का, राष्ट्र का, उसके धर्म-संस्कृति, स्वतंत्रता, मान-सम्मान का है- इस सरल तथ्य की सूझ भी लुप्त हो चुकी थी। परिणामतः वे

आक्रामक देश में सफल होने लगे, आक्रांताओं के राज्य सिंध से बंगाल तक, हिमालय की घाटियों से सुदूर दक्षिण तक प्रस्थापित होने लगे। इन आक्रांताओं के साथ संपर्क होने पर तथा उनके सामने पराभूत होने पर जिस बर्बरता का अनुभव अन्यान्य देशों में हुआ था, उसकी अति कराल पुनरावृत्ति अपने पवित्र देश में हुई। संपूर्ण समाज पराभव के कारण धैर्य खो चुका था। जैसे-तैसे अपने जीवन वैशिष्ट्यों की रक्षा करने की कामना से जघन्य दासवृत्ति को अपनाकर, शत्रुओं की संतुष्टि के लिए कन्या, भगिनी तथा धन-रत्नादि उन्हें समर्पित कर, उसमें भी गौरव मानकर चलने के लिए बड़े-बड़े राजा-महाराजा, उपाधिभूषित समाजधुरीण भी प्रस्तुत हो रहे थे। बड़े-बड़े विद्वान, पंडित 'दिल्लीश्वरो वा जगदीश्वरो वा मनोरथान् पूरयितुं समर्थः' जैसी रचनाएँ करके आक्रामक परकीय सत्ताधीशों के सम्मुख लाचारी से लांगूलचालन करने में अपने आपको धन्य मानने लगे थे। उन शत्रुरूप शासकों की प्रसन्नता-प्राप्ति हेतु स्वकीयों का द्रोह, विश्वासघातादि करके उनके विनाश के प्रयत्न करने में स्वतः को कृतकृत्य मानने तक मानसिक, वैचारिक अधःपतन की गर्त में लोग पड़े थे या पड़ रहे थे। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि चारों ओर अधर्म, दास्य, अधःपतन से घोर अंधकार छा गया था। कहीं भी इस भीषण अवस्था से उबारनेवाली कोई प्रकाश की छोटी-मोटी किरण तक दिखती नहीं थी।

लाचार दास्य जीवन

संपूर्ण देश में निराशा छा गई थी। पराक्रमी कर्तृत्वसंपन्न पुरुषों को भी परकीय सत्ताधीशों की सेवा करने के अतिरिक्त कुछ सूझता नहीं था। प्रबल राजपूत राजा-महाराजा दिल्ली के आसन पर आरूढ़ शत्रुओं की नेकी से चाकरी करने की राजनिष्ठा को धर्म मानते थे। स्वतंत्र स्वकीय राज्य की कल्पना भी उन्हें असहनीय हो गई थी। अपने बाहुबल से तथा राजनीतिचातुर्य से गोलकुंडा, अहमदनगर, बीदर आदि राज्यों के आसनों को सुरक्षित रखनेवाले, बलशाली मुगल साम्राज्य को भी चुनौती देकर इनकी रक्षा करने में यश प्राप्त करनेवाले, बीजापुर के सरदार के नाते दिग्विजय करते हुए उस बादशाह के राज्य का सर्वद्रिक विस्तार करनेवाले, जिनके साहस, शौर्य, चातुर्यादि पर बीजापुर की सल्तनत का अस्तित्व निर्भर था, ऐसे छत्रपति शिवाजी महाराज के पिता श्री शाहजी, स्वतंत्र राज्य प्रस्थापित करने की इच्छा होते हुए भी उसे असंभव मानकर लाचारी का दास-जीवन चला रहे थे।

समाज में व्याप्त निराशा

ऐसी अवस्था में जब सर्वनाश अटल दीखता था, सब समाज अपने अस्तित्व को जैसे-तैसे बनाए रखने की चेष्टा करते हुए हीन-दीन, अपमानित, मरणासन्न जीवन चला रहा था। बड़े-बड़े साधु-महात्मा चिंताग्रस्त होकर आर्तस्वर से सज्जनों की, धर्म की, रक्षा करने के लिए समय-समय पर आविर्भूत होने का आश्वासन देनेवाले जगच्चालक, परमपिता परमात्मा की प्रार्थना कर, इस प्रलयंकर संकट से रक्षा करने के लिए उत्कटता से उसे पुकारने में एकाग्रचित्त होकर संलग्न हुए थे। हताश समाज को प्रोत्साहित करने के लिए राक्षसकुल-विध्वंसी असीम पराक्रमी सर्वगुणसंपन्न मर्यादा पुरुषोत्तम रामचंद्र जी के चरित्र का भावपूर्ण ओजस्वी भाषा में वर्णन करने, उस रामभक्ति के सहारे जन-जन को सुगठित स्वाभिमानी स्वातंत्र्याभिलाषी आत्मविश्वासी विजिगीषु बनाने के कर्तव्य में मनोयोग से संलग्न होने लगे थे। भगवान को अपनी हृदयव्यथा प्रकट करते हुए रावण के राक्षस राज्य के वर्णन के बहाने देश की तत्कालीन स्थिति का हृदय विदारक वर्णन उन्होंने किया है। उससे उस समय की भयावह असुरक्षित अवस्था का वाचकों को बोध हो सकता है। रावणादिक नामों के स्थान पर तत्कालीन शासकों के नाम रखने मात्र से उन आक्रांताओं के द्वारा किए जा रहे अत्याचारों की विभीषिका का चित्र स्पष्ट हो जाता है। उस परिस्थिति में मानव-मात्र की शक्ति से यश मिलना असंभव है। केवल भगवान ने अवतीर्ण होकर दुष्टों का दमन किया तो ही स्वातंत्र्ययुक्त धर्मराज्य प्रस्थापित होकर लोग सुखी हो सकेंगे, ऐसी इन साधुओं की धारणा बन चुकी थी। शासकों के अत्याचारों के आतंक का अनुमान इससे भी लग सकता है। समाज के अंतःकरण में व्याप्त निराशा का बोध होता है।

असंभव को संभव करना

ऐसी तिमिराच्छन्न अवस्था में जनसाधारण की आर्तभावना साकार होकर मानवरूप से प्रकट हुई। निराशा को दूर कर आत्मविश्वासयुक्त विजिगीषा मनुष्यदेह धारण कर व्यक्त हुई। स्वातंत्र्य की, धर्मभक्ति की, राष्ट्रभक्ति की ज्योति, मनुष्य रूप में अवतीर्ण हुई। बीजापुर के बलशाली सामंत शाहजी भोंसले के पुत्र के रूप में, भगवती शिवा की छत्रछाया में जन्म ग्रहण किए इस बालक का नाम 'शिवाजी' ही रखा गया। बाल्यकाल से ही उनकी तेजस्विता अनुभव में आने लगी। बीजापुर के बादशाह के

सम्मुख प्रथम बार पिताजी द्वारा उपस्थित करने के लिए जाते समय मार्ग में सब लोगों के समक्ष जनभावनाओं पर आघात हेतु गोमाता का वध करने के लिए प्रवृत्त कसाई की बाहु काटकर, अपनी निर्भीक धर्म-श्रद्धा को व्यक्त करने वाले, अपने धर्म व समाज का जो नहीं, वह हमारा बादशाह कैसा, यह सोचकर बादशाह को मानवंदना न देनेवाले उस अद्‌भुत बालक की धृष्टता ने शहर में एक तहलका मचा दिया। मन ही मन प्रसन्न हुए पिता ने बादशाह के क्रोध से इस बढ़ती हुई स्वातंत्र्य-दीपशिखा को सुरक्षित रखने हेतु, उससे रुष्ट होने का नाटक रचकर, उसे बीजापुर से दूर अपनी पुणे स्थित जागीर में उसके सब अधिकार देकर भेज दिया। अपनी असामान्य प्रतिभासंपन्न, स्वातंत्र्य की उपासिका कर्तृत्वशालिनी माता की छत्र-छाया में दादाजी कोंडदेव जैसे कुशल प्रशासक तथा धर्म संस्कृति संपन्न विद्वान की देखरेख में बालक बढ़ता रहा। सभी प्रकार के व्यवहार का ज्ञान, परिस्थिति का आकलन करते हुए दासता के वायुमंडल से क्षुब्ध, प्रभु रामचंद्र के तेजोमय जीवन से प्रेरणा प्राप्त इस बालक ने भगवान शंकर के समक्ष अपने कुछ साथियों के सहित परदास्य मुक्ति की प्रतिज्ञा कर, अपनी स्वतंत्र पृथक सत्ता प्रस्थापित करनी प्रारंभ की। धैर्य, शौर्य, कुशल सेनापतित्व, असामान्य चातुर्य, मनुष्यों की परख कर उन्हें अपने अविभाज्य सहयोगी बनाने की जन्मजात बुद्धि और साथ ही परम पुनीत चारित्र्यसंपन्नता, अटूट धर्मश्रद्धा, उदारता आदि श्रेष्ठ पुरुष के सद्‌गुण, अपने साथियों के सुख-दुःखों से सहानुभूति, मृदुता तथा कठोरता का विवेकपूर्ण व्यवहार, आत्मविश्वास, विजयप्राप्ति की निःशंकता, धर्मराज्य की स्थापना में ईश्वरीय आदेश की अनुभूति, अदम्य उत्साह, साथ ही विषम से विषम परिस्थिति में मन का संतुलन आदि अनेक गुणों का अनोखा सम्मिश्रण उनके व्यक्तित्व में अभिव्यक्त होने के कारण, वे अल्पावधि में ही जनसाधारण के लिए आराध्य बन गए। सज्जनों के रक्षक, दुष्ट-दुराचारियों के कठोर काल के रूप में उन्हें देखने लगे। ईश्वरीय अवतार के सर्वगुण उनमें देखने के कारण ही आगे चलकर उन्हें प्रत्यक्ष भगवान शंकर का अवतार मानने लगे।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा ।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोंऽश संभवम् ।।

(गीता १०/४१)

के अनुसार इस महामानव को लोगों ने भगवान का अंशावतार मानकर अपने हृदयसिंहासन पर विराजमान किया। निराशा के अंधकार से उबारकर

स्वातंत्र्यसूर्य का दर्शन करानेवाले अतुलित साहसी श्री शिवाजी ने मानो असंभव को संभव कर दिखाया। निष्प्राण जाति में नवजीवन फूँककर उसके अवरुद्ध पौरुष-प्रवाह को बहाया। इसी से जगत् को वह आश्चर्य देखने के लिए मिला कि उनकी मृत्यु के पश्चात् उनके पुत्र संभाजी का औरंगजेब के द्वारा वध होने पर तथा द्वितीय पुत्र को जिंजी के किले में घेरा डालकर बंद कर देने व संभाजी की पत्नी और पुत्र को बंदी बना लेने के उपरांत निर्णायक अवस्था में भी स्वराज्य का समूल विनाश करने हेतु भारी सेना शस्त्र संभार आदि से युक्त होकर, स्वयं औरंगजेब के कुशल संचालन में जो भयानक आक्रमण हुआ, उससे ऐसा भीषण संग्राम किया कि औरंगजेब परास्त, निराश होकर दक्षिण (महाराष्ट्र) में ही मृत्यु को प्राप्त हुआ। स्वराज्य सुरक्षित रह सका, बंदी युवराज लौटकर छत्रपति के सिंहासन को विभूषित कर सके और अल्पकाल में ही दक्षिण-उत्तर स्वराज्य की सीमाएँ बढ़ती चली गईं।

श्री समर्थ को गुरु स्वीकारना

श्री शिवाजी के कर्तृत्व से श्री समर्थ रामदास स्वामी का संबंध बहुत देरी से आया हुआ प्रतीत होता है। अफजल खान के प्रसंग से इंग्लैंड आदि यूरोपीय देशों तक को घोर आश्चर्य हुआ और एक नई विजयोन्मेषयुक्त शक्ति का उदय हो चुका है, इसका सबको प्रत्यय आ गया। उसके पश्चात् ही श्रीसमर्थ ने स्वयं श्री शिवाजी से मिलने की इच्छा व्यक्त की और देश के इन दो प्रबल स्रोतों का मिलन हुआ। इसके पूर्व श्री रामदास स्वामी के धर्मजागरण का तथा मठों के संगठन का कार्य प्रसृत हो रहा था। बहुत कुछ हुआ भी था, परंतु नवजागरण के ये दो प्रवाह स्वतंत्र रूप से बढ़ रहे थे। प्रत्यक्ष व्यवहार में राजनैतिक स्वातंत्र्य-प्राप्ति हेतु श्री शिवाजी के सफल प्रयास और श्रीसमर्थ के द्वारा धर्मजागरण से आत्मग्लानि मिटाकर साहसी समाज-निर्माण, इन दोनों की युति होने के पश्चात् ही श्री शिवाजी का राज्याभिषेक होकर, वे छत्रपति के रूप में संपूर्ण देश के श्रद्धाभाजन बने – ऐसा कहा जा सकता है; तथापि श्री शिवाजी का व्यक्तित्व, उनका कर्तृत्व, उनकी असामान्यता स्वयंभू थी। श्री समर्थ का कर्तृत्व तथा आध्यात्मिक अधिकार उनका अपना ही स्वतंत्र श्रेष्ठत्व रखता था। इसी कारण श्री शिवाजी ने उन्हें अपने गुरु के रूप में पाया, स्वीकार किया और अपनी श्रद्धा उनके चरणों में अर्पित कर दी।

शिवाजी का अनुकरणीय चरित्र

श्री समर्थ जैसे अध्यात्मसंपन्न साक्षात्कारी निरपेक्ष पुरुष को भी जिसकी स्तुति करने की इच्छा हुई, शिवाजी के रूप का स्मरण करो, उनके प्रताप का, उद्यम का, नीति-चातुर्य का, पवित्र गुणों का, सब चाल-चलन का स्मरण करो, ऐसा उपदेश करने की प्रेरणा हुई; उन छत्रपति श्री शिवाजी की महत्ता का कौन वर्णन कर सकता है? प्रत्यक्ष गुरु ही जिसकी स्तुति करते नहीं अघाते, उसी का चरित, उसके विभिन्न पहलू अनुकरणीय हैं, प्रेरक हैं, महाकवियों की प्रतिभा का सुयोग्य विषय हैं। उसी कारण उनके समकालीन महाकवि परमानंद ने देववाणी में उनका चरित गाया। महाकवि भूषण ने उन्हीं के चरित्र के प्रसंगों से अपने काव्य को मंडित करने में अपने आपको धन्य माना।

आज भी धर्मश्रद्धा की ग्लानि चरम सीमा पर पहुँच रही है। गोमाता कराह रही है। धर्म ग्लानि के साथ ही मातृभूमि की श्रद्धा ढीली पड़ गई है। समाज का जीवन स्वत्व के विस्मरण से अस्तव्यस्त हुआ है। आपसी ईर्ष्या, द्वेष, मत्सर, असूया, कलह आदि का ज्वार आया है और देश की सीमाओं पर प्रबल शत्रु आक्रमण के लिए अनुकूल क्षण की प्रतीक्षा में सन्नद्ध होकर खड़े हैं। स्व-परविवेकभ्रष्टता से बुद्धिमान कहलानेवालों की भी बुद्धि मारी गई है। विश्वासघात, देश-द्रोह करनेवाले उजले माथे से संचारकर, जनसाधारण को पथभ्रष्ट करने में संलग्न हैं। व्यक्ति के नाते बड़े उच्चपदस्थ भी शुद्ध चारित्र्य को जीवन में उपेक्षित या हेय समझकर सूक्तासूक्त किसी भी मार्ग से धनप्रतिष्ठा, पद प्राप्त करने में, टिकाए रखने में लोलुप बनकर जुटे हुए हैं। एक प्रकार से शत्रुओं के लिए प्रतीक्षित, अनुकूल समय को बना रहे हैं, निकट ला रहे हैं। ऐसी स्थिति में आदर्श चारित्र्यसंपन्न, धर्मभक्त, साहसी, नीति-चातुर्य की मूर्ति, संगठन कुशल जनजेता, शत्रुंजय, स्वराज्य संथापक श्री छत्रपति शिवाजी का स्मरण करना अतीव उपकारक होगा।

अनुसरण करने की प्रेरणा

महाकवि श्री श्यामनारायण पांडेय जी ने प्रस्तुत ''छत्रपति शिवाजी'' महाकाव्य निर्माण कर अपने राष्ट्र के सम्मुख उनके अनुकरणीय आदर्श को रखने का प्रयास करके बड़ा उपकार किया है। यह महाकाव्य कवि की उत्कट शिवभक्ति का अनुभव कराते हुए, वाचकों के हृदय में श्री शिवाजी

के गुण समुच्चय का अनुसरण करने की प्रेरणा दे सकेगा, ऐसा मुझे विश्वास है।

ऐसा समयानुकूल, किंतु चिरकालीन प्रेरणा के स्रोत के रूप में महाकाव्य निर्माण कर पं. श्यामनारायण पांडेय जी ने देशवासियों पर बहुत उपकार किया है। मुझे आशा है कि अपने बाल-तरुण बंधु इसका पाठ कर सत्संस्कार संपन्न होकर भारतमाता के शोभनीय सुपुत्र, माता की आस पूर्ण करनेवाले सच्चे मातृभक्त बनकर खड़े होंगे और आज का कलुषित वायुमंडल बदलकर तेजस्वी विजयशाली राष्ट्र के रूप में अपने इस प्राचीन सनातन समाज को जगत् के सामने उन्नत मस्तक उपस्थित करने में अपने जीवन-सर्वस्व को न्योछावर करने के लिए अहम भूमिका से आगे-आगे बढ़ेंगे।

१३. शब्दब्रह्म- एक वैज्ञानिक चुनौती

(गोवर्धन पीठ के श्रीमज्जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीमत् योगेश्वरानंद तीर्थ द्वारा लिखी गई पुस्तक 'मंत्रशास्त्र' के लिए गुरुपूर्णिमा शके १८९२, जुलाई १९७० में लिखी गई प्रस्तावना)

वेद, जो विश्व का सबसे विख्यात प्राचीन वाङ्मय और ज्ञानभंडार है तथा अपनी हिंदू जीवन-प्रणाली, तत्त्वज्ञान तथा अध्यात्मशास्त्र का गौरवशाली मूलस्रोत है, श्रेष्ठतम मंत्र समुच्चय है। उन मंत्रों के उच्चारण नियमों से बद्ध है, अतएव प्राचीनकाल से यह अनुभव किया गया कि उनके गायन से विशिष्ट ध्वनि-तरंगें पैदा होकर उनसे वायुमंडल भर जाता है तथा उन तरंगों के आघात से भिन्न-भिन्न परिणाम निकलते हैं। क्रांतदर्शी महापुरुषों ने इस अनुभव के आधार पर आगे चलकर भिन्न-भिन्न अभीष्ट परिणाम कर सकनेवाले अनेक संस्कृत तथा प्राकृत मंत्रों का अविष्कार किया। संबंधित महात्माओं के तपःसामर्थ्य से प्रभावसंपन्न हुए ये मंत्ररूप शब्द समुच्चय कई बार अर्थशून्य लगते हैं, परंतु उनकी शक्ति उनके अर्थ में नहीं, अपितु उनसे पैदा होनेवाली ध्वनि-तरंगों में होने से वे शब्दसमुच्चय परिणामकारी होने का अनुभव होता है। इसलिए मानवी जीवन के दुःखों की निवृत्ति, सुख-प्राप्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति-साधन के लिए अपने पूर्वजों ने मंत्रों का प्रयोग करने की व्यवस्था बतलाई, मंत्रों को यंत्ररूप में प्रत्यक्ष कर उनकी उपासना करने का विस्तृत तथा संपूर्ण तंत्र भी प्रकट किया,

उसका शास्त्र भी निर्माण किया।

यह शास्त्र साधारण भौतिक विज्ञान को अनाकलनीय है। स्वरोदयादि शास्त्र भी इसी प्रकार के हैं। इसलिए आधुनिक विज्ञान के चमत्कारपूर्ण अनुसंधानों के कारण वही केवल सत्य, उसके अतिरिक्त सब असत्य– ऐसा माननेवाले तथा स्वयं को बुद्धिवादी कहकर श्रद्धावान बने हुए तथा उस शास्त्र पर विश्वास रखनेवालों को अंधश्रद्धालु कहकर लज्जित करनेवाले वर्तमान विद्वानों की प्रवृत्ति, उनका तिरस्कार करने की ओर दिखाई देती है, परंतु आज जो अनाकलनीय या असंभव सा लगता है वह कालांतर से सत्य सिद्ध हुआ प्रतीत हो सकता है, यह बात विज्ञान की प्रगति से ही सिद्ध हो चुकी है। दूरभाष, दूरदर्शन, अणुविभाजन, चंद्रादि ग्रहों की यात्रा आदि आश्चर्यचकित करने वाले आविष्कार विगत शताब्दी में केवल परीकथाएँ लगती थीं, परंतु आज वे सत्य सिद्ध हुई हैं। सौ वर्ष पूर्व उन विचारों का यदि किसी ने तिरस्कार किया हो, तो वह भूल थी– यह स्पष्ट हो चुका है। प्रत्यक्ष प्रयोग करके देखना, प्रथम प्रयास में असफल हुआ तो निरंतर अधिकाधिक निर्दोष प्रयोग कर सफलता-प्राप्ति तक प्रयत्नों को न छोड़ना, यह सच्ची विज्ञानवादी दृष्टि है। इसलिए यह उचित होगा कि आधुनिक विज्ञान ही अंतिम सत्य है, ऐसी अंधश्रद्धा के अधीन न होकर, अपने शास्त्रों का प्रत्यक्ष प्रायोगिक अनुभव लेकर उसकी सत्यता की परख करनी चाहिए।

विज्ञान की दृष्टि से विगत अनेक वर्षों से मंत्रोपासना की उपेक्षा होने के कारण मंत्र कौन से हैं? उनका विनियोग किसलिए है? उनके मंत्र-तंत्र क्या हैं? उनके लिए पूर्व-सिद्धता किस प्रकार की है? आदि सारा ज्ञान जो इधर-उधर बिखरा पड़ा हुआ है, एकत्र समेटकर उसे उचित प्रबंध से रखने का काम नहीं हुआ, ऐसा कहना पड़ता है। इसके कारण इस शास्त्र की ओर एक दुर्बोध, दुर्गम, अज्ञेय रहस्य की दृष्टि से देखने की प्रवृत्ति बढ़ गई। प्रबंध रूप में शास्त्र की रचना न होने से झूठे, फुसलानेवाले, भोले लोगों की सादगी का लाभ उठानेवाले, लुच्चे, ढोंगी, मांत्रिक बन बैठे और उनके खोटेपन तथा स्वार्थपरता के कारण शास्त्र के विषय में अश्रद्धा मात्र बढ़ गई। यह अश्रद्धा दूर हो तथा अपना मूल्यवान मंत्रशास्त्र शुद्ध रूप में सबके सम्मुख रखा जाए तथा प्रत्यक्ष प्रयोग से उसकी सत्यता सिद्ध करने तथा उसके द्वारा समाज का कल्याण करने की सुविधा हो, इस दृष्टि से जगन्नाथपुरी के गोवर्धन पीठ के श्रीमज्जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीमत् स्वामी योगेश्वरानंद तीर्थ ने देश भर में भ्रमण कर मंत्रों को संग्रहीत किया।

असंख्य ग्रंथों का परिशीलन कर उस विषय का सब पहलुओं से ज्ञान-संपादन किया। स्वयं मंत्रों का प्रयोग कर उनकी सत्यता के विषय में स्वयं आश्वस्त होकर तथा अपने परिपक्व ज्ञान तथा अनुभवों के आधार पर 'मंत्रशास्त्र' नामक ग्रंथ का निर्माण किया। इस ग्रंथ में वेदों से प्रचलित गारूड, शाबर, डामर तथा अन्यान्य महात्माओं के पुण्य के प्रभाव से युक्त अनेक मंत्रों का संग्रह उन्होंने किया है। भिन्न-भिन्न संप्रदायों में भी मान्यताप्राप्त अनुभूत मंत्रों का अल्प मात्रा में इसमें संग्रह किया गया है। मंत्र सिद्ध कर अपेक्षित और ईप्सित फल-प्राप्त्यर्थ किए जानेवाले अनुष्ठानादिकों का विस्तार से ऊहापोह करना आगे लाभदायी होगा। उसी प्रकार ध्वनि-तरंगों के परिणामों का आधुनिक विज्ञान की परिभाषा में अधिक विस्तार से वर्णन तथा मंत्रों की वैज्ञानिकता, मंत्रों की रचना की शास्त्रीयता का स्पष्टीकरण करना भी मूल्यवान तथा अश्रद्धालुओं को श्रद्धालुओं की चुनौती साबित होगा।

स्वधर्म, संस्कृति, अपना ज्ञान-विज्ञान इनके संबंध में सार्थ अभिमान जागृत कर उनके रक्षणार्थ, संवर्धनार्थ प्रत्यक्ष कृति करने का निश्चय जगाए, ऐसी मेरी सब बंधुओं से आग्रहपूर्वक विनती है।

१४. श्री श्रीसारदा माता

(श्री नानासाहेब फणसलकर जी द्वारा लिखित श्री श्रीसारदा माता चरित्र हेतु लिखी प्रस्तावना)

'राम का गुणगान करिए' यह उपदेश प्राचीनकाल से चला आ रहा है। भगवान के लीलामय जीवन का जो कीर्तनों में बखान करते हैं, वे श्रेष्ठतम महात्मा हैं, ऐसा श्रीमत् भागवत में कहा गया है। इस उपदेश के अनुसार, प्राचीनकाल से श्रेष्ठ भगवद्भक्त, कवि, लेखक आदि महानुभावों ने परमेश्वर के सगुणावतार की कथाएँ बड़ी रसीली पद्धति से बताई हैं, गाई हैं एवं उस माध्यम से जनसामान्य तथा स्वयं के जीवन को भी सार्थक करने का प्रयत्न किया है।

आसुरी प्रवृत्ति की वृद्धि

आधुनिक समय में जनजीवन उलझ गया है। आर्थिक, राजनैतिक विचारों की विविधता से जनमानस संभ्रमित है। आंतरिक कलहों के कारण समाज टूटता दिख रहा है, अर्थात् समाज धारणा करनेवाले धर्म का ह्रास

हो गया है। नीति तजकर अनीति ही समर्थनीय हो, इस प्रकार के विघटनकारी विचारों का अधिकाधिक समर्थन हो रहा है। विज्ञान की चमत्कारी सफलता से मनुष्य का स्वयं की बुद्धि व कर्तृत्व पर दुर्दम्य अभिमान जाग उठा है। अभिमान को कभी समाप्त न होनेवाली लालसा का साथ मिला, तो मनुष्य स्वार्थवश किसी भी अनिष्ट कार्य को करने में नहीं हिचकता। व्यक्तिशः या सामूहिक रूप से भी स्वार्थसिद्धि हेतु भीषण विनाशकारी काम करने में जुट जाता है। धर्म की बाधा दुबली होने से नीति-अनीति का विचार ही मन से दूर होने के कारण मनुष्य का ज्ञान कर्तृत्व सारा 'क्षयाय जगतोऽहिताः', इस प्रकार आसुरी प्रवृत्ति का हुआ हमें दिखता है।

भक्ति एवं शक्ति से युक्त चरित्र

अपने देश व समाज में स्वाभिमानशून्यता, स्वत्वहीनता, परप्रत्यय-नेयता, धर्मग्लानि कटी-फटी समाजव्यवस्था, पंथों-संप्रदायों के दुराभिमान इत्यादि का निराकरण कर मानव-समाज को सद्धर्म की सोदाहरण शिक्षा देनेवाले, भगवदावतार के प्रगट होने के लिए सानुकूल स्थिति मानी जा सकती है। ये अवतार-रहस्य के नियमों के अनुकूल ही है। इस धर्मह्रास को रोककर, अधर्म की प्रबलता नष्टकर, मनुष्य को सद्धर्म का साक्षात्कार कराने के आधार पर, अखिल मानव एकसूत्र में पिरोने हेतु सन्मार्ग दर्शन, विज्ञान का ज्ञान, भक्ति, योग से समन्वय साधकर, सनातन धर्म एवं आधुनिक विकास के बीच सामंजस्य प्रस्थापित करनेवाला, श्रेष्ठतम भगवदावतार भगवान श्री रामकृष्ण के रूप में अपनी इस पुण्यमयी मातृभूमि भारत में प्रगट हुए उनके जीवन के लीला प्रसंग सबको ज्ञात हैं। उनके जीवन का, जागतिक एकात्मभाव, जीव-जगत-ईश्वर – तीनों का तादात्म्य, ज्ञान-विज्ञान का समन्वय, नए-पुराने का योग एवं मानव को उसके स्वाभाविक वास्तविक रूप 'ईश्वरत्व' की ओर अग्रसर करने की शक्ति इत्यादि अनेक पहलुओं का दर्शन 'श्री रामकृष्ण मिशन' नाम से धर्म प्रतिष्ठापना में संलग्न संस्था में प्रतिक्षण होता हैं। इस अवतारश्रेष्ट की शक्ति उन्हीं की लीलाओं में सहचरी, उनके असंख्य अनुग्रहीत भक्तों की माता, संपूर्ण मानवों के लिए चरम सीमा तक सहानुभूति रखनेवाली एवं उनके पारलौकिक सुखों के लिए रत दिव्य आध्यात्मिक शक्ति के रूप में भगवान श्री रामकृष्ण के जीवन में तथा उनके इहलोक की लीलाएँ समाप्त करने के पश्चात् उनके अवतार-कार्य को पूरा करने में जगद्वंद्य श्री श्रीमाताजी का सभी से परिचय है ही। श्री

श्रीमाताजी का इहलोक चरित्र बिलकुल सादा एवं चमत्कृतिशून्य है, ऐसा यद्यपि लगता है, तथापि उनके जीवन से कितने शक्तिस्रोत उत्पन्न होकर सारे विश्व को पुनीत आप्लावित करते हैं, इसका अनेक लोगों को अनुभव है। उनकी हर सादी-सी दिखनेवाली घरेलू कृति भी अर्थपूर्ण रहा करती थी। उनके सान्निध्य में सबको वह कितनी हृदयस्पर्शी एवं मार्गदर्शन करनेवाली थी, उसका अनुभव आया है। अनेकों अनुभव कर रहे हैं तथा भविष्य में भी अनुभव करते रहेंगे। ऐसे इस धीर गंभीर, सारगर्भित, मधुर, शुद्ध, पवित्र, ज्ञानयोग, भक्ति-शक्ति युक्त चरित्र का वर्णन करना, सुनना, गाना, महद्भाग्य का लक्षण है तथा पूर्व पुण्य व श्रद्धायुक्त चिंतन की देन है।

श्री नानासाहेब फणसलकर जी ने सादे मधुर छंदों में कविताबद्ध कर यह चरित्र मुखोद्गत करने, पठन-गायन करने हेतु उपलब्ध करा दिया है। मैंने वह संपूर्ण एक बैठक मे ही पढ़ लिया, क्योंकि वह अधूरा छोड़ने की इच्छा ही नहीं होती थी। मन उसमें लीन हो गया। श्री श्रीमाताजी के जीवन की पुनीत विशेषताएँ एवं उनके उपदेश जो शब्दों द्वारा प्रगट हुए, प्रत्यक्ष अनुभूत हुए, वे सारे पाठकों के लिए उपलब्ध हों। उन्हें इस अनुभूति का लाभ होगा, ऐसा विश्वास है।

काव्यमय अर्चना

श्री नानासाहेब फणसलकर जी ने भगवान श्री रामकृष्ण जी के दिव्य जीवन का पहले भी गान किया है। अब श्री श्रीमाताजी के चरित्र गान से अपने काव्यरूप अर्चना को पूर्णत्व दिया है। शिव को शक्ति का साथ तो है ही। आदिमाया महाशक्ति के बिना शिव, यह शव रूप निश्चल, निर्विकार, निराकार स्वरूप, साधारण मानव की समझ के परे है। उसे रूप देकर मानव-कल्याण का अनुग्रह करने की, मानव जीवन का अंतिम लक्ष्य 'मोक्ष' प्राप्त करा देने की योग्यता शक्ति के सहचर्य से ही प्रकट होती है। इसीलिए शक्ति का, जगन्माता का महत्त्व असामान्य है। उस महाशक्ति ने शिव के मानवदेह-धारणा के साथ-साथ, स्वयं को भी उन्हीं की नित्य लीला सहचरी समझकर मानवरूप अवतरित हो, साधारण भोले-भाले भक्त-जनों को शिवज्ञान सुलभ कर दिया। उनका पुण्य कीर्तन किए बिना भगवद्कीर्तन अधूरा रहता, ऐसा लगता है। इस कविताबद्ध चरित्रगायन द्वारा श्री नानासाहेब ने उसे पूर्णत्व प्राप्त कराया है। युगावतार सर्वधर्म स्वरूप भगवान श्री रामकृष्ण एवं श्री श्रीमाताजी का सरल मराठी गेय रूपांतर

पाठक में शुद्धभक्ति जागृतकर जनसाधारण हेतु बड़ा उपकारक सिद्ध होगा, इसमें जरा भी संदेह नहीं है।

श्री नानासाहेब फणसलकर ने जब भगवान श्री रामकृष्ण का चरित्र लिखा था, तब उसकी भूमिकालेखक के रूप में स्व.श्री बाळशास्त्री हरदास जैसा प्रकांड विद्वान उन्हें मिला था। अब श्री श्रीमाताजी के चरित्र के लिए उस श्रेणी का भूमिकालेखक कहाँ उपलब्ध होता? इसलिए उन्होंने अमृतपिपासा पानी से ही बुझाने हेतु मुझे यह कार्य सौंपा। साथ ही श्री श्रीमाताजी के पुण्यस्मरण का यह अवसर मिलने से मैंने भी पात्रता न रहते हुए भी उसे स्वीकार किया तथा इन्हीं कुछ शब्दों को पूजा भाव से अर्पित किया है–

जननीं सारदादेवीं–रामकृष्णजगद्गुरुं ।
पादपद्म तयोऽश्रित्वा प्रणमामि मुहुर्महुः ।।

इस बुद्धि से मात्र यह साहस किया है। उदार पाठक इस उद्दंडता के लिए क्षमा करें। ऐसी प्रार्थना करते हुए श्री नानासाहेब के सफल जीवन की कामना के साथ यह 'चरित्र' उन्हें सौंपता हूँ।

१५. आसन और आरोग्य

(श्री सदाशिवराव पंचवटीकर के ग्रंथ पर अभिप्राय)

इसमें अत्यंत सरल भाषा में योगासनों की कृतियों का वर्णन किया गया है। नौसिखिए व्यक्ति ग्रंथ पढ़कर बिना किसी की सहायता के स्वयं योगासनों का अभ्यास कर सकते हैं। ग्रंथ में उपयुक्त आसनों का चुनाव करने के विषय में उत्तम मार्गदर्शन मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी आवश्यकता के अनुसार आसन चुन सकता है। यदि स्वास्थ्य-रक्षा तथा रोग-प्रतिकार करने के लिए योगासनों के अभ्यास की ओर लोगों ने ध्यान दिया तो सर्वसाधारण जनता के स्वास्थ्य में सुधार होकर उनका औषधियों पर होनेवाला व्यय कम होगा तथा सब दृष्टि से उनका कल्याण होगा। आसनादि से रोग कैसे दूर होते हैं तथा स्वास्थ्य-रक्षा कैसे होती है, इसकी चर्चा शरीरशास्त्र के आधार पर वैज्ञानिक ढंग से की गई है। इसलिए आधुनिक युग के बुद्धिजीवियों के मन में इन योग-व्यायामों के प्रति असंदिग्ध विश्वास निर्माण हो सकेगा। परिशिष्ट (१) में चक्रासन, गोमुखासन

का केवल उल्लेख मात्र है। उनका विस्तारपूर्वक वर्णन होना आवश्यक था। आसनों के क्रम में उनका विस्तार से वर्णन होता तो उत्तम था।

मुझे विश्वास है कि यह ग्रंथ अत्यंत उपयोगी सिद्ध होगा। लेखक महोदय केवल ग्रांथिक ज्ञान पर ही निर्भर नहीं रहे हैं। उन्होंने प्रथम कृति, पश्चात् उक्ति, इस विशुद्ध व्यावहारिक न्याय के अनुसार स्वयं योगासनों का अभ्यास कर, प्राचीन ऋषियों द्वारा पुरस्कृत तथा मानवमात्र का कल्याण करने वाले उक्त शास्त्र का प्रतिपादन स्वतः के अनुभवों तथा प्रचीति के आधार पर किया है। फलस्वरूप ग्रंथ अत्यंत उपयोगी हुआ है। लेखक महोदय ने श्रीमान् जनार्दन स्वामी द्वारा संचालित योगाभ्यासी मंडल की उसके मंत्री के नाते जो उपासना की, उसका यह विशुद्ध फल है। मैं परमदयालु योगेश्वर भगवान के चरणों में प्रार्थना करता हूँ कि प्रस्तुत ग्रंथ-फल का सेवन कर सभी लोग शरीर से सुदृढ़, अंतःकरण से शुद्ध, चिरंजीवी, उत्साह-समन्वित तथा कर्तृत्ववान् बनें।

इन दिनों संस्कृति के नवतारुण्य को प्रायः 'पुनरुज्जीवनवाद' और 'प्रतिक्रियात्मक' होने की उपाधि दी जाती है। प्राचीन पूर्वाग्रहों, मूढ़ विश्वासों अथवा समाज विरोधी रीतियों का पुनरुज्जीवन 'प्रतिक्रियात्मक' कहा जा सकता है, कारण कि इसका परिणाम समाज का पाषाणीकरण (फॉसिलाइजेशन) हो सकता है। किंतु शाश्वत एवं उत्कर्षहारी जीवन-मूल्यों के नवतारुण्य को 'प्रतिक्रियात्मक' नाम दे देना बौद्धिक दिवालियापन प्रकट करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

— श्रीगुरुजी

आत्मकथन

इस भाग में श्री गुरुजी के वे पत्र हैं, जो उन्होंने अपने छात्रजीवन में लिखे हैं तथा बाद के काल में अपने बारे में लिखे हैं। ऐसे ही सारगाछी में स्वामी अखंडानंदजी के सान्निध्य में वास्तव्य के समय की दैनंदिनी के कुछ उपलब्ध अंश भी हैं।

छात्रकालीन पत्र

श्री गुरुजी प्राणी विज्ञान में स्नातकोत्तर की उपाधि प्राप्त करने के पश्चात् मत्स्य विज्ञान में शोध-कार्य के लिए चेन्नै में थे। उस अवधि में अपने मन में चल रहे उहापोह को उन्होंने पत्रों द्वारा अपने मित्र श्री बाबूराव तेलंग व श्री वामनराव के समक्ष प्रकट किया था।

हालाँकि ये पत्र एक तरुण विद्यार्थी द्वारा अपने मित्रों को लिखे गए हैं, लेकिन उनमें सामान्य सुख-दुःख के समाचार के साथ ही राष्ट्र, देश और समाज के संबंध में उस समय उनके मन में क्या विचार उठा करते थे, इसका वर्णन किया गया है। इन पत्रों से जीवन के प्रति देखने के उनके दृष्टिकोण को भी सहज जाना जा सकता है।

इन पत्रों को पढ़ते समय यह बात ध्यान में

रखने की है कि उस समय तक उनका संबंध न तो राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ से आया था और न ही संघ-संस्थापक डाक्टर हेडगेवार जी से। वैसे ही ये प्रदीर्घ पत्र एक दिन में लिखकर पूर्ण नहीं हुए हैं। कई-कई दिनों में लिखकर पूर्ण हुए हैं, इसलिए एक ही पत्र में अलग-अलग दिनांक भी हैं।

पत्र क्रमांक - १

(श्री बाबूराव तेलंग को लिखे पत्र का उपलब्ध भाग। इसलिए पत्र का दिनांक व प्रारंभिक हिस्सा नहीं है।)

.......किंतु सहजता से विकारों के अधीन होने की मनोवृत्ति मुझमें न होने के कारण कुछ समय बाद क्षुब्ध चित्तवृत्ति शांत होकर विचार करने लगा– यहाँ क्या और कैसे करें? पराया प्रांत, मुझे यहाँ की जानकारी नहीं। किसी की सहायता भी ली तो वह केवल जानकारी और सहानुभूति तक ही सीमित रहेगी। यहाँ के राजनैतिक लोगों से मेरे मधुर संबंध भी नहीं हैं। मेरी वृत्ति स्वंतत्र, क्रोधी पिता के उतने ही कोपी पुत्र की है। मेरी नस-नस से शुद्ध खून बहता है। ऐसी स्थिति में कुछ दिन बीतने के बाद लाहौर-विस्फोट (सांडर्स वध –सं.) की जानकारी मिली। 'धन्य-धन्य' ऐसे शब्द त्रिवार मुँह से निकले। अंशतः क्यों न हो, बदला लिया गया– इसका संतोष हुआ। इस परिस्थिति में यदि मैं रहता तो ऐसा ही गोपनीय कृत्य करता।

मैंने आपसे हजार बार विश्वबंधुत्व, समता, शांति आदि गंभीर विषयों पर बहस की। मारकाट, दंगा, प्रतिशोध और द्वेष इन सबके, खिलाफ जोर से झगड़ा किया। आपको दोष भी दिया। वहीं मैं यह लिख रहा हूँ, इसका संभवतः आपको आश्चर्य होगा, आप मुझे छद्मी भी कहेंगे, संभवतः 'यह देखो विश्वबंधुत्व का उग्ररूप' कहकर मुझसे नफरत भी करेंगे, किंतु संभवतः काशी में मैं जब आपसे मिला, तब एक शाम को एक ब्लाक में देशपांडे के (राजूरकर, याने M.S.P.) कमरे में अपना हृदय आपके सामने खोलकर बताया था। मुझको अस्वस्थ करनेवाली अपने हृदय की भयंकर खलबली आपको आंशिक रूप से बताई थी। पराए के सामने अपना दुखड़ा बताने में शर्म आती है, किंतु आपके सामने काहे का

संकोच? क्योंकि आपको मेरे संबंध में कितनी आत्मीयता है, यह मैं नहीं जानता, किंतु आपसे बोलते व पत्र लिखते समय मेरे मन में किंचित भी पराया भाव नहीं रहता। स्वयं को जितनी स्पष्टता से बताऊँगा, उतनी ही स्पष्टता से आपको बता रहा हूँ। इसे आप मूर्खता कहिए या कुछ और। मेरा यह प्रेम-विश्वास वापस करें या तिरस्कृत कर मेरी ओर देखना टालें, किंतु बिल्कुल बाल्यकाल से मुझपर हुए ये संस्कार अंत तक नहीं जा सकते। इसीलिए बताता हूँ कि एक ओर प्रतिरोध तथा तरुणाई की शक्तिशाली लहर और दूसरी और वेदांत का अचल पहाड़, इनमें इतनी घमासान लड़ाई चल रही थी कि मन दोलायमान हुआ। मन ठिकाने नहीं था, ऐसी स्थिति में बहुत दिन बीत गए। उसके कारण बुखार भी आया, सिर फटने लगा। बहुत वेदांत बोलता था, किंतु स्वास्थ्य में सुधार नहीं आया। उन दिनों मन बहलाने के लिए सिगरेट पीने लगा। उससे खाँसी हुई, दुबला भी हुआ, आँखें भारी हो गईं, काला रंग चेहरे पर छा गया। इतना कि मुझे रोजाना देखनेवाला मत्स्यालय का पर्यवेक्षक जबरदस्ती डाक्टर के पास ले गया। पहले नागपुर में बुखार और खाँसी सहनेवाले इस जीर्ण शरीर से यह नया बुखार सहा नहीं जाता था। डाक्टर ने कहा यदि ठीक सावधानी नहीं बरती तो मामला टी.बी. पर जा सकता है। इस जानकारी से सटपटाया तो नहीं, किंतु प्रतिरोधक उपाय के नाते injection लेना प्रारंभ किया। नित्यप्रातः राम-नाम लेकर एक अंडा खाने लगा। छः injections लग चुके हैं, बारह अभी लेने हैं। व्यायाम बंद है। अभी काफी सुधार आया है। मन भी ठीक है, क्योंकि अब दिशा निश्चित की है। इन डरपोक लोगों में राष्ट्रीय चैतन्य निर्माण करने का, हिंदू-मुसलमानों के आपसी संबंधों को बताने का और ब्राह्मण-ब्राह्मणेतरवाद समाप्त करने का निश्चय किया है। मैं, याने बहुत बड़ा नेता या कार्यकर्ता हूँ– ऐसी बात नहीं, किंतु प्रत्येक को अपना योगदान करना चाहिए। प्रत्येक ने दस-पाँच लोग भी राष्ट्रीय झंडे के नीचे लाए, तब भी काफी है।

किंतु यह स्थिति पाने के लिए करीब दो माह का समय लगा, वह भी एक छोटे से कारण से। वह समय ऐसा था कि शरीर तो स्वस्थ था, किंतु मन में परस्पर विरोधी विचारों और विकारों का रणक्षेत्र बन रहा था। ऐसे समय में एक ही बात आवश्यक है, वह, याने स्नेह का स्पर्श और सांत्वना भरे शब्द। वह कैसे प्राप्त होगा? उसके लिए ऐसा व्यक्ति चाहिए, जिसने मेरी मनोवृत्ति जानी है और मेरी हृदयवीणा की झंकार को प्रतिसाद

देने में जो समर्थ हो और इच्छुक भी हो। ऐसा एक भी व्यक्ति इस विश्व में होगा, इसमें संदेह है। ऐसा व्यक्ति प्राप्त करने के लिए तपश्चर्या करनी पड़ती है। मुझमें ऐसा क्या है, जिससे किसी को मुझसे सहानुभूति और स्नेह की बात करनी चाहिए? उच्चासन से किया शुष्क उपदेश मुझे नहीं चाहिए, क्योंकि वह सब मुझे पता है। ऐसी विकट स्थिति आने पर बराबरी के नाते मेरे कंधे पर स्नेहभरा हाथ रखकर धीरे से मुझे 'मधु' इस नाम से पुकारे। ऐसा लगता है कि व्यर्थ की दौड़-धूप, हल्ला-गुल्ला सहा नहीं जाता, किंतु उपयोग क्या?

अपना यह रोना मैं आपके सामने क्यों रख रहा हूँ, यह मेरी समझ में नहीं आता। उसके पीछे कोई भी अपेक्षा नहीं। हर बार जिसको उपेक्षा का ही अनुभव आया हो, उसके मन में अपेक्षा क्यों उत्पन्न होगी? और यह सब लिखने बैठा तो मन में आई खिन्नता और बढ़ेगी और कुछ विचित्र ही हो जाएगा।

अंडा खाते समय कितनी तकलीफ होती है, कितनी मानसिक वेदना सहनी पड़ती है, यह कैसे बताऊँ? इधर 'अहिंसा परमोधर्मः' ऐसा धार्मिक किताबें बोलती हैं और उधर वे ही 'नायमात्मा बलहीनेन लभ्यः', 'शरीरमाद्यम् खलु धर्मसाधनम्' ऐसा भी कहती हैं। ऐसे इस संघर्ष में संभवतः मेरा अंत होगा। अंत में 'औषधं जाह्नवी तोयं, वैद्यो नारायणो हरिः' कहने लगा और सब ब्रह्मार्पण किया। यह पाप है या पुण्य, कुछ समझ में नहीं आता। 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः', फिर मेरी हालत क्या?

अब आपको शायद लगता होगा कि मेरे विचारों में काफी परिवर्तन आया है, किंतु मैं यह बता देना चाहता हूँ कि आपको वैसा लगता है, तो वह गलत है। मैं अभी भी उसी विश्वबंधुत्व को मानता हूँ। पूरे विश्व में प्रेम भरा रहना चाहिए, ऐसी ही मेरी मनःपूर्वक इच्छा है। किंतु यह सारा वेदांत किसके लिए? यह ब्राह्मी स्थिति तभी प्राप्त होती है जब हम चातुर्वर्ण्यक सभी सीढ़ियाँ चढ़कर ब्राह्म की अंतिम सीढ़ी पर पहुँचते हैं। उस समय शूद्रवृत्ति मन से निकल जाती है। मन वैश्यवृत्ति पार करता है, नस-नस में क्षात्रतेज चमचमाता है। उसी समय वेदांत का गंभीर पाठ समझने की योग्यता निर्माण होती है। आपमें और अपनी तरफ के अन्य लोगों में क्षात्रतेज कैसा है, यह पिछले हिंदू-मुसलमानों के दंगे में स्पष्ट हुआ है। मैंने भी उसका अनुभव किया है। ऐसे में आपको वेदांत बताना इष्ट होगा और

आप भी वह समझकर 'अग्रतश्चतुरो वेदाः पृष्ठतः सशरं धनुः इदं ब्राह्मं इदं क्षात्रं शापादपि शरादपि', ऐसी उच्च स्थिति प्राप्त करते हुए विश्व का कल्याण कर सकेंगे। इसलिए बताना शुरू करना आवश्यक है कि मित्रों! राष्ट्र का उद्धार करो, पैसे कमाओ, शक्ति प्राप्त करो, संगठन करो, जाति-जाति में उत्पन्न शत्रुता समाप्त करो। मातृभूमि और हिंदू धर्म की सेवा करो।

ॐ ॐ ॐ

पत्र क्रमांक - २

दी मैरीन एक्वेरियम
त्रिपलीकेन, मद्रास
२४ जनवरी १९२६

श्री बाबूराव तैलंग

अनेक प्रणिपात। पत्र लिखने के लिए विलंब हुआ, किंतु आपकी उदारता पर विश्वास रखते हुए क्षमायाचना करने का साहस कर रहा हूँ। हर एक घटना के लिए कोई न कोई कारण रहता ही है। उस कार्यकारण भाव के अनुसार विलंब के एक-दो कारण बताता हूँ। एक तो आपका पत्र पहुँचने के पहले से ही मन अस्वस्थ था, शरीर नहीं। वह ठीक-ठाक है और सुदृढ़ भी हो रहा हूँ। थोड़ा क्यों न हो, किंतु मेरा वजन बढ़ गया है। यह अस्वस्थता कुछ भविष्यकालीन संकटों की पूर्वसूचना तो नहीं, ऐसा मुझे महसूस हो रहा है। कुछ अनिष्ट के आगमन की यह खतरे की घंटी कुछ भी निनाद न करते हुए मेरे कानों में गूँज रही है। सचमुच, आज एक दुःखद समाचार पढ़ने को मिला। आज मामाजी का पत्र आया, किंतु उसके संबंध में बाद में लिखूँगा।

जब आपका पत्र आया, तब मैं चाय पी रहा था। जल्दी-जल्दी उसे समाप्त किया, कारण– डाकिए को देखते ही लगा, कि आज अपना पत्र आया और वह तर्क सच सिद्ध हुआ। मैंने कम से कम दस बार वह पत्र पढ़ा होगा। उस दिन के लिए आराम महसूस हुआ, किंतु दूसरे दिन पहले जैसा ही। उससे गत पाँच छः दिन तो नींद ही नहीं आती थी। इसलिए आज तक आपको पत्र नहीं लिख सका। अर्थात् उसमें कुछ आश्चर्य मुझे तो दिखता नहीं। यदि आपको दिखता होगा तो मेरी धृष्टता के लिए मुझे क्षमा करें। अपने मित्रों के दोषों के लिए वे स्वयं दोषी रहते हैं। इसके संबंध

में कोई मतभेद नहीं। किंतु ऐसा किसी-किसी को जँचता नहीं, ऐसा निष्कर्ष मैंने आपके पत्र से निकाला है। मेरा तो पहले से ही निश्चित मत है कि हम उत्तरदायी हैं। खेती की योग्य रीति से सँभाल न करने से यदि अच्छी फसल नहीं आई, तो वह किस का दोष होगा? घर में हम रहते हैं और मित्र के हृदय में यदि नहीं रहते तो, क्या होगा? वह यदि हमने साफ नहीं रखा तो घर की गंदगी के लिए क्या हम घर को दोषी ठहराएँगे ? उस गंदगी को नजर-अंदाज करते हुए पशु-विष्ठा या कचरे में डूबना क्या उचित होगा? यदि नहीं होगा तो मित्र को दोषमुक्त करने का अपना कर्तव्य न निभाने के कारण, क्या उसके दोषों का आधा पाप आपके सिर पर नहीं आएगा? आप जो कहते हैं, वह मैंने पहले से ही निश्चित किया था, केवल उचित समय न आने के कारण उसे प्रकट नहीं किया था।

इसे उचित स्थान पर हम उल्टी दिशा में उपयोग में लाने का प्रयास करें। कारण, जिसकी समझ ही बहुत कम है, वह रोज दिग्दर्शन कैसे कर सकता है? इसीलिए मैंने प्रार्थना की थी कि मेरे संबंध में आपने जो अनुमान बाँध रखे हैं, वे कृपया मुझे निःसंकोच बताएँ, किंतु आपने वह नहीं किया। आपके संबंध में केवल एक ही नहीं, मेरे कई अनुमान हैं। आप महान हैं, यह सत्य तो मैंने अपने हृदय में समा रखा है। यह मैं ईश्वर की शपथ के साथ कहता हूँ और आपके पत्र इसके साक्षी हैं। गत पत्र में मैंने एक-दो प्रमाण दिए थे। आज तो सारा पत्र ही अवतरण में देना पड़ेगा। भावपूर्ण अंश प्रखर भावनायुक्त हैं यह तो सच ही है। किंतु उनमें गहन विचारों की छटाएँ भी हैं। आपने मित्र के उत्तरदायित्व के संबंध में जो लिखा है, वह उदाहरण के लिए पर्याप्त है। इधर ये तीव्र भावनाएँ तो दूसरे दिन सुबह के समय गंभीर वेदांत। एक ही क्षण विकारों से विचारों में विलीन होने की कला, केवल विद्वान वेदांतियों को ही अवगत होती है। उसका अल्पमात्रा में भी अनुकरण करने की हमारे जैसे लोगों की क्षमता नहीं होती। इस एक स्पष्ट मत के अलावा मेरे मन में आपके संबंध में अन्य कोई भी अनुमान नहीं है।

इसलिए मैं आपको लिखते समय सावधानी बरतता हूँ और सम्मानजनक संबोधन उपयोग में लाता हूँ। आपको मेरे लिए नित्य के अनुसार एकवचनी संबोधन ही उपयोग में लाना चाहिए, ऐसी मेरी इच्छा है, किंतु जैसी आपकी इच्छा। यह कीजिए अथवा न कीजिए, यह आपको बताने का मेरा अधिकार नहीं। मैं अपनी योग्यता जानकर उसके अनुसार

व्यवहार करने का पूरा प्रयास करनेवाला हूँ।

आपने बचपन के चित्र मेरे सामने दर्शाए, किंतु मेरा कोई भी विचार नहीं किया! अब वह दिन गए (गेले ते दिन सीते ! येतील आज कसे आता?), किंतु उसका अब शोक करने से क्या लाभ होगा? {सुकले फूल न देत वास जरि अश्रुंनी भिजले। (सूखा हुआ फूल, आँसुओं से भिगोने पर भी सुगंध नहीं देता।)} वैसे, सब उल्टा पुल्टा हुआ है, किंतु मैं वैसे के वैसे ही रहा या बाकी बचा या मैं भी कुछ निराला बना? निराला ही बना है। क्योंकि बचपन के मधु को और आज के मधु को यदि आमने सामने खड़ा किया, तो उस छोटे मधु का ही यह बड़ा मधु है, यह मैं भी पहचान नहीं पाऊँगा। जाने दीजिए वह दिन अब गए, उसके साथ बचपन का आनंद भी गया और दुःख भी गए। दुःख तो जैसे के वैसे ही रहे हैं, किंतु अब वह विचार करने से क्या मतलब? जो सहना है, वह थोड़ा नहीं है। बचपन के आनंद का स्मरण कर, दुःख तीव्र क्यों करें? कर्तव्यपरायणता के आनंद में आपको वह स्मरण अधिक आनंद देता होगा, किंतु दुःख से परिपूर्ण मुझे वह स्मरण अधिक कष्ट देता है।

लाला जी (लाला लाजपतराय) के प्रतिशोध के संबंध में मेरा कहना आप सब लोगों को बताएँगे, मुझे इसका अनुमान नहीं था, कभी भी नहीं आया। वहाँ के कुछ विद्यार्थी गुप्तवार्ता विभाग में काम करते हैं, इसलिए गलती से 'विश्वबंधुत्व की बात करनेवाला गोळवलकर भी ऐसा कहता है' यह आप संभवतः कहेंगे, इसलिए सावधानी की यह सूचना की थी, अर्थात् उसका किसी को पता भी लगा, तो भी मेरे जैसे सर्व साधारण व्यक्ति को पकड़कर सरकार का क्या लाभ होगा ? मैं इतना महत्त्वहीन हूँ कि मुझे पकड़ने के पहले सरकार को मानसिक बीमारी होनी चाहिए।

और हिंदू-मुसलमानों के झगड़े में मेरी मानवता की भूमिका क्या थी? मेरे स्मरण के अनुसार, मैंने कहा– 'किसी से नफरत मत कीजिए, किंतु वैसा ही समय आया तो अवश्य पीटिये।' एक शाम मेरे घर के सामने आपसे जो संवाद हुआ, उसमें मैं यही कहता रहा और आप कहते थे कि उनके अत्याचार देखते हुए, उनसे नफरत न करना मानवी स्वभाव के लिए असंभव है। पीटने के संबंध में हमारा एकमत था। मतभेद केवल नफरत के संबंध में था। भगवान कहते हैं– 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति' यह ईश्वर के संबंध में नहीं है, मनुष्य के संबंध में कहा है। यह क्या मुझे बताने की आवश्यकता है? इतना सब होते हुए भी भगवान ही

'तस्मात् उत्तिष्ठ कौन्तेय, युद्धाय कृतनिश्चय' यह उपदेश भी करते हैं। इसका अर्थ यह है कि क्रोध और द्वेष से ऊपर उठकर युद्ध करना – इसमें कोई विरोधाभास नहीं, बल्कि यही सच्चा ज्ञान है। सच्चा योग है। क्रोध या नफरत रखना याने आसक्ति रखना, सच्चे कर्मयोग से च्युत होना है।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः ।।

(गीता, ३-१६)

२८ जनवरी १६२६

मेरे विश्वबंधुत्व में आपको ऐसा क्या दिखा, जिस पर से आपने निष्कर्ष निकाला कि, सांडर्स की हत्या मुझे अमानुषिक लगी। मैं तो हरदम कहता आया हूँ कि हुआ तो क्या हुआ? जब जान पर बीतती है तो किसी को बख्शने की आवश्यकता नहीं होती। किंतु आपको मेरे कहने का विपर्यास ही करना हो, तो बात अलग है, किंतु आप वैसा नहीं करेंगे, ऐसा मुझे विश्वास है। समझने में कुछ गड़बड़ है क्या? कौन जाने?

मैं भाषाशुद्धि पर जोर क्यों दे रहा हूँ, इसका कारण बहुत आसान है। अपनी विशेषता, अपनी संस्कृति जीवित रखने के लिए जिन मार्गों का अनुकरण करना पड़ता है, उनमें भाषाशुद्धि एक अहम् विषय है। यह मुझे बहुत सोचने के बाद लग रहा है और उसी के लिए प्रयास कर रहा हूँ। कपड़ों के संबंध में आप मेरा मत जानते ही हैं। अन्य चाल-चलन भी शुद्ध होना चाहिए, किंतु बदलते जमाने का अवमान करना गलत है। समय की पुकार को यदि यथायोग्य उत्तर नहीं दिया, तो इस धरती पर से अदृश्य होना पड़ेगा। कारण, प्रकृति यह निर्दयी शिक्षिका है।

आपको मेरा कहना भ्रामक नहीं लगता, यह मैं अपना एक प्रकार से गौरव मानता हूँ। सचमुच, मैं भाग्यवान हूँ। आपने यदि मेरा पत्र फाड़कर फेंक दिया होता, तब भी मैं आपको दोष कैसे देता? और यह सब होते हुए भी आप मेरे जैसे अप्रबुद्ध को, पहले जैसे स्नेह से ही मित्र कहकर गौरव करते हैं। मेरा पत्र पढ़कर उसका यथोचित उत्तर भी देते हैं, यह सब देखकर मेरा हृदय कृतज्ञता से भर आता है। मैं आपका बहुत बहुत आभारी हूँ। मैंने अपने शरीर को छीलकर चमड़ी के पादत्राण भी आपको भेंट दिए, तो भी आपका ऋण अंशमात्र कम नहीं हो सकता। आपने मुझे इतना उपकृत किया है। मेरे दीन आँसू दूर करने के लिए कौन है, ऐसा

विचार मन में आते ही आप जैसा सहानुभूति से ओतप्रोत सखा भगवान ने मेरे सामने खड़ा किया, यह उस जगनियंता का मुझपर कितना उपकार है, ऐसा विचार मन में आता है। उनसे मैं कभी भी मुक्त नहीं हो सकता। सचमुच, मैं भाग्यवान हूँ।

अपनी अस्वस्थता के संबंध में मैंने पूजनीय भाऊजी (पिताजी) को सूचित किया ही है, किंतु मामाजी को कुछ भी नहीं बताया। कारण स्पष्ट है। सौ. ताई अकारण अस्वस्थ होंगी और मेरी चिंता करती रहेंगी। वैसे स्वास्थ्य कुछ चिंताजनक न होने के कारण, उनको नहीं बताना, यही मैंने उचित समझा। बुखार यदि कम नहीं होता, तो सीधा वापस जाता या वैसा पत्र भेजता। मुझे तो तकलीफ हो ही रही थी, तब ताई या मामाजी को चिंता में क्यों डालूँ, ऐसा सोचते हुए 'तबीयत ठीक है' ऐसा ही लिखता आया। अब तो स्वास्थ्य में बहुत सुधार हुआ है। नींद अच्छी आती है, वजन भी बढ़ रहा है। मैंने जो किया, वह ठीक ही किया है– ऐसा मैं मानता हूँ। इस कारण आप मुझे दोष नहीं देंगे, ऐसी आशा करता हूँ।

'समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः' मुझपर कुछ बीती तो नहीं, किंतु मैं वैसा क्यों लिखता हूँ, इसके कारण आपने पढ़े ही हैं। आपको मुझे एकवचन में (अरे, का रे) संबोधन क्यों करना चाहिए, यह भी बताया है। 'राव' की पद्धति छोड़ना मुझे अच्छा नहीं लगा, किंतु आपने वह छोड़ा यह अच्छा लगा।

पानगल के दिवंगत राजा Sir P. Ramarayanniyar एक महान कुल में पैदा हुए थे। एम.ए. और वकालत की परीक्षा पास होने के बाद उनको पता चला कि वे ऋण में आकंठ डूबे हुए हैं। उसका कारण उनके भाई और पूर्वार्जित धन के स्वामित्व के संबंध में चल रहा संघर्ष था। जाति से क्षत्रिय, याने अब्राह्मण, इसलिए उन्होंने यहाँ के ब्राह्मण विरोधी आंदोलन के जनक डा. टी.एस.नायर का सहारा लिया और अपनी विशाल बुद्धिमत्ता और कुटिल नीतिज्ञान के आधार पर आंदोलन का नेतृत्व अपने हाथ में लिया। बाद में सन् १९१९ के सुधार आए। उन्होंने उस मौके का पूरा लाभ उठाने की सिद्धता की और सरकार की पूँछ पकड़कर मुख्यमंत्री का स्थान प्राप्त किया। फिर धन की क्या कमी? सारा ऋण समाप्त हुआ। सामने लक्ष्मी नाचने लगी। दुसरे चुनाव में उनका विरोध होनेवाला था, किंतु सरकार ने उन्हें फिर से मुख्यमंत्री बनाया। ब्राह्मणों ने एकजुट होकर अच्छे स्थान प्राप्त कर लिये। फिर भी उन्होंने बड़ी कुशलता से अपनी नैय्या पार

लगाई। तीसरी बार ब्राह्मण विरोधियों का अबाधित वर्चस्व फिर से स्थापन हुआ। उस कारण सन् १९१९ से आज तक वे ही मुख्यमंत्री हैं, अर्थात् वे बहुत धनवान बने। इधर पारिवारिक कलह में भी उनकी जीत हुई। उन्हें छह लाख रुपए मिले, किंतु उसका उपभोग लेने के लिए छह-सात महीनों के उपर वह जीवित नहीं रह सके। हर वक्त सरकार का समर्थन करने के कारण और सरकार को भी ऐसे कुशल लोगों की सहायता आवश्यक होने के कारण, सरकार ने उनको पानगल के राजा की उपाधि उपहार के नाते प्रदान की। वास्तव में पानगल देहात भी नहीं है, उसे एक बगीचा मात्र कहना उचित होगा। किंतु उपाधि का मान होता है ना? यह उपाधि उनके उत्तराधिकारियों तक चले—ऐसी योजना थी, किंतु दुर्भाग्य ऐसा है कि उनके साथ ही उनका वंश-वृक्ष समाप्त हो गया, क्योंकि उन्हें तीन कन्याएँ ही हैं, पुत्र एक भी नहीं।

उनका कांग्रेस (राष्ट्रीय महासभा) से कोई संबंध नहीं था। उनके पक्ष के लोगों का आज भी नहीं है, किंतु संकुचित दृष्टि से क्यों न हो, उन्होंने जो काम किए (उदाहरणार्थ १५ नौकरियों में से ब्राह्मणों को १, मुसलमान को २, धर्मांतरित ईसाइयों को २, एंग्लो इंडियन को ३ और शेष हिंदू अब्राह्मणों को यथासंभव देरी से नौकरियाँ देने का प्रस्ताव किया)। फिर कुछ ठोस सुधार भी उन्होंने किए। जगह-जगह पर आयुर्वेदिक स्कूल और महाविद्यालय खोलकर उन्होंने चेन्नै विश्वविद्यालय में, याने सरकार की ओर से आयुर्वेद उपाधि देना प्रारंभ किया। बड़े औषधालय (आयुर्वेदिक) प्रारंभ किए। देहातों में वैद्य और डाक्टर नियुक्त करते हुए सरकारी खर्चे से दवाई-वितरण की व्यवस्था की। ग्रामीण इलाके में शिक्षा का प्रचार किया। निम्न जातियों के छात्रों के लिए छात्रवृत्ति देकर शिक्षा को प्रोत्साहन दिया। सरकारी सेवा में उच्च स्थानों पर हिंदी लोगों को नियुक्त करने का प्रयास करते हुए यश-संपादन किया।

'हिंदू रिलीजियस इंडोमेंट एक्ट' नामक एक महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव सब को ज्ञात है। मंदिरों में जो निधि एकत्र होती है, वह उस मंदिर के लिए खर्च करने के पश्चात् बची हुई निधि, अन्य कम आमदनीवाले मंदिरों के लिए या शिक्षा का प्रसार करने के लिए खर्च की जाए—ऐसा प्रावधान उसमें था। यह बहुत ही अच्छा है, किंतु यहाँ के ब्राह्मणों को वह भाया नहीं। कारण, पुजारियों को पहले जैसा ऐश्वर्ययुक्त जीवन बिताना इसमें संभव नहीं था। व्यापक विचार करनेवालों को यह प्रस्ताव अच्छा लगा, क्योंकि

उसमें लोकहित है।

अंततः उन्होंने सरकार के लिए निरंकुश मार्ग बना दिया। स्वयं को और अब्राह्मण संस्थाओं को सुविधा देकर और ब्राह्मणों से बदला भी लिया, किंतु इससे हुआ यह कि हिंदू ब्राह्मण भूखे मरने लगे और खिस्ती, मुसलमानों को भरपेट मिलने की व्यवस्था हुई। कुछ भी हो, वे महान व्यक्ति थे– इस बारे में संदेह नहीं। उन्होंने (Justice) नामक एक समाचार-पत्र भी निकाला था। वह अभी भी चल रहा है। मुदलियार नाम के राजासाहब के कोई परमशिष्य उसके संपादक हैं। संपादकीय विचारपूर्ण तो रहता है, किंतु उसमें दासता की बू आती है। श्री श्रीनिवास अय्यंगार और श्री सत्यमूर्ति इनके पत्र का विरोध करते हैं, क्योंकि वे ब्राह्मण हैं, अर्थात् श्री सत्यमूर्ति प्रखर आलोचना के पात्र हैं ही। श्री अय्यंगार भी वैसे ही हैं, किंतु उनका एक भी गुण Justice को क्यों नहीं दिखता? जहाँ ईश्वर भी गलती करने में चूकता नहीं, वहाँ बिचारे राजासाहब की क्या कथा? वे तो केवल मनुष्य थे, किंतु उन्होंने मातृभूमि की संतानों की सेवा तो की। रीति कैसी भी क्यों न हो, उसकी स्थिति में सुधार आया, यह तो सच है? इसीलिए वे महान थे और उनकी महानता के अनुरूप अब्राह्मणों ने उनका गौरव करना भूषणार्ह है। उनकी अंतिम यात्रा बड़ी निकली, सरकारी अफसर उसमें पैदल चले। कुछ समय तक यातायात रोकना पड़ा। उनकी एक कन्या अविवाहित रही, यह दुःख की बात है। ईश्वर मृतात्मा को शांति प्रदान करे।

अरे हाँ, मैं तो भूल ही गया। वे तेलगु पंडित थे और शतरंज के अच्छे खिलाड़ी भी थे।

क्या सचमुच आप मुझे मिलना चाहते हैं? किंतु मुझे मिलने के लिए तरसने वाला और एक व्यक्ति उधर तड़प रहा है। किंतु मैं कुछ नहीं कर सकता। क्या करें ? कल मामाजी का पत्र आया। उसमें दिया हुआ समाचार पढ़कर धक्का लगा। कुछ क्षण वह सच ही नहीं लगता था। बार-बार पढ़ा पर आँखों के सामने अंधेरा ही रहा। वे लिखते हैं– 'बाल करकुरे एलिकपुर में क्षय रोग से पीड़ित हैं। वे तुम्हें देखना चाहते हैं। किंतु यह संभव न होने से उन्हें अपने गिरते स्वास्थ्य में तुम्हारे पत्र को पढ़ कर बहुत सांत्वना मिलेगी।'

कल के कल जल्दबाजी में उसे सांत्वना-पत्र लिखकर भेजा है, किंतु मन नहीं लगता था। अंत में मनःस्वास्थ्य ठीक रखने की उपाय-योजना की,

तब कहीं ठीक लगा। दूसरी बात यह है कि नाना जी वाघसुन्द को यक्ष्मा हुआ है। उनकी स्थिति प्रायः निराशा की है, इसलिए बाबूराव उलझन में हैं। ...मि. देसाई ने दस रुपये का एक और मनीआर्डर (धनादेश) भेजा है। उन्हें उनके कोट मिले कि नहीं, मुझे इस रहस्य को सुलझाना अकेले संभव नहीं। यह सज्जन (देवजी) डेढ़ मास से अधिक हुआ, मुझे मिले नहीं हैं।

यह तीनों ओर से कैसी मार पड़ रही है। अब श्री देसाई को बता दें कि उनका हिसाब समाप्त हुआ। चार आठ आने का सवाल संभवतः बचा होगा। उसकी चिंता करने का कोई कारण नहीं है।

अब पत्र समाप्त करता हूँ। बहुत लिखने को मन करता है, किंतु डाक विभाग मुझे खा डालेगा। क्या आप बाल को पत्र लिखेंगे? आपका पता मैंने उसको दिया है। आप उसके संबंध में जानने के लिए कितने उत्सुक थे और मैं आपको वह जानकारी देने में कैसा असमर्थ रहा, यह भी उसको लिखकर सूचित किया है। पत्रोत्तर की अपेक्षा है।

सदैव आपका ही

मधु

परिशिष्ट

श्री जे.एम.देशमुख या तो मुझे भूल गए हैं या वह पढ़ाई में बहुत व्यस्त हैं। कारण, करीब एक माह होता आया, मैंने उनके लिए एक लेख, एक कविता और पत्र भेजा था। किंतु उन्होंने वह स्वीकार किया या नहीं, इसके संबंध में कुछ भी पता नहीं चला। लेख यदि बेकार है– ऐसा समझकर फेंक दिया होगा, तो कृपया मुझे वापस करने लिए उन्हें बताएँ। उसका मुझे बुरा नहीं लगेगा। किंतु उनके मौन का कभी-कभी बुरा लगता है। शिवराव (S.P.) देशपांडे का व्यवहार कैसा है? पढ़ाई करता है कि नहीं या हर वर्ष के अनुसार? श्री दाणी वहाँ हैं या इंग्लैंड गए? वे बड़े महत्त्वाकांक्षी थे। भगवान उनकी सब आकांक्षाएँ पूरी करे। आपके दंड के कार्यक्रम ठीक चल रहे हैं ना? यह शक्ति की उपासना है। इधर-उधर करके चलता नहीं। 'पृष्ठतः सशरं धनुः' सिद्ध रहना चाहिए, अन्यथा प्यास लगने पर कुँआ खोदने जैसा होगा। इटली के लोग वहाँ गए थे– ऐसा समाचार-पत्रों में पढ़ा। उनमें से मिलान विश्वविद्यालय के एक प्रोफेसर जान्सन ने मुंबई में कहा– 'मैं भारत से आकर्षित हूँ। मैं बनारस हिंदू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों के प्रज्ञावान चेहरों से विशेष रूप से प्रसन्न हुआ।' मैं उसी विश्वविद्यालय

का विद्यार्थी हूँ और आप भी उसमें से हैं, यह गर्व का विषय है। किंतु इससे फूलने की जरूरत नहीं। उस प्रकार का हमारा व्यवहार होना चाहिए, अन्यथा दिखने में श्यामसुंदर और चलने में ढब्बू ऐसा होगा।

श्री गोपालराव देशपांडे का पता मैं भूल गया हूँ। साथ में उनके लिए एक क्षमायाचना पत्र है। वह कृपया उनको दें, आभारी रहूँगा।

आपका ही

मधु

ॐॐॐ

पत्र क्रमांक ३

चेन्नै

७ फरवरी १९२९

मित्रवर,

मैं छद्मी कभी भी नहीं था और न हूँ। किंतु कभी-कभी कोई लहर उठती है और वह बहुत देर तक हटती नहीं। इससे यह समझना मूर्खता होगी कि मुझपर यह बीती, इसलिए मैंने अपनी पद्धति में परिवर्तन किया है। वह तो केवल एक प्रयास था। उसमें सफलता भी पाई, पर्याप्त प्रभुत्व भी प्राप्त किया। अब नित्य का व्यवहार उस पद्धति से करने में कोई कठिनाई नहीं।

हर्ज की बात यह है कि, मैं बड़ा लेखक बन गया। कारण यह है कि साधारणतः गडकरी या शेक्सपियर जैसे महान लेखकों के लेख समझने में कठिनाई आती है। जैसे अच्छा पकवान हजम करने में दिक्कत होती है। मेरे पत्र के कुछ अंश समझे नहीं, ऐसा आपने लिखा है। मतलब, मैं भी गडकरी की श्रेणी का लेखक बना हूँ।

यह भी हो सकता है कि मैं अपने विचार योग्य रीति से स्पष्ट रख नहीं सकता। यदि वैसा है तो बड़े दुःख की बात है। इसका अर्थ यह है कि मुझे 'अथ' से लेखनकला सीखनी होगी।

इन दोनों में से क्या सच है– यह कहना मेरे लिए तो असंभव है। हे मराठी के अभिमानी पुरुष! साहित्य के सागर में मेरी नौका पार होगी कि नहीं, यह तू ही बता दे। प्रबुद्ध या अप्रबुद्ध? अज्ञ या अनभिज्ञ? क्या? मैं कुछ भी नहीं? 'वायुर्नाविमवांभसि' वैसी स्थिति तो नहीं? अब अर्थ बताता हूँ।

इस सच को जरा उलटा बनाइये, याने जो विशेषण मुझे लगाना है या लगाए गए हैं, वह स्वयं को लगाइए और स्वयं को लगाए गए विशेषण मुझे भेंट के रूप में दीजिए। आ गया ध्यान में? अब मुझे संदर्भ का स्मरण नहीं हो रहा, अन्यथा ऐसी टीका-टिप्पणी करता कि मल्लिनाथ भी 'साधु! साधु!' इस प्रकार से चिल्लाता होता। 'आप महान हैं'— इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि मुझसे महानता में अधिक महान हैं।

विचारों के गहरे अंश, याने गहन विचारों के अंश, आकाश में थोड़े से बादल होने के बावजूद शीतल चंद्रमा के प्रकाश-किरण दृश्यमान होते हैं या वर्षा समाप्त होते समय थोड़े-थोड़े बादल होते हुए भी सूर्यनारायण की तेजस्विता में इंद्रधनुष के सप्तरंग जैसे चमकते हैं, वैसे ही भावना और विकारों के प्रकाशांधकार में इधर-उधर विचारों की प्रकाशमान किरणें मुझे उस पत्र में दिखाई दीं।

बचपन के चित्र वह देखकर हरदम मीठा खानेवालों को जिस प्रकार कुनैन की दवाई अच्छी लगती है, वैसी ही मेरी अवस्था हुई। भूखे के सम्मुख पंचपक्वान्न रखे जाएँ और उसे खाने न दिया जाए या दुर्बलता के कारण वह उनको खा न सके और उसके सामने बैठकर यदि दूसरा तसल्ली से खाने लगे, तब उसको कैसा लगेगा? खानेवाले को यह विचार करना चाहिए। फिर बचपन की इन स्मृतियों के हर्ष का आधार लेने में जो असमर्थ है, ऐसे मेरे सामने वह चित्र दिखाना, क्या अविचार नहीं है?

हो गई इच्छा पूरी? या अभी भी संतोष नहीं हुआ?

बाळ की बीमारी के संबंध में मैंने पिछले पत्र में लिखा ही है, वह केवल खाँसी नहीं है। उसको जो पत्र लिखा, वह मेरे सामने समस्या है। उसका हल मैं कैसे निकालूँ? इतना ही लिखा कि तुम अच्छी दवाइयाँ लेकर चुस्त स्थिति में हमको दिखना चाहिए। बहुत चिंता मत करो, निराश भी न हो, तुम जल्दी से जल्दी अच्छे हो, यही हमारी उत्कट इच्छा और ईश्वर से प्रार्थना है। इस अर्थ का ही मेरा पत्र था। उसके अच्छे या बुरेपन के बारे में मैं कुछ भी नहीं कह सकता। मेरे मन में इतने ही विचार आए। मन में विचार आना प्रत्येक की मनोरचना पर निर्भर करता है।

यह देखिए, द्वेष का विचार निरर्थक हुआ है। बुरा लगता है— ऐसा कहने में भी संकोच होता है। कारण, कुत्ते ने यदि काटा तो 'कुत्ते काटते हैं— यह सिद्धांत हम बनाते हैं।' वह सही भी है। दूसरा साँप का उदाहरण

देता हूँ। साँप काटता है– यह सामान्य सिद्धांत हुआ और यह सच है कि कोई एक साँप विषैला है या नहीं, इसका विचार न करते हुए हम उसको मारते हैं। इसको Jeddart's Law कहते हैं। वह इस प्रकार है, जैसे पहले फाँसी, फिर मुकदमा।

यह नियम केवल युद्ध में ही उपयोग में लाया जाता है। किंतु इतना होते हुए भी हम साँप से द्वेष नहीं करते, बल्कि उसकी पूजा करते हैं। साल में एक दिन ही क्यों न हो, उसको दूध पिलाते हैं। जैन धर्म की ओर देखने की क्या आवश्यकता है? हम सनातन हिंदू ऐसा ही करते हैं। साँप यदि दूर से जा रहा है, तो हम उसपर गुस्सा नहीं होते। मैं तो नहीं होता। उसको मारने के लिए भी दौड़ते नहीं। यदि घर में आया तो अतिक्रमण करने के कारण उसको पीटते हैं या पीटने की सिद्धता रखते हैं, किंतु उसके छिपने के स्थान ढूँढते फिरते नहीं। उसका पूरा विध्वंस करने का प्रयास किसी ने किया हो, यह मेरे तो सुनने में अभी तक नहीं आया। द्वेष करना, यह स्वभाव गुणधर्म अवश्य है, किंतु किन गुणों से वह निर्माण होता है, यह भी देखना चाहिए। सत्व, रज और तम– यह तीन गुण हैं। द्वेष तमोगुण से उत्पन्न होता है, काम-क्रोध रजोगुण से और शांति जैसे उच्च्व गुण सत्वगुण से निर्माण होते हैं। अब इन तीन गुणों में से कौन से गुण को अंगीकार करने की इच्छा रखना श्रेयस्कर होगा? मैंने श्रेय कहा, प्रेय नहीं। इन दो शब्दों का अर्थ कृपया गीतारहस्य में देखिए। अर्थात् सत्वगुण ही श्रेयस्कर होगा। सत्वगुण अव्यवहार्य है, ऐसा यदि कहा तो मामला ही समाप्त हो जाता है। एक साथ सभी भगवान, सारा वेदांत, सब धर्म धूल में मिल जाते हैं। वस्तुतः वह अव्यवहार्य नहीं। यदि वह अव्यवहार्य होता तो उसका अंगीकार करने का उपदेश भगवान ने नहीं किया होता। तब सत्वगुण अवश्य प्राप्त करना चाहिए। कम से कम वैसा प्रयास तो करना ही चाहिए। यह सबको संभव नहीं होगा, यह तो मानना ही होगा। इतना ही नहीं तो उसका विपर्यास करते हुए 'मुसलमान ने मेरी पत्नी भगाई तो क्या हुआ, मैं ईश्वर का भजन करते बैठूँगा' ऐसा भी कोई कहने लगेगा। इसीलिए कुछ थोड़े लोगों ने तो वैसा विपर्यास नहीं करना चाहिए। उसमें से मेरे बाबू जैसे शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति द्वारा प्रयास न करना लज्जास्पद है।

यहाँ तुम यह ध्यान में रखो कि द्वेष छोड़ो, यह मैं या कोई दूसरा इधर-उधर घूमकर चिल्लाया नहीं। इतना ही नहीं, तात्या तुम्हारा सगा छोटा

भाई, किंतु उसको भी मैंने कभी 'द्वेष छोड़ना चाहिए' ऐसा नहीं कहा। संभवतः ऐसा लगना गलत होगा, किंतु मुझे लगता है कि यह तत्त्व पचाने के लिए, उसका समबुद्धि से विचार करने के लिए वह अयोग्य और असमर्थ है। किसी समय मैंने कहा होगा, किंतु तुम्हारी उपस्थिति में, अन्य समय नहीं।

अब यह सवाल निर्माण होने की संभावना है कि द्वेष छोड़ना, याने उनको मनमानी करने की छूट देना है क्या? कतई नहीं। इतना ही करना चाहिए कि उनको वैसा करने का अवसर न मिले, ऐसी हमारी सिद्धता होनी चाहिए। इसके बाद भी उन्होंने कुछ शरारत की या करने का प्रयास भी किया तो पीटना चाहिए। हमको पता है कि ये घातक हैं तो हम शुद्धि जैसी दवाई तैयार रखेंगे, किंतु यदि वे घात करने के लिए आएँ तो उनको तुरंत पीटने की व्यवस्था करेंगे। यदि मूल से नष्ट करने की आवश्यकता हो तो वैसा भी करेंगे। किंतु आवश्यकता है या अन्य कोई इलाज नहीं, इस कारण हममें द्वेष की भावनाएँ न हों।

अब अच्छा-बुरा देखकर पीटना, कि सबको एकदम पीटना यह प्रश्न उत्पन्न होता है। प्रश्न बड़ा ही संवेदनशील है, किंतु यह चुनना शांति काल में जितना आवश्यक है और न चुनते हुए एक साथ सबको पीटना, जितना अन्याय और क्रूर लगता होगा, उतना ही आज के संकट के दिनों में चुनते बैठना मूर्खता होगी। कोई कितना भी अच्छा या दयावान होगा, तब भी जिस शासन-प्रणाली का या समाज का वह सेवक होगा और वह प्रणाली यदि घातक होगी, तो वह उस प्रणाली का प्रतिनिधि होने के कारण दोष का पात्र भी होगा और दंड का पात्र भी।

सांडर्स की हत्या के संबंध में मैंने यह प्रश्न उपस्थित किया, इसका मुझे स्मरण नहीं। ऐसा होते हुए भी इसी पद्धति से लाला जी के प्रतिशोध की कल्पना का विचार करने को मुझे पढ़ाया जा रहा है। कैसी विचित्रता है यह? मैंने जो लिखा है, वह मेरे विचार की पूर्ति के लिए। यह कहते रहना कि मेरा प्रयास व्यर्थ है, कारण भगवान श्रीकृष्ण ने यह पहले ही कह रखा है। यदि वैसा नहीं होता तो उन्होंने अर्जुन को कहा होता— 'मेरे भाई, यह भीष्म, द्रोण, शल्य, विकर्ण तेरे लिए ही दुर्योधन से झगड़ते आए हैं। वे बहुत सज्जन हैं। उनको छोड़ दे और कपटी दुर्योधन, दुःशासन, शकुनि पर प्रहार कर। (भीष्म, द्रोण को) मारना यदि उचित था, तब भी उस

प्रकार की परिस्थिति में कर्तव्य के नाते, न कि द्वेष की भावना से। ऐसे काम करते समय यदि प्रतिपक्ष में रहे, तब सूखी लकड़ी के साथ गीली लकड़ी भी जलती है। उसे उनके दुर्भाग्य का परिणाम या संगति का दोष समझना चाहिए। उसमे 'वह मारा गया, बहुत बुरा हुआ' ऐसा कहना मुझे उचित नहीं लगता। किंतु यह सब हम दोनों को ठीक लगते हुए भी मेरा कहना निरर्थक तो सिद्ध नहीं होगा? समबुद्धि से कर्तव्य के नाते, चाहे क्रूर कर्तव्य क्यों न हो, किंतु जो करना है, वह कर्तव्य के नाते करना चाहिए, द्वेष या क्रोध के अधीन होकर नहीं। अब कोई कहेगा कि कर्त्तव्य के नाते करो या द्वेष से करो, परिणाम तो एक ही होगा? फिर यह सब बकवास किसलिए? यह शक उपस्थित करनेवालों को बताना होगा कि दृश्य फल, इहलोक में होनेवाला स्पष्ट परिणाम यदि समान भी रहा, तो भी मनुष्य को केवल 'खाओ, पियो मौज करो' के लिए जन्म मिलता नहीं। इस लोक में कल्याण के साथ ही (इसको प्रेय कहा जाता है) पारलौकिक अर्थात् आध्यात्मिक कल्याण की ओर (इसको श्रेय कहा जाता है) ध्यान देने की आवश्यकता होने के कारण समबुद्धि से किया हुआ कर्तव्य ही ग्राह्य माना जाता है। कारण उससे इस लोक में कल्याण तो प्राप्त होता ही है, साथ ही पारलौकिक कल्याण भी मिलता है। कारण यह है कि द्वेषबुद्धि से किया कार्य बंधक होता है। वह करते समय कर्मफल के संबंध में उदासीनता नहीं रहती। इसीलिए द्वेष की भावना से क्रोध व लोभ निर्माण होता है। इसके विपरीत समबुद्धि से कर्तव्य करने से कर्म की आसक्ति नहीं होती, क्योंकि वह शुद्ध कर्तव्य होता है। किसी फल की अपेक्षा से की गई हड़बड़ी नहीं होती। हम चार्वाक के समर्थक हैं क्या? कम से कम मैं तो नहीं। चार्वाक कहेगा– अरे! कौन सा श्रेय और कौन-सी आत्मा लेकर बैठे हो? जो है, वह यहाँ ही है। इसके बाद सब शून्य, केवल अंधकार। वह मुझे तो मान्य नहीं होगा। मुझे भगवान का कहना ही मान्य है, सब हिंदुओं को भी मान्य होना चाहिए।

कोई कहेगा कि हम धर्म के लिए, ईश्वर के लिए, देश के लिए संघर्ष कर रहे हैं, यह तो पुण्यकर्म है। फिर द्वेष हो या और कुछ, क्या अंतर पड़ता है? किंतु यह कहना गलत होगा, क्योंकि द्वेष के कारण संघर्ष के लिए सिद्ध होना अधर्म है। उस अवस्था में धर्म के लिए संघर्ष करते हैं, यह बड़ाई किसी काम की नहीं। फिर 'संघर्ष मत करो' ऐसा तो हमने कहा ही नहीं। द्वेष की भावना से यदि संघर्ष किया तो 'हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गम्'

यह कहना उसको लागू नहीं होगा। 'धर्म्याद्धि युद्धाछ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते' इसका अर्थ क्या है? इसका अर्थ यह है कि धर्म, याने कर्तव्य ऐसे युद्ध से श्रेष्ठ है। क्षत्रिय के लिए उसके सिवाय दूसरा कोई श्रेय नहीं है। कर्तव्य करने के पश्चात् द्वेष की भावना को छुट्टी ही देनी चाहिए।

यह अव्यवहार्य नहीं, किंतु उसे व्यवहार में लाने का प्रयास ही कोई नहीं करता। प्रकृति के अनुसार न होते हुए भी हमें त्रिगुणात्मक प्रकृति लाँघकर जाना है। उसके लिए निस्त्रैगुण्य बनना चाहिए। शायद सबके लिए संभव नहीं होगा। तुमको भी कठिनाई होगी, किंतु प्रयास करना चाहिए। संभवतः इस जन्म में नहीं, दूसरे जन्म में सफलता मिलेगी ही। अव्यवहार्य है, निसर्ग नियमों के विरोध में है– ऐसा कहकर नपुंसक की तरह भगोड़ेपन में कोई अर्थ नहीं। कितने लोग भक्ति करते हैं? किंतु भक्ति करना अव्यवहार्य है, ऐसा कोई कहता है क्या? भक्ति करने का प्रयास करना चाहिए ऐसा ही सब साधु-संतों ने कहा है ना? अभी भी वे यही कहते हैं ना? फिर अव्यवहार्य है, ऐसा कहकर द्वेष का त्याग करने का विरोध क्यों? सर्वसाधारण मनुष्य में प्रकृति सिद्ध गुण काम, क्रोध, द्वेष, अहंकार, लोभ, मोह, स्वार्थ, मत्सर यही हैं ना? वह इन गुणों को (दोषों को) सहजता से नहीं छोड़ सकता, यह सच है ना? किंतु किस समझदार व्यक्ति ने कहा है कि यह गुण छोड़ना अनैसर्गिक है? अव्यवहार्य है? आपका ही उदाहरण हम लेंगे, स्वार्थत्याग करना कितने लोगों के लिए संभव है? कितने लोग स्वार्थ छोड़ना चाहते हैं? फिर भी स्वार्थत्याग करें, देश के लिए प्राणों का बलिदान करने के लिए सिद्ध रहें, यही बात हमारे नेता लोगों को पढ़ाते हैं। स्वार्थ तो निसर्ग नियम है। उसका त्याग करना व्यवहार्य नहीं, फिर भी हम वह छोड़ने के लिए ही कहते हैं। क्या यह मूर्खता है? मोक्ष प्राप्ति के लिए कितने लोग योग्य हैं? फिर भी प्रत्येक महापुरुष मोक्षप्राप्ति के लिए प्रयास करने को कहता है ना? फिर द्वेष छोड़िए, किंतु अकर्मण्य न बनें– ऐसा मैं जब कहता हूँ, तब उसका विरोध क्यों? द्वेष न छोड़ने का यह दुराग्रह क्यों? वैसा प्रयास भी न करने का आग्रह क्यों?

इसका एक ही कारण हो सकता है कि कोई एक महापुरुष हमें जहर खाने की आज्ञा देता है तो वह चुपचाप मानता है। दूसरे किसी ने यदि जहररहित रोटी भी अति आदर के साथ दी, तो हमारे मन में हिचकिचाहट पैदा होती है। बहुतों को यह अनुभव आया होगा। मैं यह सब बता रहा हूँ, इसलिए यह कौन होता है धर्म बतानेवाला, ऐसा भाव मन

में आता होगा। उपदेश करने का मुझे अधिकार नहीं, यह बात सच है। उसमें भी तुमको उपदेश करना, याने केवल मजाक है। फिर भी उपदेश करने का जिसका अधिकार है, ऐसा मेरा दृढ़ विश्वास है, ऐसे ही किसी एक ने मेरे विचार को दिशा प्रदान की है। उस कारण जो मुझे दिखता है, वह वास्तव में दिखता नहीं, दिखाया जाता है, ऐसा कहना उचित होगा। वह मैंने तुम्हारे सामने रखा, उसके लिए कारण है। भले ही किसी को न बताया हो, उसके लिए भी एक कारण है, क्योंकि तुम मुझे जितने नजदीकी लगते हो वैसे अन्य नहीं लगते। यह संभवतः गौरव होगा, किंतु वह वैसा ही है। मुझे ऐसा लगता है कि जो मुझे प्राप्त हुआ, वह तुम्हें भी प्राप्त होना चाहिए। इसीलिए यह सब प्रयास। किंतु स्वतंत्र विचारों को मेरे विचारों से बाधा निर्माण न होने दें। बिल्कुल निष्पक्ष रीति से, सारासार विचार करते हुए तुम्हारी व्यवसायात्मिक बुद्धि को यदि जँचता है तो ही उसे स्वीकार कर, मुझ जैसे अप्रबुद्ध व्यक्ति ने कहा इसलिए त्याज्य मत ठहराना। 'बालादपि सुभाषितं ग्राहह्यं' ऐसा सुभाषित है। फिर मूर्ख होने के बावजूद मेरे मन में कोई अच्छा विचार आएगा ही नहीं, यह हम किस आधार पर मान सकते हैं? ईश्वर की लीला अपरंपार है। कभी-कभी कोयले में भी कोहिनूर मिल जाता है। अब बहुत हुआ, अन्यथा कहोगे 'क्या बकबक लगा रखी है मूर्ख ने।'

अब बहुत रात हो गई है– थोड़ा सुबह, थोड़ा दोपहर और बाकी रोज रात में, ऐसा करते हुए इतनी लंबी बकबक लिखी है। शेष प्रश्नों के उत्तर कल अथवा नया कुछ। नमस्कार, सुबह फिर मिलेंगे।

<u>८ फरवरी १९२९</u>

सुबह लिखना संभव न हुआ। एक बच्चों जैसी बात करने वाला आकर बैठ गया था। उसकी बातों में कोई अर्थ नहीं था। मन ऊब गया था, फिर भी उसे जाने के लिए नहीं कह सका। इसी में बारह बज गए और भोजन के झंझट में लग गया। अब थोड़ा समय मिलते ही कल का सूत्र आगे बढ़ाता हूँ।

अब हम अपनी विशेषता का विचार करें, किंतु यह विषय इतना व्यापक है कि उस पर अनेक ग्रंथ लिखने पड़ेंगे। ऐसे ग्रंथ लिखने के लिए पहले पूरे विश्व का इतिहास, राजकीय, सामाजिक और धार्मिक विषयों का अध्ययन करना होगा। फिर कन्फ्युशस के नीति तत्त्व, ग्रीक, रोमनों का

तत्त्वज्ञान, ख्रिस्त, मुहम्मद और बुद्ध के धर्म-विषयक ग्रंथ पढ़ने पड़ेंगे। अंत में अपने आर्य धर्म के सांख्य और वेदांत के ग्रंथ ध्यान में रखने होंगे। मेरा इन सब विषयों का ज्ञान कितना है, यह कहने की जरूरत नहीं है। फिर मैं संभवतः लंबे-चौड़े पत्र लिख सकूँगा। कदाचित् महाराष्ट्र विद्यार्थी संघ के 'अज्ञात' त्रैमासिक में लेख भी लिख सकूँगा किंतु ग्रंथ? एक छोटी-सी पुस्तिका लिखने तक की मेरी योग्यता नहीं, तब ग्रंथ तो बहुत दूर रहा। यह काम बाबू तैलंग जैसे हिंदू धर्म के किसी आधारस्तंभ के ही लायक है। उसके लिए वह संभव है, मेरे लिए नहीं।

फिर भी तुमने पूछा है, इसलिए बताता हूँ– यह केवल सूचनात्मक होगा, आगे का विचार प्रत्येक ने अपना करना चाहिए। अपना वैशिष्ट्य और संस्कृति– इन दो शब्दों का प्रयोग करने की कोई आवश्यकता नहीं है। अपनी संस्कृति ही अपना वैशिष्ट्य है, अर्थात् वैशिष्ट्य में अन्य कई चीजों का समावेश हो सकता है, किंतु मुख्य वैशिष्ट्य संस्कृति ही है।

अपने हिंदुओं में अन्य लोगों से कुछ अलग गुण हैं। अपनी मनोरचना भी अलग है। अपने आचार-विचार भी अलग हैं। ग्रीस में सौंदर्योपासना प्रमुख थी, वेदांत कम महत्त्वपूर्ण था। रोम में शारीरिक और राजनैतिक (इसमे व्याख्यान, कला, निर्बंध आदि का समावेश होता है) ये महान गुण समझे जाते थे। उसके कई वर्ष पहले से अध्यात्म, देवताओं की उपासना आदि सद्गुण प्राप्त करना मनुष्य का कर्तव्य है– ऐसा हिंदुस्थान में माना जाता था और यही हमारे सर्वोत्कृष्ट वेदों, उपनिषदों, सांख्यकारिका में परिणत हुआ। उससे मनुस्मृति आदि सामाजिक शास्त्रों का जन्म हुआ। उसी से पारलौकिक कल्याण प्राप्त करने की आकांक्षा लोगों के मन में वास करने लगी। (आज कुछ भी लिखना नहीं हुआ। क्षमा करो। बहुत नींद आने से कुछ सूझता ही नहीं। रात भी हुई है। यहीं रुकता हूँ, बाकी कल)।

<u>६ फरवरी १९२९</u>

यही आकांक्षा अपनी विशेषता है। इस आकांक्षा को जो भी पोषक होगा, वह हमको करना चाहिए। विश्व में यह अलग है, यह तो दिखता है। पाश्चात्य राष्ट्र आधिभौतिक हैं। पौर्वात्य चीन, जापान भी आधिभौतिक बने हैं। पाशवी वृत्ति अभी भी पौर्वात्य महमदियों की विशेषता बनी हुई है। आध्यात्मिक उन्नति केवल हिंदुओं की ही विशेषता है और हजारों वर्षों के बाद भी उसमें कमी नहीं आई है, किंतु इन दिनों पाश्चात्यों की चकाचौंध

करनेवाली आधिभौतिकता ने हम पर अपना प्रभाव डाला है। उस कारण हमारा अध्यात्मवाद पिछड़ गया। यह होने देना है क्या? हम इसका विचार करें।

आधिभौतिक विकास बुरा है क्या? यह प्रश्न प्रारंभ में ही उपस्थित होता है। निवृत्तिमार्गी या संन्यासमार्गी इसका उत्तर 'हाँ' में देते हैं। प्रवृत्तिमार्गी आधिभौतिक ज्ञान प्राप्त करते हुए उसका लाभ लेने की बात कहते हैं। मुझे ऐसा लगता है कि प्रवृत्ति-मार्ग ही उचित है। फिर दूसरा प्रश्न खड़ा होता है कि पाश्चात्य विचारों को कैसे रोका जाए? इसका उत्तर यह है कि जब तक पानी का प्रवाह फसल के लिए लाभदायक है, तब तक उसे बहने देना चाहिए, किंतु जब वह घातक सिद्ध होता है, तब उसे रोकना चाहिए। उसका भी एक अपवाद होता है, जब पानी रोकना खतरनाक हो जाता है। क्योंकि, कभी ना कभी दबाव बढ़कर बाँध फूटे बगैर रहता नहीं और वह बाँध फूटा तो चारों ओर बाढ़ आएगी, सारा सत्यानाश होगा। यह संकट टालने के लिए पानी को रोकना तो चाहिए, किंतु उसको निकलने के लिए रास्ता भी देना चाहिए। वह ऐसा होना चाहिए कि दबाव बढ़ने के कारण कितना भी प्रभावी प्रवाह हो, वह बाजू से निकल जाए। अपनी फसल को लाभ हो, इस सावधानी से यदि उसका उपयोग किया तो ही वह लाभदायक सिद्ध होगा।

उसी तरह इन पाश्चात्य विचारों के संबंध में हमको सोचना चाहिए। पूरी तरह निर्बंध डालना अहितकारक सिद्ध होगा। यदि स्पृश्यास्पृश्यता के संबंध में रूढ़ि ने इतने कठोर निर्बंध न किए होते, तो सारे राष्ट्र को विनाश की ओर ले जानेवाला ब्राह्मण-अब्राह्मणवाद निर्माण ही नहीं होता (ये निर्बंध शास्त्रकारों ने नहीं लगाए। मुझे तो मनुस्मृति में अस्पृश्यता के लिए एक छोटा आधार भी नहीं मिला)। इसीलिए पूरी आधिभौतिक प्रगति तो करना ही चाहिए, किंतु ऐसी कुशलता से कि अपना अध्यात्मज्ञान बढ़े।

हमारी विद्यमान शिक्षा-प्रणाली का परिणाम यह हुआ है कि कई युवा विद्यार्थी हमारे अध्यात्मज्ञान को झूठ मानने लगे हैं। बहुत दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। बकबक करनेवाले कल के सज्जन मेरी ही आयु के हैं। उन्होंने चेन्नै विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त की है। अभी-अभी सुबह बात करते समय वह कहने लगा 'You believe in God ! I don't! I have never seen, How can I believe in any such thing ? It is foolish to believe, How can you? why do you?' मैंने उदाहरण के तौर पर उसे बाइबिल का Blessed are they who have not seen and yet believe यह वाक्य सुनाया।

तब वह कहने लगा 'They may be blessed but how can anyone believe?' मैंने उसे बिलकुल गंभीरता से कहा 'Then you must be a great man.' उसको वह लगा। फिर भी उसकी बकबक शुरू ही थी। यहाँ एक उदाहरण दिया है, किंतु ऐसे अनेक उदाहरण होंगे। जो विद्यार्थी इसलिए विश्वास करते हैं (वह प्रायः अंधविश्वास होता है), क्योंकि अपने पूर्वजों ने विश्वास किया है, इसलिए। किंतु वह सत्य है– ऐसा उनको आभास भी नहीं होता, पढ़ना तो दूर रहा। उनको जो आधिभौतिक है, वही पटता है। उसकी जगमगाहट पर वे झूमने लगते हैं। वही सब कुछ है, ऐसा उनको लगता है। आजकल समाज में नैतिक बंधन कितने ढीले हुए हैं, यह किसी भी चतुर व्यक्ति के ध्यान में आता है। इससे अधर्म का प्रारंभ हुआ। विशेष रूप से हमारा युवा वर्ग बंदर छाप बन रहा है। पश्चिम से आई हुई चीज हो या विचार, वही अच्छा है– ऐसा उनको लगता है। इधर राजनैतिक स्वतंत्रता के लिए कुछ महात्मा उद्विग्न हो रहे हैं और यह युवा वर्ग, जिनपर देश का उद्धार करने की जिम्मेदारी है (होना भी चाहिए) पश्चिमी आचार-विचार के दास बन गए हैं। जो मन से परतंत्र हैं वे कभी भी स्वतंत्र नहीं हो सकते, ऐसी परिस्थिति है।

क्या आधिभौतिक प्रगति अध्यात्मज्ञान के विरूद्ध है? वह तो पोषक है। किंतु यह सब उपयोग करने पर और करनेवालों पर निर्भर है। यह भी सच है कि भौतिक ज्ञान जैसे-जैसे परिणित होता जाएगा, वैसे-वैसे अध्यात्म विचार प्रबल होगा, किंतु यह हो गई भविष्य की बात। आज और अगले पचास साल आधिभौतिकता की शरण लेनेवाले अध्यात्मज्ञान से वंचित रहेंगे।

यह संस्कृति किसमें है, यह बताना बड़ा मुश्किल है। संक्षेप में कहा जाए तो छोटी लड़कियों की फुगड़ी (महाराष्ट्र में लड़कियों का गीत युक्त खेल –सं.), युवतियों की लज्जा व विनय से लेकर बूढ़ी महिलाओं के गंभीर धार्मिक व्यवहार तक, बच्चों के 'आट्यापाट्या', 'खो-खो' से बूढों की धोती, उत्तरीय तक संस्कृति ही होती है। बच्चों ने खो-खो को 'खो' देकर, फुटबॉल को लात मारना शुरू किया कि संस्कृति को भी लात मारना प्रारंभ होता है। लड़कियों ने फुगड़ी छोड़कर रस्सी लेकर कूदना प्रारंभ किया कि संस्कृति भी कूदते हुए आगे निकल जाती है। धोती छोड़कर पतलून पहना कि संस्कृति का पेट कस जाता है।

दिखने में बहुत ही मामूली बातों को संस्कृति जैसे गंभीर विषयों

से जोड़ना किसी को हास्यास्पद लग सकता है। यह मूर्खता है, ऐसा भी वह कह सकता हैं। किंतु घोड़े को नाल ठोकते समय एक कील भी कम पड़ी, तो कभी-कभी युद्ध में हार खानी पड़ती है। तीसरे रिचर्ड पर अर्ल ऑफ रिचमांड (जो आगे जाकर चौथा या पाँचवाँ हेनरी नाम से मशहूर हुआ) ने हमला किया था। उस युद्ध में रिचर्ड का घोड़ा मारा गया। वास्तव में वह बड़ा शूरवीर था, किंतु अपने घोड़े के लिए शोक करता हुआ, युद्धभूमि पर भटकता रहा। अंत में केवल एक घोड़े के लिए मारा गया। यह बात छोटी दिखती है, किंतु इसकी ओर सावधानी से देखना चाहिए। ये छोटी-छोटी बातें झट से बदलती हैं। पहले तो कुछ लगता नहीं, किंतु बाद में उसकी तकलीफ होती है। जापान का उदाहरण लीजिए। बेचारा वह राष्ट्र जब पश्चिमात्यों के अधीन हो गया, तब कहीं उनकी आँखें खुलीं। अब वे पहनने के कपड़े से लेकर सही मार्ग पर आने लगे हैं। यदि पहले ही यह सावधानी बरती होती तो?

'प्रक्षालनाद्धि पङ्कस्य दूरादस्पर्शनं वरम्' वहाँ छोटी-छोटी बातों से ही प्रारंभ हुआ। प्रारंभ में कपड़े बदले, बाद में आचार-विचार। अब वहाँ मध्यम वर्ग के लोगों को चार पैसे कमाना मुश्किल हो रहा है। लड़कियाँ २८-३० वर्ष की होती हैं, तब कहीं उनका पोषण करनेवाला वर मिलता है। इसीलिए हमने अभी से सावधानी नहीं बरती तो हम अपनी पुरानी सुंदर संस्कृति से वंचित होंगे।

अपनी ही संस्कृति अच्छी है-- ऐसा कहकर कूपमंडूक वृत्ति से दूसरों की संस्कृति के लिए दरवाजे बंद करें क्या? ऐसा प्रश्न भी सामने आता है। यह तो मानना ही होगा कि कभी-कभी विश्व के सब लोग एक होंगे, सबकी भाषा और संस्कृति भी एक होगी। तो अब प्रारंभ हुआ यह एकीकरण क्या बंद करें? इसका उत्तर यह है कि इसे एकीकरण नहीं कहा जा सकता। वह निम्नस्तर की संस्कृति द्वारा उच्च स्तर की संस्कृति को खदेड़ना होता है। यदि अपनी प्रगतिशील संस्कृति को धक्का न लगाते हुए, उसको अधिक उज्जवल करने के लिए जो-जो कारणीभूत होगा, वह सब लेने का प्रयत्न हो और उसी के साथ यह भी ध्यान रखना होगा कि हमें अपनी संस्कृति शेष विश्व को सिखलानी है। वह तभी संभव होगा, जब हम उसकी पवित्रता अक्षुण्ण रखेंगे, अन्यथा लोग कहेंगे कि ऐसी क्षणिक, व्यभिचारिणी संस्कृति किस काम की? अपने ही पास रखो। मैंने उपर

'अधर्म' शब्द का प्रयोग किया है। उसका अर्थ जरा सँभाल के ही लेना होगा, अन्यथा अस्पृश्योद्धार अधर्म है– ऐसा कोई कहेगा। धर्म, याने वैदिक यज्ञ आदि या स्मृति द्वारा बताए हुए यम और नियम, इनको कड़ाई से पालन करना, इस रूढ़ अर्थ में लिया जाता है। हम धर्म, याने कर्तव्य (करने लायक योग्य कृत्य) ऐसा अर्थ लें। किंतु उचित क्या है? वह कौन निश्चित करेगा? सभी को करना चाहिए, किंतु व्यावहारिक बुद्धि का उपयोग करेंगे, तब कोई समस्या नहीं रहेगी।

इसका अर्थ यही है कि हमारी संस्कृति हमारी छोटी-छोटी बातों में भरी हुई है। बाहर से जो लाना है वह सावधानी से, कुशलता से लाना होगा, जिससे अपने मूल पर आघात न हो, अपितु उसका परिपोष हो, इस दृष्टि से उसका उपयोग करना होगा। जब सारा जग एकरूप होगा, ऐसा वह सुवर्ण दिन भविष्य में उगने तक हमें अपनी पवित्रता बड़ी दक्षता से सँभालनी होगी।

यह विषय बहुत व्यापक होने के कारण इस छोटी-सी जगह में उसका विवेचन करना असंभव है। फिर भी विचार करने के लिए कुछ भी नहीं, ऐसी स्थिति भी नहीं है। मैंने यह एक मानचित्र दिया है। उसके आधार पर मकान बनाना संभव है। झोपड़ी तो निश्चित ही बन सकती है।

मैंने 'अपने' इस शब्द में हिंदू संस्कृति का अंतर्भाव क्यों किया है? कारण 'पौर्वात्य' शब्द में अनेक संस्कृतियों का मिश्रण आता है। 'हिंदी' नाम की कोई भी संस्कृति नहीं है, होगी तो वह हिंदू ही है। कारण मुसलमान संस्कृति अरबस्तान के रुक्ष और वालुकामय प्रदेश से यहाँ आई है। 'मराठी' यह हिंदू का एक भाग है। हिन्दू जाति को विभाजित करना उचित नहीं है, इसलिए मैंने उसका उल्लेख नहीं किया। यदि आवश्यक हुआ तो अगले पत्र में उल्लेख करूँगा। पश्चिमी लोग oriental cultures कहते हैं, किंतु वह गलत है। oriental cultures : Indian and Mongolian, Chinese and Mohamaden ऐसा कहना चाहिए। महमदी culture यह शब्द थोड़ा हास्यास्पद लगता है। महमदी को barbarism कह सकते हैं।

कुछ दिन पूर्व बंगलौर में दंगा हुआ। बंगलौर मैसूर राज्य में है। उस दंगे की जाँच करने के लिए मैसूर सरकार ने एक आयोग नियुक्त किया। सर एम.विश्वेश्वरय्या आयोग के अध्यक्ष थे। उन्होंने बहुत परिश्रम करके सरकार को देने के लिए एक प्रतिवेदन तैयार किया। उस प्रतिवेदन

में कुछ स्थानों पर कहा है कि 'मुसलमान लोगों का अत्याचार करने का स्वभाव ही है, कारण ढूँढने में वे चतुर हैं। जल्दी ही हाथापाई पर उतर आते हैं।' 'जस्टिस' पत्र के संपादक श्री रामस्वामी मुदलियार ने यह पढ़ा। मुदलियार अब्राह्मणों के प्रमुख नेता हैं, विद्वान भी हैं, अच्छा लिखते हैं, किंतु दृष्टिकोण संकुचित है। दूरदृष्टि होते हुए भी वह कुछ काम की नहीं। सर विश्वेश्वरय्या केवल ब्राह्मण हैं, इसलिए श्री मुदलियार उनके विरुद्ध उखड़े। उसमें उन्होंने एक महत्त्वपूर्ण वाक्य का उल्लेख किया है। उन्होंने कहा, 'मुसलमान भाइयो, इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण आपके शत्रु हैं। उनको ठिकाने लगाएँ। क्योंकि ब्राह्मण इनके भी कट्टर शत्रु हैं।' अब देखिए, हिंदू-ब्राह्मण इनके शत्रु हैं, उनके प्रति कोई सहानुभूति नहीं और यह मुसलमान, जो इनके बाल-बच्चों को, स्त्रियों को भगाते हैं, वे वीर हैं। देवमूर्ति भ्रष्ट करनेवाले, देवतुल्य गोमाता को काटनेवाले मुसलमान उनके बंधु हैं। मनुष्य में जब स्वार्थ का संचार होता है, तब वह कौन सा पाप नहीं करता? कौन सी मूर्खता नहीं करता? सरकारी नौकरियों से इनका स्वार्थ है, यह पहले पत्र में लिखा ही है। उसके लिए वे कितना अधःपतन स्वीकार करते हैं?

यहाँ की कॉर्पोरेशन सायमन साहब को आदरपूर्वक सम्मान-पत्र अर्पण करेनवाली है। सारे अब्राह्मण नेता और जनता बहिष्कार के खिलाफ है। बहिष्कार, याने सायमन कमीशन का। राष्ट्रसभा का उन्होंने पहले ही बहिष्कार किया हुआ है। ब्राह्मणों की मुसलमानो से शत्रुता है, अन्य हिंदुओं के वे दुश्मन हैं। यह दोनों मिलकर ब्राह्मणों को पीटेंगे। फिर अब्राह्मण हिंदुओं पर भी उनका उपद्रव होगा। जब स्वार्थ की पट्टी आँखों पर बँध जाती है, तब सूर्यप्रकाश का सत्य कैसे दिखेगा? मुसलमान उनसे प्रामाणिकता से घुल-मिलकर व्यवहार करते हैं, तब तो ठीक होता, किंतु स्थिति ऐसी भी नहीं है। वे अपने स्वार्थ के कारण उनके साथ हैं। स्वार्थ पूरा होने तक भाई, मीठी-मीठी बातें, उसके बाद 'काफिर साला' है ही। किंतु अब्राह्मण हिंदुओं को यह कहाँ दिखता है? और उनको कौन बताए? Well they are non-Brahmins इसीलिए वे मुसलमानों को अपने ही वर्ग में मानते हैं। 'ज्ञान-लवदुर्विदग्धं ब्रह्मापि नरं न रञ्जयति' और 'सर्वस्यौषधमस्ति शास्त्रविहितं मूर्खस्य नास्त्यौषधम्' भर्तृहरि के यह वचन इनको देखने के बाद याद आते हैं।

१० फरवरी १९२९

मुसलमानों को 'भाई' नहीं कहना चाहिए या उनके साथ निरंतर झगड़ना ही चाहिए, ऐसा मैं नहीं कहना चाहता। किंतु यह भाई भोले-भाले विश्वास का लाभ उठाते हुए ऊपर से 'काफिर साला' कह कर सीने पर बैठने लगे, तो वह किस स्वाभिमानी व्यक्ति को उचित लगेगा? किंतु पहले स्वाभिमान तो होना चाहिए? वैसे, मुसलमान जैसे नागपुर में हैं या दिल्ली में, वैसे ही यहाँ भी हैं। पलाश वृक्ष को तीन पत्ते यहाँ भी लगते हैं ना? हिंदू-मुसलमानों के परस्पर संबंधों के बारे में मेरे जैसे व्यक्ति से अधिक जानकारी रखनेवाले, तुम्हारे जैसे मित्र को अधिक स्पष्टीकरण की आवश्यकता नहीं है। यदि आवश्यकता है, तो भी अभी नहीं। इतने पर ही क्षुधाशांति करनी चाहिए।

तुमने लिखा है कि आजकल Vacant Mood है, इसका क्या कारण है भाई? स्वास्थ्य तो ठीक है ना? घर के समाचार भी ठीक हैं ना? यदि उपरोक्त कारण न हो, तो एक बात हो सकती है– प्रत्येक मनुष्य के जीवन में एक परिवर्तन का काल आता है। तब या तो वह ऊपर चढ़ता है या फिर नीचे आता है। नीचे आने के पूर्व वह उच्छृंखलता के आनंद में रहता है और ऊपर चढ़ने के पहले उद्वेग, निराशा, दुःख आदि उसके हिस्से में आते हैं। इस समय की मनःस्थिति उसी तरह की हो सकती है। इसे 'संक्रमण काल' कहा जाता है। उसमें से बाहर आने के बाद एक महान पुरुष मेरे सामने खड़ा होगा। अहोभाग्य है मेरा! मैंने कितनी दूरदृष्टि से महानता के इस बीज को ढूँढ निकाला है?

यह सब विचार यदि मेरे सामने उगलने लगे तो वह साफ करने के लिए मैं क्या सफाई कर्मचारी हूँ? किंतु ब्राह्मण का जूठा साफ करने को भगवान श्रीकृष्ण ने भी पुण्यकर्म माना है। फिर मुझे भी महान पुरुष द्वारा की हुई गंदगी साफ करने में कोई आपत्ति नहीं। बल्कि यह मेरा सम्मान ही होगा।

अभी भावनाएँ दूर रखने का समय नहीं आया क्या? अब विचार को प्रधानता देते हुए विकार को नियंत्रण में रखना होगा। क्या संध्या करते हो? यदि स्नान नहीं किया, तब भी हाथ-मुँह धोकर श्री गायत्री जप करते जाओ। फिर देखो प्रसन्नता अनुभव होती है या नहीं? थोड़ा-सा ईश्वर गुणगान, थोड़ी-सी पढ़ाई, थोड़ी-सी ध्यान-धारणा और बने उतना कर्म,

यह करने के बाद 'स शांतिमधिगच्छति।' अस्तु, मैं उपदेश क्या कर सकता हूँ? किंतु ऐसी मनःस्थिति में, मैं यही दवाई करता हूँ, उसका लाभ भी होता है। अपने अनुभव के आधार पर यह दवाई सुझाई है। उससे भी यदि नहीं चलता तो पर्याप्त व्यायाम करो, पर एकांत टालो। इसका अर्थ यह नहीं कि चाहे जिसके साथ बैठकर निरर्थक गप्पें लगाते रहो। केवल जिससे अपने विचार मिलते हों, गपशप लगाओ।

अब आधा फरवरी बीत चुका है। दो माह के बाद परीक्षा आरंभ होगी। उसमें बैंडबाजा मत बजने देना। हरेक विषय में अच्छी तरह से उत्तीर्ण होना चाहिए। यदि नहीं हुए तो मैं क्षमा नहीं करूँगा। अभी बहुत समय है। यदि बहुत कमजोरी महसूस होती हो, तो ओवलटीन लो। सुबह एक कप और सोते समय एक कप। एक सप्ताह में अच्छा लगने लगेगा। अकारण दवाई मत लेना। चाय थोड़ी ही लेना। रात्रि-जागरण एकदम बंद। जो भी कुछ करना है, दिन में करो। तड़के तीन बजे जगने का प्रयास करो, किंतु रात्रि में नौ या दस बजे सो जाना चाहिए। किसी मित्र को पकड़ो और तड़के उठो। सुबह छः-सात बजे तक अध्ययन में जुटो। पहले-पहल ठीक नहीं लगेगा। यदि नींद आती हो तो एक कप चाय पीकर किताब से भिड़ पड़ो। तड़के सीधे कुर्सी पर बैठकर अध्ययन करना चाहिए। रोशनी बायीं ओर थोड़ी उँचाई पर रखो (किताब पर भी चलेगी)। यदि बिस्तर में लेटकर पढ़ोगे तो नींद का झोंका आने लगेगा। इस बारे में सजग रहो। यदि कोई सहयोगी नहीं मिले तो थोड़ा जोर से पढ़ो। बीच-बीच में जो पढ़ा है, उसका सारांश लिखते जाओ। यदि खुद की टिप्पणी लिखकर रखी, तो वह परीक्षा के समय काम आती है। खुद की टिप्पणी के समान दूसरी कोई महत्त्व की चीज नहीं होती, यह निरंतर ध्यान में रखना होगा। यह छोटी-छोटी बातें तुम्हारी समझ में आती नहीं होंगी ऐसी बात नहीं है। फिर भी ऐसा लगा कि तुमको वह बताऊँ, इसलिए बताया। हाँ! स्मरणशक्ति कम होती जा रही है, वैसा नहीं होना चाहिए। संभवतः शीर्षासन काम में आएगा। करके तो देखो और गायत्री मंत्र वह तो मस्तिष्क की सब बीमारियों पर रामबाण दवाई है।

मजेदार बात यह है कि मुझसे यह सब प्रश्न करना, याने नंगे के पास जाकर ठंड से बचाव करने के लिए कुछ माँगने जैसा है। उदासीनता के ऐसे दौरे मुझे बार-बार आते रहते हैं। तब उनसे बचने के लिए मैं ऊपर लिखे हुए उपाय करता हूँ। प्रायः उसका लाभ होता है, किंतु नहीं हुआ तो

श्री देसाई को पत्र लिखता हूँ। फिर वे उत्तर भेजते हैं। उसमें कुछ विशेष रहता है, ऐसी बात नहीं, किंतु उससे उनकी समीपता का लाभ मिलता है और चित्तशांति होती है। ऐसा क्यों होता है, यह कहने में मैं असमर्थ हूँ। किंतु यह सच है कि उनके समीप रहने से कभी भी उदासी नहीं आती, वही परिणाम उनके पत्र से भी होता है।

कल मैंने अपना वजन किया। इने तीन सप्ताह में वजन थोड़ा भी कम नहीं हुआ। वजन बढ़ाना मेरे लिए कठिन है। शरीर मोटा होने के अनुकूल नहीं। वजन बढ़ा न हो, तब भी स्वास्थ्य ठीक है। शरीर में उत्साह है। स्वास्थ्य को लेकर कोई रोना-धोना नहीं है। इसलिए मेरी चिंता करने का कोई कारण नहीं। कुछ कम-अधिक हुआ तो भी मेरे स्वास्थ्य की चिंता करने के लिए मैं समर्थ हूँ। मैं 'यदि नहीं रहा' तो एक-दो को छोड़कर मेरा और कोई नहीं है। उन एक-दो में तुम नहीं हो। सबसे प्रमुख वह है जिसने 'तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' ऐसा प्रकट आश्वासन दिया है। वह केवल मेरा ही नहीं, सब सृष्टि व विश्व का पालनहार है। ऐसा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान, प्रेम करनेवाला तारणहार अपने साथ होने के बाद चिंता किसलिए? मेरी चिंता उसी को है। मैंने उसी पर सब सौंप दिया है। उसको जैसा लगेगा, वैसा करेगा। किंतु जो करेगा, वह उचित और इष्ट ही होगा, ऐसा मेरा दृढ़-विश्वास है। अर्थात् जो होगा, वह होगा, किंतु प्रयास करना मैंने छोड़ा नहीं है। यदि वैसा किया तो 'नित्याभियुक्तानां' इस श्रेणी में मेरा समावेश नहीं होगा। स्थिरता लाने का प्रयास शुरू ही है।

प्रो. इनामदार का नाम अंग्रेजी में लिखने का क्या कारण था? एक भी भाषण न छोड़ें, ऐसा भाषण क्वचित ही सुनने को मिलता है। Phsysiology of plants और Evolution, Heredity यह विषय समझाने में वे तज्ञ हैं।

श्री गोपालराव का पत्र उन्हें पहुँचाने के लिए मैं तुम्हारा अत्यंत आभारी हूँ। कल उनका उत्तर भी आया। उसमें उन्होंने कहा कि श्री देशमुख आजकल बहुत अप्रिय बने हैं। यह क्यों हुआ, उसका कारण उन्होंने नहीं बताया। कृपया मुझे सूचित करें। मुझे लगता है कि वह सदा से ऐसा ही है। उसकी एक विशिष्ट मनोवृत्ति है। उससे पटने के लिए उनके जैसी ही मनोवृत्ति होनी चाहिए या किसी से भी पटने की मनोवृत्ति चाहिए?

ि ि ि

पत्र क्रमांक ४

मत्स्यशाला,
२८ फरवरी १६२६

हे मित्र!

जिस दिन तुम्हारा पत्र मिलता है, वह दिन मेरे लिए त्यौहार होता है। किंतु यह पत्र बिल्कुल ही सूखा-सा है। स्नेहार्दता मिलने की मुझे जो अपेक्षा रहती है, उसका अंश भी उसमें नहीं है। यह पत्र तुम्हारी महानता का एक उदाहरण ही है।

बाळ का पत्र मुझे भी मिला है, किंतु उसका उत्तर दिया या नहीं, इस संबंध में मुझे शक है।

घड़ी खरीदी, यह अच्छा हुआ, किंतु उसका उपयोग यदि कमरे की शोभा बढ़ाने के लिए ही होता है, तो मैं कहूँगा कि वह धन का अपव्यय मात्र ही है।

श्री देसाई के संबंध में मुझे श्री अलाटे और स्वयं उनके द्वारा पूरी जानकारी मिली है। उनको त्रैमासिक पढ़ने के लिए दिया, यह बहुत ही अच्छा हुआ। उसमे मेरा लेख और कविता है। उनको अपनी प्रतिक्रिया भेजने के लिए कहो।

श्री देसाई की चिंता करने का कोई कारण नहीं। वाह! मैं उनकी चिंता करूँ? उनको मेरी चिंता करनी चाहिए। उनकी चिंता करने की मेरी योग्यता नहीं।

उदाहरण ठीक है, किंतु स्वयं उल्टा-सुल्टा करने के पश्चात् मुझे पूछने की आवश्यकता ही क्या है? केवल दो प्रकार के लोगों में जो भेद है, वह ध्यान में लेकर व्यवहार करना चाहिए। एक भावनाओं के अधीन होकर प्रतिकार करता है और दूसरा भावनाओं को अपने नियंत्रण में रखकर करता है। अब विरोध करना या नहीं करना, यह परिस्थिति पर निर्भर रहता है। न करने से यदि कुछ बिगड़ता न हो और लोगों के मन में विकल्प भी निर्माण न होता हो, तब शांति और क्षमा का प्रदर्शन ही उचित रहता है, किंतु आसपास के लोग यदि मूर्ख और अविचारी हों, तब विरोध करना ही उचित होगा, अन्यथा सब 'जाने दो' कहना होगा और स्त्रैणता आएगी। जिसके मन में क्रोध व द्वेष न हो, वह मुनष्य श्रेष्ठ होता है। परंतु

वैसा न होते हुए साधारण लोगों के मन में व्यामोह उत्पन्न न हो, इस दृष्टि से जो व्यवहार करता है, वह श्रेष्ठतम होता है। 'न जनयेद् बुद्धिभेंद अज्ञानां।'

शाबाश! केवल विचार पर विश्वास रखने से मनुष्य कहीं नास्तिक बनता है क्या? मुझे नहीं लगता। केवल अपरिपक्व विचार ही जहाज जैसा भटककर अंत में संभ्रम के पत्थर पर जा गिरता है और नास्तिकता में उसका अंत होता है। अपना सारा वेदांत केवल विचारधारा पर ही खड़ा है, विश्वास या श्रद्धा पर नहीं। फिर भी वह ईश्वर तक जा पहुँचा है, क्योंकि वह अत्यंत तर्कपूर्ण है, अर्थात् मैं केवल विश्वास पर ही निर्भर हूँ, किंतु मेरा विश्वास पूरा है। अतः वह विचलित होनवाला नहीं है।

एक विरोधाभास बताता हूँ। वेदांत के (या भावना के?) आधार पर तुमने यह मूल्यवान हीरा खोज निकाला या द्वेष से। विकाराधीन किया गया कर्म, कर्म ही नहीं होता, यह सत्य है। लेकिन वास्तविकता इसके विपरीत है। द्वेष से या विकाराधीन होकर किया गया कर्म ही वास्तव में कर्म है और इसी कारण वह शरीर को लिप्त करता है, आत्मा को बाँध लेता है। 'कुर्वन्नपि न लिप्यते, न किंचित करोति सः' का अर्थ यह है कि समबुद्धि से कर्तव्य के नाते किया हुआ कर्म न करने जैसा ही है, अर्थात् वह कर्म नहीं है। अविचार से लिखने बैठने पर गीता की जानकारी होने के बावजूद ऐसी बड़ी गलतियाँ होती हैं।

'कर्तव्य के नाते ही कर्म करने का प्रयास करना चाहिए' यह कहना तो चतुराई की राजनीति है। भले आदमी! प्रयास करना चाहिए, याने कुछ भी न करते हुए, मैं प्रयास कर रहा हूँ, ऐसा कहना होगा। बहुत खूब! निश्चय करना चाहिए और उसको निभाने का हर संभव प्रयास करना, यही मैं उचित मानता हूँ। प्रयास करना चाहिए, ऐसा कहकर भाग जाने से कौन सा प्रशंसा करनेवाला काम होगा, यह मेरी अल्पबुद्धि के लिए अगम्य है।

सवाल बहुत ही मजेदार हैं, किंतु उन सबके उत्तर देना, याने समय की बरबादी होगी। एक ही बात ख्याल में रखनी होगी कि अपनी संस्कृति किस में है और उसके लिए पोषक क्या है, उसका चयन करना होगा। जैसे केले के पत्ते पर भोजन करना और चाँदी के थाली में भोजन करने का उदाहरण लें। चाँदी की थाली में भोजन करना अच्छा होता है, ऐसा शास्त्रकार और आयुर्विद बताते हैं। केले का पत्ता तो सर्वोत्तम है। अब

रोजाना हमें ये पत्ते मिल सकते हैं क्या? चाँदी तो बहुत महँगी है, वह कैसे मिलेगी? फिर हम क्या करते हैं? पीतल की थाली को कलई कर रोजाना उसका ही उपयोग करते हैं। टूथब्रश का भी वैसा ही है। मैं या नागपुर के कई लोग रोजाना दातुन प्राप्त नहीं कर सकते। राख या उँगली पूरी पड़ती नहीं। इसलिए रोजाना साफ करते हुए ब्रश का प्रयोग करें।

प्रतिदिन स्नान स्वच्छता के लिए है, अर्थात् स्नान करने की अपेक्षा स्वच्छता का अंतर्भाव संस्कृति में है। दिखाऊँ नवाबशाही, याने स्वच्छता नहीं। सच्ची स्वच्छता चाहिए।

बालों के संबंध में कुछ विशेष सूचनाएँ हैं, ऐसा दिखता नहीं। केवल इतना ही बताया है कि चोटी चाहिए। आजकल की पद्धति के अनुसार बाल काटने पर छोटी हो, पर होनी चाहिए। इस्लामी मुंडन नहीं चलेगा। इस तरफ तो चोटी इतनी बड़ी और लंबी होती है (केवल ब्राह्मणों और अशिक्षितों में) कि पीछे से देखने पर वह पुरुष है या स्त्री, इसका पता लगना मुश्किल। फिर भी उसमे एक व्यवस्था की गई है। पुरुष चोटी की गाँठ बाँधते हैं और महिलाएँ पीठ पर बाल छोड़ देती हैं। इसके भी कुछ अपवाद होते हैं। अंत में साड़ी ये ही पहचानने का साधन बचता है।

कपड़ों में गुण हैं, किंतु कुछ काल के बाद ये बदल सकते हैं। जो लोग बदलाव ला सकते हैं, उनको ही उसका उपयोग करना चाहिए। आजकल हिंदुस्थान में पतलून या हाफपेन्ट पहनने से साहबी ठाठ आता है। पर इससे विचार दूषित होते हैं और अंत में वह व्यक्ति बाप को बाप कहने को तैयार नहीं होता, तब चाचा को चाचा कैसे कहेगा? किंतु हम अपनी नवाबी तो छोड़ेंगे नहीं। जब मनुष्य संस्कृति को पूर्णतः आत्मसात कर लेता है, तब किसी भी प्रकार के कपड़े पहनने से कुछ भी बिगड़ता नहीं। मनुष्य में एक बार अध्यात्म का संचार हो जाए, तब बाह्य उपचारों का कुछ भी परिणाम नहीं होता, किंतु उसके पहले सावधानी बरतनी होगी।

बाल-विवाह यह नया विषय है। पहले स्वयंवर होते थे। उसमें छोटी लड़कियाँ होना संभव ही नहीं था। समय के अनुसार बाल-विवाह अच्छा लगा और वह प्रथा बन गई। अब अच्छा नहीं लगता, इसलिए उस परंपरा का त्याग करते हुए पुराने प्रौढ़ विवाह की ओर मुड़ना ठीक है। ब्राह्मण सम्मेलन में 'शास्त्राद्रूढ़ी बलीयसी" इस मंत्र का उद्घोष किया जाता है, किंतु वह निरर्थक है। वैसे ही सती होना यह नया प्रश्न है। पहले

वह प्रथा थी, किंतु वह उस महिला की इच्छा पर निर्भर था। उदाहरण के तौर पर पांडु के निधन के पश्चात् माद्री सती हुई थी, लेकिन कुंती नहीं हुई। स्मृति में भी इस प्रथा के लिए आधार नहीं मिलता। केशवपन भी इस जमाने की ही रीति दिखती है। संभवतः उसका मूल शंकराचार्य के संन्यास मार्ग में मिलेगा। पुनर्विवाह द्विजों के लिए नहीं, केवल ब्राह्मणो के लिए ही है। द्विजों में क्षत्रिय और वैश्य समाविष्ट होते हैं। मानवीय दृष्टि से पुनर्विवाह होना चाहिए। किंतु यदि ऊँची दृष्टि से देखा तो अनुचित है। किंतु अध्यात्म-दृष्टि की कमी होने और पापाचरण की वृत्ति बढ़ने के कारण पुनर्विवाह को प्रथा बनाने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। प्रथा बनानी ही है तो विवाह पंजीबद्ध करने के बजाय शास्त्रोक्त होना चाहिए। यदि संभव न हुआ तो गांधर्व विवाह है ही।

मैंने जो लिखा है वह हिंदू संस्कृति के अनुसार ही लिखा है और वह स्पष्ट रीति से बताया भी है। अपनी संस्कृति शाकाहारी और मांसाहारी ऐसी मिश्रित थी। किंतु शाकाहार ही प्रशस्त माना जाता था। मांसाहार से संस्कृति की हानि नहीं होती।

हिंदुओं में भेद हैं, किंतु उनका एक विषय में मतैक्य है। वह यह कि इस विश्व के परे जाना चाहिए। फिर वह जाना ब्रह्म तक हो या बुद्ध के शून्य तक। उसके लिए एक जन्म काफी नहीं होता। बार-बार इस विश्व में आना पड़ता है।

संस्कृति को धक्का नहीं लगना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि वह, जो अध्यात्म को सहायक होगा, कम से कम अपायकारक नहीं होगा। डार्विन के विकासवाद का उदाहरण हम ले सकते हैं। उससे अध्यात्म निश्चित रूप से अधिक प्रतिपादित हो सकता है। कोई भी ज्ञान ऐसा ही है। पैदल जाने के बजाय मोटर से जाना अच्छा होता है, तो उसका उपयोग क्यों न करे? 'बाबा वाक्यं प्रमाणं' समझकर व्यवहार नहीं करना चाहिए। केवल आध्यात्मिक दृष्टि का विकास करना चाहिए।

पश्चिमी लोग पौर्वात्य संस्कृति को हिंदू संस्कृति के समान ही मानते हैं। वह उचित भी है। क्योंकि चीन, जापान व तिब्बत के प्रदेशों पर बौद्धमत के प्रसार के कारण हिंदू संस्कृति का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने अपनी सब परंपराएँ कायम रखते हुए केवल अध्यात्मवाद को ही स्वीकार किया है। ऐसा ही करना चाहिए। क्योंकि वेष और अन्य प्रथाएँ देश के मौसम के अनुसार हर एक क्षेत्र में सहजता से विकसित होती हैं, उनका त्याग करना

घातक होता है। किंतु धन और भोगविलास के देवता को, इस विश्व के परे रहनेवाले ज्ञान की ओर आकर्षित होना, यही हिंदू संस्कृति का स्वीकार करना है। इसी पद्धति से संस्कृति का प्रसार होगा। ऐसा संभव नहीं कि सब लोग धोती पहनकर नंगे पैर या चप्पल पहनकर घूमेंगे।

चीन और जापान में बुद्ध के पहले कन्फ्युशियस का नीतिशास्त्र चलता था। अभी भी कुछ चीनी लोग उसे मानते हैं। वह धर्म नहीं था। केवल यह करें, यह न करें, ऐसा कहनेवाला नीतिवाद मात्र था।

आज बौद्ध धर्म (मत) केवल नाममात्र का रह गया है, क्योंकि पहले से चल रही प्रथाओं के परिणामों को निष्प्रभ करते हुए, अपना प्रभाव जमाने की प्रेरणा बुद्ध के उपदेश में नहीं थी। क्योंकि उसमें आशा को कोई स्थान ही नहीं था। जग नश्वर है, हम नश्वर हैं। केवल शून्य में विलीन होने की योग्यता निर्माण करने के लिए पुनर्जन्म और ज्ञानप्राप्ति ही उसकी धारणा है, किंतु शून्य में विलीन होने के लिए कौन उद्यत होगा? इसीलिए चीनी और जापानी स्वयं को बौद्ध धर्मी कहते हैं, फिर भी वे बौद्ध धर्म की एक भी आज्ञा का पालन नहीं करते। इसलिए आज उनका कोई धर्म ही नहीं है, ऐसा मानना होगा। संभवतः इसी कारण उनके यहाँ संस्कृति का कोई अस्तित्व नहीं है। संस्कृति के लिए मजबूत नींव लगती है। केवल नीतिशास्त्र से काम नहीं होता। उनकी प्रथाओं के संबंध में जानकारी न होने के कारण अधिक नहीं लिख सकता। उनपर हिंदुओं का पुराना प्रभाव होते हुए भी विकृत होने के कारण उनका विनाश हो रहा है। अब वे पश्चिमी सुधारों से प्रभावित होकर उनके पीछे लगे हैं। तब भी इन मर्कट चेष्टाओं के खिलाफ बगावत प्रारंभ हो चुकी है।

ऊपर मैंने बौद्ध 'मत' कहा है और जहाँ 'धर्म' कहा वहाँ वह कोष्टक में लिखा है। उसका कारण है। मैं यह मानता ही नहीं कि बौद्ध धर्म नाम का कोई धर्म है। वह हिंदू धर्म का ही एक पंथ है। इतना ही नहीं, पहले जैन धर्म को महावीर पंथ, सिक्ख पंथ को नानक पंथ कहते थे। यह सब हिंदू ही हैं। उनके 'धर्म' ग्रंथों में हमारे ग्रंथों से ही अंश लिए गए हैं। इतना ही कि कहीं-कहीं वही अर्थ अलग शब्दों में बताया गया है। इसीलिए मैं चीनी, जापानी, जैन, सिक्ख इन सबको हिंदू ही कहता हूँ। इसके अलावा मैं 'धर्म' की स्थापना करता हूँ– ऐसा बुद्ध ने कहीं भी नहीं कहा। वह एक संप्रदाय है– ऐसा कहने के लिए पर्याप्त प्रमाण है। सचमुच तुम सच्चे राजनीतिज्ञ हो, यह सब लुका-छिपी मैं नहीं कर सकता। किंतु यह सब

भाषा की व्यर्थ खींचातानी है। क्योंकि हंस जो दूध को पानी से अलग करते हुए पीता है, वह वैसी बुद्धि है इसलिए नहीं, तो ईश्वर ने उसे दी हुई नैसर्गिक शक्ति के आधार पर वह दूध पीता है। उसको दूध और पानी का भेद समझता नहीं होगा, केवल पीते समय दूध अंदर जाता है और पानी बाहर रहता है। उसमें उसका कोई बस नहीं।

मैं यह मानता हूँ कि अपने आपको अच्छी तरह से पहचानता हूँ। यह भी जानता हूँ कि यह 'मेरी एक तरह की मूर्खता' है। उसे समाप्त करने का प्रयास भी करता हूँ। इसलिए मैं ऐसा मानता हूँ कि ऐसे महामूर्ख के पीछे न लगते हुए, अपनी बराबरी के किसी महान व्यक्ति को ढूँढकर तुम्हें उनके साथ रहना चाहिए। इसी कारण यह दोष-दिग्दर्शन किया है। केवल मजाक के लिए दोषों के संबंध में कहा, तो वह अव्यापारेषु व्यापार होगा, उससे पाठ लेकर यदि सुधार करना है, तो मेरे जैसे छोटे मनुष्य का त्याग करना होगा, क्योंकि स्वर्ण पर बैठने से कुछ होता नहीं, परंतु गोमय पर बैठने से सदा के लिए दाग लग जाता है। इसलिए मुझे छोड़ना तुम्हारे लिए लाभदायक सिद्ध होगा। फिर उससे मुझे कितना भी दुःख हुआ (होगा ही)– उसकी चिंता करने का कारण नहीं। तुम्हारे लाभ में ही मेरी आत्मा को आनंद होगा, संतोष होगा। इसके बावजूद मुझे छोड़ने का तुम्हारा इरादा नहीं हो, तो तुम्हें मेरी चिंता करनी ही होगी। अर्थात् तुम्हें छोड़ना मेरे लिए असंभव है। यह कोई मुँहदेखी बात नहीं, खून की हरेक बूँद के साथ मेरी धमनियों में बहनेवाला सत्य है। लेकिन अपने स्वार्थ के लिए तुम्हारा हितशत्रु होने की मेरी इच्छा नहीं। इसीलिए सुझाव दिया है, जो उचित लगे, वह करो। 'तू ही अपना स्वामी है', कुछ भी किया तो भी मुझे हर्ष ही है। किंतु दुर्भाग्य से दोनों हर्ष में दुःख निश्चित है। पहले में तुम्हारे वियोग का दुःख है, तो दूसरे में तुम्हारे विकास में बाधा बनने का दुःख। किंतु हर्ष कभी मिलावट रहित होता है क्या? कहते हैं कि रमणी के अधरपान में हर्ष है, किंतु जब चुंबन लेते समय मुखकमल से दृष्टि ओझल होने का दुःख और मुख की ओर देखकर नेत्रसुख प्राप्त करें तो चुंबनसौख्य मिलता नहीं। विश्व ऐसा ही है। सुख छोटा-सा दिखता है, पर दुःख पहाड़ के समान। जग में सर्वसुखी कौन है? अच्छा! यह विचार कष्ट देनेवाला है और उसका तनाव सहने की शक्ति भी अभी नहीं, कारण बाद में बताऊँगा।

मैंने संन्यास तो लिया है, किंतु यह अभी पूरा नहीं हुआ। पहले हिमालय में जाने का जो विचार था, वह अविचार था। इस संसार में

रहकर, लोगों के तीखे प्रहार सहकर, संसार के सब काम ठीक रीति से पूरे करते हुए प्रवृत्ति-पर रहकर, नित्य का संन्यास अपने जीवन में रहे- ऐसा प्रयास कर रहा हूँ। अब हिमालय भी मुझमें, एकांत भी मुझमें। कहीं जाने की आवश्यकता ही नहीं। किंतु 'ज्ञेयः स नित्य संन्यासी, यो न द्वेष्टि न कांक्षति।' 'न द्वेष्टि' ठीक है, किंतु न कांक्षति? इधर आकांक्षाएँ तो छलांग मार रही हैं।

यहाँ अपने पास की पूरी शक्ति लगानी पड़ती है- (१) मैं दिखने में बुरा नहीं, (२) आँखे चमकीली हैं, (३) लोगों को सहजता से दिखे शरीर में ऐसी चपलता है, (४) स्वास्थ्य कितना भी बिगड़ा हो, किंतु चेन्नै के किसी भी युवा को चित करने की क्षमता है, (५) यहाँ मुझ पर कोई भी बंधन नहीं। नैतिक अधःपात के लिए जरूरी हैं, वह सारे साधन यहाँ उपलब्ध हैं। उपलब्ध नहीं केवल एक बात, वह याने मेरी इच्छा। इसीलिए ठीक है। किंतु मनुष्य स्वभाव है ना? उसे क्या करें? इसीलिए कष्ट होता है। स्वयं को सँभालने के लिए पूरी शक्ति खर्च होती है, किंतु डरने की कोई बात नहीं। मैं गिरूँगा नहीं, यह विश्वास रखो।

एकांत अच्छा लगना और इस नश्वर जग की इच्छा से मुक्त होना, यह महानता का लक्षण है। किंतु इस एकांत में 'मैं' भी चाहिए, मैं अकेला या और भी कोई?

मैं कहता हूँ कि तुम महान हो, तुम इससे इनकार करते हो। यह तुम्हारी विनम्रता है या मैं तुम्हें पहचानता नहीं। इससे तुम्हारा नित्य का वचन सत्य है, यह सिद्ध हो जाता है।

तनाव सहने की शक्ति नहीं- ऐसा ऊपर कहा है, कारण चार-पाँच दिनों से भयंकर सर्दी हुई है। सिरदर्द है, बुखार और खाँसी भी सता रही है, इसलिए लिखना बंद करता हूँ। अभी वह सिरदर्द शुरू ही है, किंतु पहले जैसा नहीं। व्यर्थ चिंता न करें। पत्र छोटा हुआ है, सोचने के लिए अवसर ही नहीं मिला। क्षमस्व।

२८ फरवरी १९२९
प्रातः १० बजे

तुम्हारा,
मधु
ॐ ॐ ॐ

पत्र-क्रमांक – ५

मत्स्यशाला, चेन्नैपट्टण,
१६ मार्च १९२९

मित्रवर बाबूराव तैलंग को अनेक नमस्कार। कितने दिन हो गए? मुझे लगता है कम से कम पंद्रह दिन हुए होंगे, परंतु आश्चर्य यह कि अभी तक उत्तर का पता नहीं, अन्यथा ऐसा होता है कि थोड़ा-सा विश्राम लेते ही पत्र आता है। वह किसका है, यह भी तुरंत ध्यान में आता है, क्योंकि ऊपर के कीड़े-मकोड़े जैसे आड़े-तिरछे अक्षर देखते ही 'बाबू तैलंग' यह नाम सहजता से ध्यान में आता है। इस बार क्या हुआ कि उत्तर नहीं भेजा?

हाँ! ध्यान में आया। परीक्षा के मौसम के कारण पढ़ाई की व्यस्तता होगी। दृष्टिधुंध होने से अपने-पराए का ख्याल नहीं आता होगा। फिर मेरे जैसे दूर और अकेले रहनेवाले एक सर्वसाधारण व्यक्ति की याद कैसे आएगी? मेरी पहले से ही यह अपेक्षा थी, किंतु भूल गया और अभी तक उत्तर क्यों नहीं आया? ऐसा प्रश्न करने लगा।

मैंने कुछ दिन पूर्व बैरिस्टर सावरकर को एक पत्र लिखा था। उसमें 'वैनायक' वृत्त के संदर्भ में कुछ जानकारी माँगी थी। तुमको स्मरण होगा की उनका 'गोमांतक' मैंने एकबार पढ़ा था। वह किताब तुमने ही मुझे दी थी और वापस माँगने के लिए रात में बहुत देरी से आकर, तात्या को अंदर भेजा और स्वयं लघुशंका का स्वांग रचकर बाहर ही खड़े रहे थे। यह मुझे अच्छा स्मरण है। किताब एक ही बार जल्दी-जल्दी में पढ़ी थी, फिर भी उसका मन पर काफी प्रभाव था। उसके गणवृत्त के संबंध के कुछ विचार मन में घर कर गए थे व कुछ शंकाएँ भी उत्पन्न हुईं थीं। उनका निराकरण करने के लिए प्रत्यक्ष लेखक से ही जानकारी लेना उचित समझकर, उन्हें पत्र लिखा था। परसों ही उनका उत्तर आया। किंतु उन्होंने यति के नियम के संबंध में जो लिखा है, वह ध्यान में नहीं आया। एक शंका का तो उत्तर ही नहीं दिया है। किसी जोगलेकर ने श्री सावरकर जी के कहने के अनुसार उत्तर दिया है। 'गोमांतक' फिर से पढ़े बिना उन्हें पत्र लिखूँ या नहीं, इस दुविधा में हूँ। फिर लिखूँगा, कदाचित किताब मँगवाकर और पढ़ने के बाद लिखूँगा। यह यति का नियम क्या है, इस विषय में किसी से पूछकर (गोपालराव देशपांडे या श्री देसाई को ज्ञात हो तो पूछकर) मुझे बता सको तो अच्छा होगा। किसी के पास यदि 'वृत्तदर्पण' हो, तो

तुरंत पता चल जाएगा, अन्यथा शाब्दिक जानकारी पर निर्भर रहना पड़ेगा।

ऐसा अनुमान था कि आज की डाक में तुम्हारा पत्र आ सकता है, इसलिए अभी तक पत्र लिखना रोक रखा था। चार बजे डाक आने का समय निकल गया, फिर भी पत्र नहीं आया, किसी का भी नहीं आया। एक दिन और निकल गया। अब स्वयं होकर पत्र लिखने के अलावा अन्य कोई मार्ग न होने के कारण पत्र लिखना प्रारंभ किया। यदि यह लिखना कल तक चला (चलेगा ही) और कल भी तुम्हारा पत्र मिला, तो उसका उल्लेख इस पत्र में होगा ही। पिछले पत्र में सर्दी-जुकाम होने के बारे में लिखा था। वह ठीक हुआ ही था और सोमवार को अपने नियम के अनुसार दिनचर्या प्रारंभ करने का विचार था, परंतु जैसे ही सुबह ४.३० पर उठने को हुआ कि ऐसी विलक्षण कमजोरी अनुभव हुई कि बिस्तर से हिलना तक कठिन हो गया। घड़ी का अलार्म बज रहा था। उठकर उसे बंद करने तक की शक्ति शरीर में नहीं थी। आखिर दिन सिर पर चढ़ आने के बाद उठा, क्योंकि मत्स्यशाला में जाकर कम से कम यह बताना तो आवश्यक था कि मैं आ नहीं सकूँगा। भोजन-पानी करने का तो प्रश्न ही नहीं था।

उस दिन तो जो कुछ हुआ, वह हुआ ही, परंतु अगले दो दिन भी वैसे ही गए। अशक्तता बढ़ती ही जा रही थी। ऐसा लगा जीवन का अंत समीप आ गया है। अपने प्रियजनों के दर्शन होना तो दूर, उन्हें दो पंक्ति का पत्र लिखना भी असंभव हो रहा था।

<u>१६ मार्च १६२६</u>

विचार करने लगा कि यह तो बहुत ही असामयिक है, अभी तो जीवन का प्रारंभ भी नहीं हुआ। ऐसी अल्प अवस्था में यदि इस दुनिया को छोड़कर जाना पड़ा तो कैसे होगा?

फिर मन स्थिर किया और सोचा कि मृत्यु तो सबके लिए अनिवार्य है। किंतु मृत्यु, याने दुनिया से सदा के लिए निकल जाना तो नहीं है। 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' यह जितना सच है, उतना ही 'ध्रुवं जन्म मृतस्य च' यह भी है। फिर शोक क्यों करना? प्रश्न केवल कालावधि का ही है। लेकिन काल यह आभास है या सत्य, यह सबके लिए अभी रहस्य ही है। इस जन्म में जो अनुभव अभी प्राप्त नहीं हुआ है, यदि पूर्वकर्म के कारण उसका अधिकार ही न हो तब? और वह मिलने की यदि उत्कट इच्छा है, तो वह अगले जन्म में नहीं मिलेगा यह कैसे कह सकते हैं? वैसी आशा

रखने में क्या आपत्ति है?

चित्त कुछ स्थिर हुआ है। धीरे-धीरे शक्ति भी वापस आने लगी और सब कुछ पूर्ववत् चल पड़ा है। आज पंद्रह दिन बीत गए, कमजोरी पूर्णतः समाप्त हो चुकी है, ताकत बढ़ी न हो, तब भी थोड़ा व्यायाम शुरू किया है, वैसे ही नित्य के व्यवहार भी शुरू हो गए हैं।

अपना वर्णन काफी हो गया। फिर तुम्हारे परीक्षा के दिन हैं, उसमें व्यर्थ की खिटखिट किसलिए? यदि पढ़ने में कष्ट होता हो तो पत्र मत पढ़ना। पढ़ने के लिए फुरसत तो होनी चाहिए? एक बार पत्रोत्तर देने में मुझे विलंब हो गया था, तब तुम बहुत अस्वस्थ हो गए थे और अधीर होकर तुमने कार्ड पर लिख भेजा था कि तुरंत पत्र आया तो ठीक, अन्यथा श्वास भी बंद हो सकता है। यह ठीक है कि तुम्हारा वह कार्ड मिलने के पहले ही मैं पत्र भेज चुका था। फिर भी दुबारा एक कार्ड भेजकर मैं ऋणमुक्त हुआ था।

कहते हैं कि लोग अपने अनुभव से दुनिया को पहचानते हैं। लेकिन यह सब झूठ होगा। अन्यथा तुम जिस प्रकार अस्वस्थ हुए थे, वैसा ही मैं भी अस्वस्थ हो सकता हूँ, यह समझना तुम्हारे लिए अस्वाभाविक नहीं होता, किंतु जब तुमको वैसा लगने का कोई चिह्न दिखाई नहीं देता, तब मैं कह सकता हूँ कि मनुष्य अपने लिए लाभकारक दृष्टि से ही दुनिया की ओर देखता है। मैं जो कहता हूँ वह सच है ना?

इस पर से ऐसा मत समझो कि प्रेमी आने का समय होने के बाद जब वह कहीं दूर तक भी दिखाई नहीं देता, तब प्रेमिका की या विरहिणी की जो अवस्था होती है, वैसी मेरी हुई होगी। ऐसा बिल्कुल नहीं हुआ। अभी भी एक साल तक पत्र नहीं भेजा, तब भी मुझे बुरा नहीं लगेगा। यहाँ एक बात और ध्यान दिलाना चाहता हूँ कि इससे मेरी मित्रता या प्रामाणिकता के प्रति संदेह करने की आवश्यकता नहीं है। यदि ऐसा सोचा तो वह तुम्हारी मूर्खता होगी। तुम्हारे पत्र न आने का बुरा इसलिए नहीं लगता, क्योंकि मैं ऐसी अपेक्षा ही नहीं रखता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी फुरसत अथवा मन की इच्छा के अनुसार पत्र भेजने या न भेजने के लिए स्वतंत्र है। किसी पर जबरदस्ती तो कर नहीं सकते? तब इतने दिनों में पत्र नहीं भेजा यह कहने का अधिकार कैसे प्राप्त हो सकता है? इसीलिए मैं चिंता करता नहीं और मेरे जैसे यःकश्चित् सामान्य व्यक्ति को तुम जैसे महान

पुरुष ने पत्र क्यों नहीं लिखा, ऐसा प्रश्न पूछना धृष्टता की सीमा पार करना होगा। इतना ही नहीं, तो तुम्हारी महानता पर अतिक्रमण करने जैसा होगा। ऐसा सोचकर स्वस्थ बैठता हूँ। समझदार को और अधिक बताने की जरूरत नहीं रहती।

कळते सारे काही तुम्हा आहा बुद्धिचे स्वामी ।
योग्यचि जे ते कराल निश्चित व्यर्थ सांगणे आम्ही।
विनवी म्हणुनी मनात आपुल्या विचार करूनी नीट।
सांगा मजला तुम्हास मम जरि आला असला वीट।
ऐसे असले तर मग अमुच्या सीमा नच दुर्देवा।
जीवभार हा भार होई जणू वज्रपातचि व्हावा।
विनंती इतकी घडले असले भलते सलते काही।
राग सोडूनि क्षमा करावी उदारमन थोराही।।

तुम सब कुछ जानते हो, बुद्धिमान हो। जो उचित होगा, वही करोगे, हमने कुछ बताना निश्चित ही व्यर्थ है। इसलिए मन में पूरा विचार कर निवेदन कर रहा हूँ। बताओ, क्या तुम्हें मुझसे अरुचि हो गई है। यदि ऐसा है, तब तो मेरे दुर्देव की कोई सीमा नहीं। जीवन भार हो जाएगा, यह वज्रपात के समान ही है। प्रार्थना इतनी ही है कि यदि मेरे हाथ से कुछ गलत-सलत हो गया हो, तो नाराजी छोड़कर बड़े हो, उदारमन हो, इसलिए मुझे क्षमा करो।

क्यों महाशय, कविता की चार लाईनें लिखी कि नहीं? लिखने की ऐसी ही आदत बनी रही तो कवींद्र या कपींद्र क्यों नहीं बनेंगे? ऐसा सोचकर पत्र की प्रतीक्षा न करने का मन मैंने बनाया है। जिस प्रकार किसी भिखारी को यह अधिकार नहीं होता कि वह किसी को भिक्षा देने के लिए बाध्य करे, यदि दे दी तो उसका आभार मानना चाहिए। वैसे ही तुम्हारी ओर से आया हुआ पत्र मैं साभार स्वीकार करता हूँ और न आने पर चुप बैठता हूँ। सच मानें तो पत्र यहीं पर समाप्त करना चाहिए। क्योंकि अधिक लिखने के लिए सामग्री भी तो होनी चाहिए। मेरा भंडार समाप्त हो चुका है।

अब ऐसा लगने लगा है कि कुछ दिनों के लिए कहीं स्थायी होकर इतस्तत बहनेवाली जीवन सरिता को एक निश्चित मार्ग पर लाना चाहिए। इसका अर्थ यह नहीं कि अभी अपना यह सुखकारक आश्रम छोड़ना है। फिर भी छोड़ना ही पड़ा तो स्वयंप्रेरणा से छोड़ने को मिले, यह इच्छा है।

मगर कौन बता सकता है, क्या होगा? ऐसा लगने का मुख्य कारण यह है कि भाऊजी की भी ऐसी इच्छा है कि मैंने कहीं स्थायी हो जाना चाहिए। उनका कहना है कि 'कहीं भी क्यों न हो, पर तुम जल्दी से स्थिर हो जाओ, तो सीने पर का बोझ हल्का होने का अनुभव होगा।' किंतु 'कहाँ'? यही तो सबसे कठिन सवाल है।

तुम्हारा पत्र अभी-अभी मिला है, किंतु अब सोने का समय हो गया है। उसको टालने का प्रयास करने से स्वास्थ्य पर उसका विपरीत परिणाम हो सकता है, इसलिए शेष कल लिखूँगा।

२० मार्च १६२६

कल डाक बहुत देरी से आई, तब तक मैं घर चला आया था। इसलिए तुम्हारा पत्र मत्स्यशाला में काम करनेवाले एक सज्जन ने रात नौ बजने के बाद मुझे मेरे कमरे पर आकर दिया। अब ऊपर लिखा हुआ पत्र अलग रखकर पढ़ो, जिससे पुनरुक्ति टलेगी, क्योंकि मैंने जो लिखा है, प्रायः वही तुम्हारे पत्र में है।

Star to star vibrates light, may soul to soul strike through a finer element of her own? Yes, It may- nay it does - does not it sir ?

आँखें बंद कर नासिकाग्र पर दृष्टि कैसे रख सकते हैं, यह तो मेरे लिए एक पहेली ही है और सामने न देखकर इधर-उधर देखते हुए नाक की नोंक कैसे दिख सकती है? कष्ट तो होगा ही, किंतु कुछ समय तक करना व मन व्यग्र न हो, उस स्थिति में आँखें बंद कर रखें। यदि बहुत कष्ट होता हो, तो श्रीकृष्ण का चित्र सामने रखकर उसपर दृष्टि केंद्रित करने का प्रयास करें। पिछले पत्र में 'प्रयास' शब्द पर मैंने टीका की थी। यहाँ इतना ध्यान में रखें कि बचने के लिए मैंने इस शब्द की योजना नहीं की है। क्योंकि कुछ दिनों तक ऐसा प्रयास करने पर सफलता मिलेगी ही। नहीं हुआ तब भी प्रयास जारी रखें, कभी न कभी, इस जन्म में नहीं तो अगले जन्म में सफलता मिलेगी ही। पहले पत्र में कही हुई बात यदि चुभती हो, तो हाथ जोड़कर क्षमायाचना करता हूँ।

'Uncle Toms Cabin' देखा यह अच्छा किया। मैंने वह चित्रपट देखा नहीं है, परंतु उसकी किताब पढ़ी है। किताब Mrs. Margaret Stowe नामक महिला ने लिखी है। अमरीका में कई प्रकार की किताबें प्रकाशित हो रही हैं। बहुत-सी अच्छी भी हैं, किंतु उपन्यास के मामले में शून्य ही

है। एक Edgar Wallace छोड़ दिया तो अन्य कोई अच्छा उपन्यासकार वहाँ हुआ ही नहीं, ऐसा ही कहना पड़ेगा। अधिकांश जासूसी हैं अथवा वैसे ही भावनात्मक उपन्यासों अथवा कथाओं का बाजार है। उनमें Uncle Toms Cabin यही सरस, गुणसंपन्न, करुण, कुल मिलाकर उत्कृष्ट और अच्छा उपन्यास है। Wallace की किताबें अच्छी और विद्वानों को मान्य होने के बावजूद Mrs. Stowe की कल्पकता व गुणवत्ता कम नहीं है। सर्वोत्तम किताबों में ही इस उपन्यास की गणना होती है।

गाँधी जी ने बछड़े को मरवाया, यह अच्छा ही हुआ, क्योंकि उनके जैसा अहिंसावादी किसी प्राणी को वेदना से तड़पड़ाता हुआ कैसे देख सकता है? सारे उपचार हो चुके थे और उसका अंत भी साफ दिखाई दे रहा था। ऐसी स्थिति में उसको वेदना से तड़पड़ाते देना अथवा तकलीफ न देनेवाली जहरीली सुई से उसका जीवन और साथ ही उसकी वेदना समाप्त करने का सारासार विचार करते हुए वेदनामय जीवन के बजाय मृत्यु ही उचित लगा होगा। अब सवाल ऐसा खड़ा होता है कि किसी मनुष्य के संबंध में, विशेषकर अपने किसी संबंधी की ऐसी अवस्था होने पर क्या करें? क्या उसको भी पोटेशियम नाइट्रेट के घातक विष का इन्जेक्शन दिया जाए? यदि वैसा किया तो उपर्युक्त बात का समर्थन उसपर लागू नहीं होगा क्या? किंतु ऐसा है कि मनुष्य का प्रेम उसके पालतू जानवरों की अपेक्षा अपने सगे संबंधियों या मित्रों पर ही नहीं, बल्कि सर्वसाधारण मनुष्यों पर अधिक रहता है। प्रेम के कारण आशा का जन्म होता है और 'जब तक साँस, तब तक आस' इस कहावत के अनुसार वह मरते दम तक दवाई देते और लेते रहते हैं। बिलकुल अंतिम साँस के समय भी हेमगर्भ की मात्रा जबरदस्ती दी जाती है। आस रहती है कि संभवतः उससे कुछ लाभ होगा। मरने के बाद भी कुछ समय तक विश्वास नहीं होता। फिर बछड़े को मरवाया, वह जानवर था, इस कारण ना? ऐसा यह चक्करदार तर्क (Arguing in a vicious circle) है। वह उचित ही हुआ। बहुत से लोग ऐसे हैं जो मधुमेह जैसी पीड़ा देनेवाली और ठीक न होनेवाली व्याधि से तंग आकर चुपचाप आत्महत्या कर कष्ट से मुक्ति प्राप्त करते हैं। उस बछड़े को बुद्धि नहीं होने के कारण उस बुद्धि का काम महात्मा जी ने किया, ऐसा कह सकेंगे। मतलब यही कि सवाल बहुत पेचीदा है। परोपकार बुद्धि से उसकी तकलीफ बचाने के लिए किया होने पर उसमे कोई बुराई नहीं है। किंतु अपना कष्ट बचाने के लिए या उस बछड़े का अब क्या उपयोग? मार

डालो, कष्ट और खर्च बचेगा, इस विचार से यदि मरवाया हो, तो वह निंद्य और दोषपूर्ण है। अब वह बुद्धि किस प्रकार की थी, उस कृत्य के पीछे कौन-सा विचार था, यह ज्ञात होना असंभव है। इसलिए कितनी भी परोपकारी बुद्धि से मनुष्य के संबंध में ऐसा किया, तो भी दोषदृष्टि से देखनेवाली जनता आरोप करने में हिचकिचाती नहीं। इस कारण कोई वैसा करने का प्रयास भी नहीं करता। अपने कष्ट का विचार न करते हुए केवल बीमार के हित के लिए कृति की, और तब सर्वसाधारण लोगों ने कुछ भी कहा तो भी वह ईश्वर के दरबार में निश्चित ही निंद्य नहीं माना जाएगा। किंतु मनुष्य स्वार्थी होने के कारण, लोग अपने संबंध में क्या कहेंगे इस दृष्टि से मनुष्य के संबंध में ऐसा कदम नहीं उठाता। वह केवल भगवान से प्रार्थना करता रहता है– 'हे भगवान! अब इसके कष्ट समाप्त करो'– यह कहने के सिवाय कुछ करते नहीं, अन्यथा लोग कहेंगे कि क्या निर्दयी आदमी है? अपने कष्ट बचाने के लिए उस बेचारे की जान ले ली।

इससे यह ध्यान में आया होगा कि कृत्य की अच्छाई या बुराई कर्ता के हेतु पर निर्भर करती है। इस कसौटी पर बछड़े को मरवाने की कृति का पृथक्करण किया, तो वह कृति निर्दोष ही सिद्ध होगी। क्योंकि गाँधी जी ने राजनीति में कितनी भी बड़ी गलतियाँ की हों, तब भी उनकी प्रामाणिकता के संबंध में कोई शक नहीं किया जा सकता। इसी प्रामाणिकता के आधार पर उन्हें लगता है कि अहिंसा, असहयोग और चरखे के आधार पर स्वतंत्रता प्राप्त होगी। इसलिए वे वही बातें सबको बताते हैं। चाहे कोई हँसे, उसकी उन्हें कोई परवाह नहीं होती। उन्होंने यह कृति भी उसी प्रामाणिकता से की होगी। बछड़े वाली घटना से जैन बंधु क्रोधित हुए होंगे, फिर भी उन्होंने उनकी परवाह नहीं की।

बछड़े को मरवाने की यह कृति ऊपर से दुष्ट और हिंसात्मक दिखती होगी, किंतु वह शुद्ध भावना व भूतदया से की जाने के कारण निर्दोष है और उचित भी। शिबि नामक एक प्रसिद्ध राजा था उसके धर्मात्मा होने की कीर्ति चारों ओर फैली थी। किसी भी प्राणी को कष्ट न देने का उसका व्रत था। एक समय देवों ने उसकी परीक्षा लेना तय किया। मुझे स्मरण आता है कि इंद्र ने (ठीक से याद नहीं) कबूतर का रूप लिया और उसके पीछे गरुड़ रूप से यमराज दौड़ने लगे। कबूतर अपनी जान बचाने के लिए पूरी ताकत के साथ उड़ने लगा और अपना भक्ष्य हाथ से न निकले, इसलिए गरुड़ भी पूरा प्रयास करने लगा। गरुड़ है शूरवीर पंछी,

वह अपना खाद्य थोड़े ही छोड़ेगा। बेचारा कबूतर थक गया और अपने प्राण बचाने का आखरी प्रयास करने के लिए शिबि राजा के प्रासाद में जा घुसा। राजा सिहांसन पर विराजमान थे। वे अपने मंत्रियों के साथ प्रशासन के संबंध में विचार-विमर्श कर रहे थे। अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए वह सीधा राजा की जाँघ पर जा बैठा। इतने में गरुड़ भी अंदर आया और कबूतर के साथ छीना-झपटी करने लगा। अहिंसा से प्रेरित और शरण आनेवाले की प्राणपण से रक्षण करने का क्षत्रिय का कर्तव्य ध्यान में रखकर उसने कबूतर को अभय दिया और गरुड़ को एक तरफ ढकेला।

इससे क्रोधित होकर गरुड़ कहने लगा- 'हे राजन्, यह कबूतर मेरा स्वाभाविक भक्ष्य है। वह मुझे दे दो। मैं उसे छोडूँगा नहीं।'
राजा ने कहा- 'उसने मेरी शरण ली है, इसलिए मैं भी उसे छोड़ नहीं सकता। शरणागत की रक्षा करना हम क्षत्रियों का धर्म है।'

गरुड़ कहने लगा- 'सबको उसका उचित खाद्य मिले, यह देखना भी क्षत्रियों का धर्म है। राजा का तो वह कर्तव्य ही है। मेरे मुँह का खाद्य छीनकर आप अधर्म कर रहे हैं।'

राजा ने कहा- 'वह तो ठीक है। किंतु किसी भी स्थिति में मैं, इसकी रक्षा करूँगा ही। बताओ, तुम्हें अपनी भूख शांत करने के लिए क्या चाहिए? मैं तुम्हे वह दूँगा।'

गरुड़ ने कहा- 'ठीक है। इस कबूतर के भार का अपना मांस मुझे दो।'

राजा ने हाँ कहकर तौलने के लिए तराजू मँगवाया और एक पलड़े में कबूतर को रखा और दूसरे में अपना मांस काटकर रखने लगा।

आश्चर्य करने वाली बात यह हुई कि उसने अपना सारा मांस पलड़े में रख दिया, फिर भी कबूतर का पलड़ा नीचे ही रहा। अंत में राजा को कहना पड़ा कि कबूतर के भार के बराबर मेरा मांस नहीं है। और वह स्वयं पलड़े में बैठ गया। अपना कर्तव्य निभाने के लिए उसने आत्मार्पण किया। वह परीक्षा में सफल सिद्ध हुआ। यह देखकर दोनों देवता अपने वास्तविक रूप में प्रकट हुए और राजा को अपने दर्शन के साथ उत्तम आशीर्वाद देकर अपने-अपने स्थान पर चले गए।

एक प्राणी का दूसरे प्राणी के लिए भक्ष्य ईश्वरनिर्मित ही है। शेर द्वारा हिरन को खाना स्वाभाविक ही है। उन भक्ष्यों को यदि अहिंसा से

प्रेरित होकर बचाने का प्रयास किया, तो क्या उन प्राणियों को भूखा मारना हिंसा नहीं होगी? चिड़ियों के लिए कीट एकमेव खाद्य न होने के कारण वे अन्य खाद्य भी ढूँढती हैं, किंतु जब तक वह मिलता नहीं, तब तक भूख की व्यथा और सामने की थाली उठा लेने की वेदना तो उसको होगी ही? किसी का जरा भी मन दुखाया तो भी हिंसा होती है, फिर क्या करें? खाने दो, दूसरा क्या? 'किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः' (गीता, ४-१६), तब हमारी क्या कथा? जब मैं बनारस में था, तब दीपक के चारों और एकत्रित सैंकडों पतंगों में घुसकर छिपकली उनका संहार करती थी। तब मन में ऐसे ही विचार आते थे। तब मैं उसको चार-पाँच कीड़े खाने देता, पर जब वह अधिक संहार करने लगती थी, तब उसको भगा देता था। किंतु यह कब तक? जब तक अपना ध्यान उसकी ओर है तब तक। बाकी तो दृष्टि के पीछे सृष्टि आखिर 'जीवो जीवस्य जीवनम्' यही सच है ना?

किंतु कर्म सिद्धांत में यह सवाल कहाँ से आया? क्या यह बताने के लिए पूर्वकर्म के फल के नाते कीट, चिड़िया का भक्ष्य बनता है। यदि ऐसा है तो, विषय ही समाप्त हो जाता है। पिछले जन्म के संबंधों के कारण ही इस जन्म में एक भक्ष्य और दूसरा भक्षक बनता है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि पूर्वजन्म के संबंधों के कारण एक बकरा बनता है और दूसरा उसको खानेवाला मनुष्य। यह यदि सच है, तब अहिंसा व मांसाहार-निषेध के संबंध में चिल्लाहट बेकार है। या ऐसा भी हो सकता है कि वैसे संबंध होते हुए भी इस जन्म में अहिंसा सिद्धांत का आचरण करते हुए, अगले जन्म का कल्याण करने के लिए शाकाहारी बनो। अर्थात् इस जन्म में मैंने एक बकरा खाया तो अगले जन्म में वह बकरा मनुष्य या अन्य कोई भक्षक बनेगा और मैं उसका भक्ष्य बनूँगा। यह चक्र ऐसा ही चलता रहा, तो दोनों की प्रगति और उत्क्रांति रुक जाएगी। इसलिए अगले जन्म पर ध्यान केंद्रित कर पिछले जन्म के संबंध को अमान्य करें या संबंध पूर्ण रीति से समाप्त कर नई रीति से जोड़ें, जिसके कारण यह भक्ष्य-भक्ष्यकत्व का चक्र समाप्त हो। जिनके पास विचार-शक्ति है, ऐसे मनुष्यों के लिए यह संभवतः ठीक होगा। किंतु पशु, पक्षी, कीटकों का क्या होगा? उनके लिए यह चक्र अबाधित रहेगा क्या? या कर्मदेवता बीच में आकर समस्या का समाधान करेंगे? श्री देसाई ने उदाहरण का कैसा उपयोग किया? मैं कहता हूँ कि उस प्रकार की समस्याएँ निर्माण होना संभव हैं या नहीं?

तुम बूढ़े हो गए हो, यह मेरे लिए नई बात नहीं है। किंतु मन बूढ़ा

होने का क्या कारण हो सकता है? बुढ़ापा दो प्रकार का होता है। बढ़ती उम्र के कारण मन में क्षीणता आती है, यह एक प्रकार है। उसमें कोई विशेष बात नहीं। तुम्हारे संबंध में ऐसा होना संभव ही नहीं। कारण, तुम तो उम्र में मुझसे भी छोटे हो। दूसरा प्रकार होता है ज्ञानवृद्धता का प्रभाव। परंतु इस बुढ़ापे से मन की उमंग कम नहीं होती, रास्ता आसान बनता है। यदि ऐसा बुढ़ापा आया हो, तो और दूसरा क्या चाहिए? मैं यदि कल सुबह इस प्रकार का बूढ़ा बना, तो भगवान को मुक्तकंठ से धन्यवाद दूँगा। (नहीं हुआ तो भी दूँगा उसने जो दिया, वह थोड़ा है क्या? मेरी जितनी योग्यता है, उतना उसने मुझे दिया है।)

इस जन्म का क्या बचा, ऐसा कहते हो। अरे बाबा! अब तक हुआ ही क्या है? अभी तो सच्चा जीवन शुरू हुआ है। अभी तो बाल्यावस्था से बाहर पहला ही पैर डाला है (अपने लिए बहुत बड़प्पन लिया हो तो माफ करना) विश्व, गृहस्थी, देश, देव सारा अभी होने का है। इस जन्म का क्या बचा है, ऐसा तुम कहते हो, मानो तुम्हारी उम्र ७५ साल की हो गई है। अभी होटों पर मूँछें भी नहीं आई और 'इतिश्री' होने की बात करते हो। यदि तुम्हारे जैसा मल्लविद्या विशारद ऐसा कहेगा, तब तो मैं एक चलता-फिरता प्रेत ही हूँ, ऐसा ही कहना पड़ेगा।

नदी सागर को मिलने के कारण उसमें बाढ़ आती है– ऐसा अब तक किसी ने सुना नहीं। सागर सूखने पर एक साल में ही सारी नदियाँ सूख जाएँगी, किंतु सारी नदियाँ सूखने पर भी सागर का कुछ बिगड़ेगा नहीं। फिर भी इस गलत उपमा के पीछे जो सदिच्छा है, उसके लिए मैं उपकृत हूँ। मेरी भी यही इच्छा है कि तुम्हारी इस प्रवृत्तिमय-कर्तव्यपरायणता के चार कण मेरे शरीर पर भी पड़ें और 'अपवित्रः पवित्रो वा' इस मंत्र के अनुसार मैं चैतन्ययुक्त बनूँ और स्वयं में मग्न रहकर संतुष्ट रहने की आदत छूटे।

तुम प्रवृत्तिमय हो किंतु मैं अभी प्रथमाश्रम में ही हूँ। भूल गया गत तीन-साढ़े तीन साल से तुम गृहस्थ हो गए हो। तुम्हें प्रवृत्ति का अनुभव है। (यह मेरा मत है, ऐसी बात नहीं। तुम्हारे पत्र में ही वह लिखा है)। देखेंगे, प्रवृत्ति या निवृत्ति में से क्या होता है। मैंने तो निवृत्ति मार्ग ही स्वीकार किया है। फिलहाल तो है और प्रवृत्ति में भी निवृत्त रहने का निर्णय मैंने किया है। मुझे कोई विशेष जानकारी नहीं है, फिर भी तय किया है, तब क्या? अनुभव नहीं है, किंतु कभी-कभी प्रयोग न करते हुए भी

बहुत-सी चीजें मालूम हो जाती हैं। अग्नि पर हाथ रखा तो हाथ जलता है, यह तो छोटे बच्चे भी जानते हैं। ज्ञान प्राप्त करने के अनेक मार्ग होते हैं, यह भी ध्यान में रखना चाहिए। कोई साक्षात् अनुभव से ज्ञान प्राप्त करता है तो कोई स्वयंस्फूर्ति से। वैसे ही शादी करने से ही गृहस्थाश्रम प्राप्त होता है, यह गलत है। जिसको घर का देखना पड़ता है, वह शादी करने के पश्चात् गृहस्थ बनता है, किंतु गृहिणी के बिना भी गृहस्थी नाम की अवस्था होती है, यह तो मानना ही पड़ेगा। गृहिणी के कारण गृह को शोभा आती होगी या पूर्णता प्राप्त होती होगी? किंतु गृहिणी ही गृहस्थी है, ऐसा कहना भी गलत होगा। ऐसे गृहिणी-विरहित गृह की व्यवस्था मेरे भाग्य में नहीं है क्या? मेरे गृह के संबंध में तुम्हें कुछ नया बताने की आवश्यकता है क्या? ऐसी उठा-पटक करने के बावजूद मेरा गृहस्थाश्रम नहीं है क्या? गृहिणी लाने से यह समस्या सुलझ जाएगी। अपने आप ही समाप्त हो जाएगी, किंतु उसके पहले जो कठिनाई है, तब तक गृहिणी लाना नहीं, ऐसी मेरी इच्छा है। फिर? 'वसुधैव कुटुम्बकम्' और क्या? माता, पिता, भाई, बहन, पत्नी, और पुत्र इनका व्याप और गृहस्थी की झंझट जिससे सही नहीं जाती, उसकी विश्वकुटुंब में फेरफार करनेवाले की क्या हालत होगी। इसकी कल्पना तुम ही करो। एक बार श्री देसाई ने अकस्मात् कहा था कि यह 'विश्व मेरा घर है। यह सारी गृहस्थी मेरी ही है।' मैं उनका ही शिष्य हूँ, कितना भी हीन हुआ तब भी शिष्य हूँ। तब मेरे को यह संसार स्वीकार नहीं करना चाहिए क्या? और प्रवृत्ति धर्म, याने शादी करके बच्चे पैदा करना ही है क्या? इससे अधिक भव्य अर्थ क्या उसमें नहीं है? फिर वैसे उच्च अर्थ से मैंने प्रवृत्ति धर्म को स्वीकार नहीं किया, ऐसा कैसे कह सकते हो? और प्रवृत्ति में भी निवृत्ति से नहीं रहा जा सकता क्या? निश्चित ही रहा जा सकता है। फिर मुझमें प्रवृत्ति और निवृत्ति- दोनों नहीं हैं, ऐसा कैसे कहा जा सकता है?

प्रवृत्ति मार्ग के लिए शादी आवश्यक नहीं, शास्त्रों के अनुसार शादी करना यह कर्तव्य होते हुए भी वह कब करना चाहिए, इसका निर्णय व्यक्ति अपनी परिस्थिति के अनुसार लेता है। मुझे लगता है कि तुम्हारे बारे में जल्दी हुई। मेरे बारे में शायद दो-तीन साल देरी होगी। लेकिन तब तक नहीं। आज शादी होना अयोग्य नहीं, किंतु नहीं हुई है, तब भी कुछ बिगड़ा नहीं। आज मैं कुछ तकलीफ सहन कर रहा हूँ ऐसा तुमने कहा है, वह सही है। मगर विवाहित लोगों का दिल दूसरों की सौंदर्यवती पत्नी देखकर

ललचाता नहीं, ऐसा कौन कह सकता है? और शादी होने के बाद भी जब कुछ दिनों के लिए अकेले रहना पड़ता है तब तकलीफ नहीं होती क्या? मैं जो तनाव सह रहा हूँ, वह सहजता से सहन हो जाता है। इस तनाव के दो पक्ष होते हैं। एक मैं और दूसरा अति विशाल है। डर के कारण कहो या लज्जा के कारण कहो, उस पक्ष का, जिसका आगे आना असंभव है। मेरी ओर से तो और भी असंभव है। मन आकर्षित होता है, मेरा ही नहीं, दूसरों का भी। किंतु विवेक है ना? उसमें भी कई बार केवल उत्सुकता से मन सुंदरता की शोभा देखने की ओर खिंचा जाता है। उसमें पाप विचार होता ही नहीं, इसलिए यह तनाव तापदायक नहीं होता। मेरी इच्छा हुई, (और यह असंभव नहीं) और कोई युवती मुझ पर आसक्त हुई तो ही मेरा नैतिक अधःपात होना संभव है। मन में कितना भी निश्चय रहा कि जवानी में विषयभोग का अनुभव नहीं लेना है। फिर भी वह कब हो जाएगा, यह बताना कठिन है। यह सच्चाई होने पर भी पाप की तरफ मन जाता नहीं और यदि गया भी तो विवेक की चौकी पर उसे तुरंत रोका जाता है। उपभोग की तीव्र इच्छा होने पर क्या मैं नीतिसम्मत मार्ग से विवाह कर लालसा की तृप्ति नहीं कर सकता? किंतु वैसी लालसा अभी अनिवार नहीं हुई है। इसलिए तुरंत विवाह करने की आवश्यकता महसूस नहीं होती।

यहाँ मैं बताना चाहता हूँ कि केवल यःकश्चित् मानवी जीवन के तार से मुझे अपने जीवन का तार मिलाना नहीं है। उससे भी अधिक शुद्ध सुर में विलीन होने तक मुझे उसे खींचना है। उसके लिए तनाव तो सहना ही पड़ेगा। साधारणतः विश्व से वह बेसुर भले ही लगे, किंतु उस तनाव का प्रयोजन ही यह होता है कि व्यक्ति उस उच्चतम संगीत से तालमेल न बैठा सके। उससे मेल बैठाने की इच्छा मन में होना मैं अपना भाग्य मानता हूँ। उससे मन की स्थिरता प्राप्त होगी अथवा उसे पूर्णतः गँवाना पड़ सकता है। सुख की ओर जानेवाला मार्ग पत्थरों, काँटों से भरा रहता है या पैर फिसलानेवाला होता है। या तो सबसे ऊपर के शिखर को प्राप्त करूँगा अथवा फिसला तो नीचे गहरी खाई में गिरकर चकनाचूर हो जाऊँगा। इस अनिश्चित खतरनाक मार्ग के बिना अन्य कोई रास्ता ही नहीं है। शुक, रंभा पर विजय प्राप्त कर ब्रह्म पद तक पहुँचते हैं और उसी मार्ग से जानेवाले विश्वामित्र वैसे ही संकट में मेनका के संसर्ग से अधःपतित हो जाते हैं। इसलिए उस मार्ग का अवलंबन करते हुए संसार के घिसे-पिटे मार्ग से जाने का प्रयास करना भीरुता होगी। अंतिम सुख के लिए अनिवार्य

दुःख का सामना करना, उस पर विजय प्राप्त करना, यही एक मार्ग है। दूसरा कोई आसान मार्ग नहीं है।

मनचाहा मार्ग चुनने की जो स्वतंत्रता तुमने मुझे दी है, इस कारण कल्पना भी नहीं कर सकते कि मुझे कितना हर्ष हुआ है। क्योंकि यदि मेरा जीवन मरुभूमि जैसा बन गया, जो बनना असंभव नहीं है, तो तुम्हारा यह समर्पण मेरे लिए बहुत ही समाधानकारक होगा। तुमने कहा है कि मैं तुम्हारा उपयोग करूँ? ठीक है, एक ही अपेक्षा करता हूँ, वह यह कि मैंने बचपन से आज तक तुमसे जैसा निरपेक्ष प्रेम किया है, वैसा ही आजीवन करने की अनुज्ञा मुझे दो और तुम्हारे कार्य में बाधा न होती हो, तो मेरे संबंध में अपने हृदय में जो आस्था है, वह आजीवन रहने दो। इसके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं चाहिए। विभिन्न झंझटों से बाहर निकलकर किसी प्रेमी व्यक्ति के साथ घड़ी दो घड़ी आनंद से बातचीत करने का अवसर प्राप्त होना भी भाग्य की बात है। वह तुम्हारे सान्निध्य में मिलेगा, बस इतना ही तुम्हारा उपयोग करना चाहता हूँ। मुझे इस दुनिया में जीवन जीने लायक और हर्षदायक जो कुछ है, वह यदि संक्षेप में बताना हो तो श्री देसाई, सौ. मातुःश्री, ती. भाऊजी और तुम और अन्य मित्र ही हैं। मित्रों में श्री देसाई की गणना नहीं की। क्योंकि वे मेरे लिए गुरुस्थान पर हैं। मुझमें यदि कोई योग्यता है, तो वह उनकी ही देन है। यदि कोई विशिष्ट और अच्छी बात मुझमें है, तो वह उनके प्रभाव के कारण ही हैं। इस विषय में यदि उनसे पूछोगे तो वे इनकार करेंगे, परंतु किसी का अनुसरण करने के लिए मैं स्वतंत्र हूँ।

यह सारा वर्णन बहुत ही उदास स्वर में हुआ है, किंतु जो है, वह यह है। उसके लिए कौन क्या कर सकता है?

यह कुनैन की गोली जैसा ही है, जिह्वा तो कड़वी करती ही है, कानों तक को झनझनाए बिना छोड़ती नहीं। इसलिए कितना भी बुखार आए, मैं उसे लेना टालता हूँ। किंतु थोड़ी मात्रा में ली है, इसलिए उसका प्रभाव कम है।

मैंने अपने जो दोष दिखाए हैं, वह झूठ हैं क्या? प्रयत्न करने पर संभवतः अगले जन्म में ये सारे दोष समाप्त हो सकते हैं। मेरे गुणों के बारे में पूछा है और मैंने कहा कि उनके बारे में अगले जन्म में देखा जा सकता है। वैसे, गुण अगणित हैं, यहाँ थोड़े से बता रहा हूँ। (१) मल्लविद्या

विशारद (मल्लखंब में पदक प्राप्त किया), (२) युद्ध कला विशारद (नागपुर के दंगे में हाथ चलाए थे), (३) जाज्वल्य हिंदू धर्माभिमानी (स्पष्ट है), (४) राजनीतिज्ञ (कैसे-कैसे टेढ़े सवाल पूछे हैं?), (५) गृहस्थाश्रमी (The only bliss of paradise which has survived its fall 'Milton'), (६) तरुण होते हुए भी बूढ़ा (अर्थात् तुम्हारे पत्र के अनुसार परिपक्वबुद्धि), (७) स्वार्थत्यागी (सारा चैतन्य मुझे देने व उपयोग में लेने की सिद्धता), (८) तत्त्वज्ञ (ईश्वर के संबंध के प्रश्न) और कितना लिखूँ? एक महाभारत ही लिखना पड़ेगा।

<u>२१ मार्च १९२९</u>

जब तूफान जोर से आता है, तब बड़े-बड़े वृक्ष भी जड़ से उखड़ जाते हैं, परंतु कुछ समय के लिए झुक जानेवाले बाँस सुरक्षित रहते हैं और तूफान समाप्त होने के बाद पूर्ववत खड़े हो जाते हैं। इस पापवृत्ति का झंझावात ऐसा जोरदार होता है कि उसके सामने थोड़ा झुके बिना पर्याय नहीं। तुम्हारा यह प्रश्न ठीक है कि थोड़े लोगों को क्यों पूर्ववत् चलने देना? विचार करके देखो, आज तक 'वर्णानाम् ब्राह्मणो गुरु' ऐसी अवस्था थी और प्रायः लोग ऐसी मान्यता की जगह पर रहनेवाले लोगों का अनुकरण करते हैं। अन्य लोगों में पुनर्विवाह न करनेवाली अनेक विधवाएँ हैं। ऐसी महिला को देवकार्य में भी अधिकार नहीं मिलता, क्योंकि ब्राह्मणों में वह निषिद्ध है। आज इन्हीं ब्राह्मणों में यदि पापवृत्ति बढ़ती है तो क्या सब लोग उनका अनुकरण नहीं करेंगे? विषय लालसा तुष्ट करने के लिए अधिक नैतिक और लोकमान्य मार्ग नहीं है क्या? अतः इस बढ़ते हुए संकट का सामना करने का एक ही मार्ग है और वह है पुनर्विवाह को रूढ़ करना। क्या यह आवश्यक नहीं? एक पाप से यदि दूसरा कम घातक है और हमें दोनों में से एक को चुनना है, तब कम घातक को स्वीकार करना ही उचित है। पुनर्विवाह से संस्कृति को धक्का नहीं लगेगा, किंतु पापाचरण से तो इमारत नींव से ही ढह जाएगी। नीति और शुद्धता हमारी नींव है। पुनर्विवाह से अनीति को रोका जा सकता है, इसलिए वह शुद्ध है, उससे संस्कृति की रक्षा होगी। यह संस्कृति के अनुसार कैसे है, यह प्रश्न करने की आवश्यकता नहीं थी। क्योंकि जब बहुत सारे लोग पुनर्विवाह करने के बावजूद संस्कृति के अनुसार रहते हैं, तब शेष लोगों के लिए वह संभव क्यों नहीं होगा? उनकी और ब्राह्मणों की संस्कृति भिन्न थोड़े ही है?

पुनर्विवाह अध्यात्म दृष्ट्या कैसा अनिष्ट हो सकता है? शादी बच्चों

का खेल नहीं है। एक बार शादी-बंधन में बँध जाने के बाद दोनों ने एक दूसरे पर प्रेम करना, परस्पर प्रामाणिकता से रहना यह उसका अर्थ होता है। उसमें से ही एक दूसरे को सुख देना, एक दूसरे की प्रगति के लिए प्रयास करने का कर्तव्य आता है। प्रश्न उठ सकता है कि ऐसा प्रेम और प्रामाणिकता होने के बाद पति-निधन के पश्चात् फिर से शादी करना अप्रामाणिक नहीं है क्या? फिर वही नियम पति के लिए भी होना चाहिए। लोगों को एक पत्नीव्रत का महत्त्व समझाने के लिए ही श्रीरामचंद्र का अवतार हुआ। किंतु वह नियम केवल महिलाओं के लिए ही क्यों होना चाहिए? इसका उत्तर यह है कि महिलाएँ ही समाज की शुद्धता, संस्कृति व देव कार्य का रक्षण करती हैं, इसलिए यथासंभव उनको अधिकाधिक उच्च वातावरण में रखा जाता है। पुरुषों पर प्रायः वह जिम्मेदारी नहीं रहती। इसलिए उनपर बंधन नहीं रखा गया, किंतु अब वैसा प्रेम व प्रामाणिकता है कहाँ? इसके उपरांत समय के अनुसार अपना मार्ग कायम रखते हुए क्या हमने आगे नहीं जाना चाहिए? समय के अनुसार अंतर पड़ता ही है। उदाहरण के तौर पर बहुत पहले विवाह पद्धति ही नहीं थी। उसका प्रारंभ श्वेतकेतु ने किया। हम आगे बढ़कर जो सबमें प्रचलन में नहीं है, ऐसी पुनर्विवाह पद्धति शुरू कर सकते हैं। अधिक आयु की लड़कियाँ शुद्ध मिलना कठिन न होने के बावजूद प्रौढ़ विवाह क्यों रूढ़ करें? ऊपर बताया हुआ पाप प्रकृति का कारण क्या यहाँ लागू नहीं होता? विधवाओं को इंद्रियोपभोग के लिए पुनर्विवाह के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग ही नहीं है। वैसी स्थिति कुमारियों की नहीं हैं, उनके लिए जीवन आगे आने वाला होता है। यह सच है कि प्रौढ़ लड़कियाँ सामान्यतः शुद्ध नहीं रहतीं, किंतु शादी नहीं होना उसका मुख्य कारण नहीं है। उसके लिए आजकल की शिक्षा-प्रणाली बड़ी मात्रा में जिम्मेदार है। उसमें भी यह संक्रमण काल है। एकाएक बाँध ध्वस्त हुआ तो ऐसा ही होनेवाला है। इसलिए वे मूलतः दोषी हैं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। यदि प्रौढ़ विवाह शुरू हुए तो इस दोष का पूर्णतः निराकरण हो सकता है। अब हो यह रहा है कि कुछ लड़कियाँ प्रौढ़ बनती हैं और उनकी सहेलियों की शादी हो जाती है और वे माँ भी बन जाती हैं। ऐसी स्थिति में यदि उस प्रौढ़ कन्या के मन में काम-वासना जागृत हुई, तो उसका क्या दोष? लड़कों में भी यदि मित्र की शादी होती है, तो अपनी भी होनी चाहिए ऐसी भावना जागृत होती है। जैसे इसमें कुछ लड़के अपवाद हैं, वैसे ही लडकियाँ भी अपवाद

हो सकती हैं। ऐसी कई प्रौढ़ लडकियाँ है, जो विवाह के पहले शुचिर्भूत और विनयसंपन्न होती हैं। इसलिए प्रौढ़ कुमारियाँ अनीतिमान होती हैं, यह आरोप सँभलकर करना चाहिए। क्या शादी के बाद लड़कियों के मन में पाप आता नहीं? मैं तो कहता हूँ कि वह कभी भी हो सकता है। इसको जैसा बाल-विवाह से रोका जा सकता है, वैसे ही योग्य शिक्षा से भी रोका जा सकता है।

किंतु बाल-विवाह अच्छे होते हैं, पढ़ने से लड़कियाँ बिगड़ती हैं, यह धारणा बनी है, वह अभी भी विद्यमान है। जैसे-जैसे स्त्री शिक्षा में (आज जैसी शिक्षा नहीं) सुधार होता जाएगा, उसका प्रसार होता जाएगा, वैसे-वैसे सारे आक्षेप झूठे सिद्ध होने लगेंगे। अब समाप्त करता हूँ। शेष अगले पत्र में।

फिर भी 'ईश्वर निर्मित पुष्प ईश्वर को ही अर्पण करना अपराध नहीं, बल्कि कर्तव्य है और कर्तव्य मानकर ही क्षमा याचना करता हूँ, इसका अर्थ नहीं समझा (संदर्भ के साथ लिखें)।'

पत्र लिखा १३ तारीख को, लिफाफे पर विश्वविद्यालय की १६ की मोहर है और १६ की चेन्नै की, यह कैसे? तुम्हारे कमरे से पत्र डाक में जाने के लिए तीन दिन लगे? स्पष्ट करें। अच्छा।

दूसरों को तुरंत अपने जैसा बनानेवाले तुम्हारे जैसे का

मधु

कि कि कि

पत्र क्रमांक ६

मत्स्यशाला, ट्रिप्लीकेन मद्रासपट्टण,
३ अप्रैल १६२६

मित्रवर बाबूराव तैलंग,

नमस्कार। आज जो पत्र लिख रहा हूँ, इसके कारण बहुत हैं। विशेष यह कि संभवतः यह पत्र अंतिम होगा। अरे! इसका तो दूसरा अर्थ भी होता है। 'अंतिम' शब्द का स्पष्टीकरण न देने से बहुत गड़बड़ होगी। इसका अर्थ इतना ही है कि यहाँ से बनारस के तुम्हारे पते पर जानेवाला यह अंतिम पत्र होगा, क्योंकि इस पत्र के पूरा होने में तीन-चार दिन सहज ही लगेंगे। मेरे आलसी होने के कारण यह हमेशा का ही है। थोड़ा लिखकर

रख देता हूँ, फिर घंटों उसकी ओर देखता तक नहीं। इसके लिए भी कई कारण हैं, जो बाद में बताऊँगा।

गत पत्र में एक प्रश्न का उत्तर देना शेष रह गया था। पत्र विस्तृत होने के कारण तब लिखना संभव न था। वह ईश्वर के वैचारिक अस्तित्व के बारे में था।

विचार करें कि पृथ्वी, चंद्र, सूर्य, ग्रहमालिका, असंख्य तारे, अपनी आँखों से दिखाई देनेवाले पदार्थ कैसे उत्पन्न हुए? हम जानते ही हैं कि जिसका अस्तित्व ही नहीं है, उसमें से तो वह निकल नहीं सकता। ऐसा कहते हैं कि सूर्यमाला तेजोमेघ (Nebul) से बनी है, जिसे हम 'आकाशगंगा' कहते हैं। यह तेजोमेघ भी कहीं से उत्पन्न हुआ होगा? यह एक मुद्दा हुआ।

अब रसायनशास्त्र के आधुनिक संशोधन को देखें। प्रत्येक वस्तु अणु से बनी है। अणु, अर्थात् परमाणु के समूह के मूलतत्त्वों में परमाणु अलग-अलग प्रकार के होते हैं। उसके बाद का संशोधन, अर्थात् इलेक्ट्रोन थ्योरी है। प्रत्येक Atom सूर्यमालिका जैसा रहता है। मध्यवर्ती सूर्य के रूप में नाभि (Nucleus) और उसके चारों ओर घूमनेवाले इलेक्ट्रान्स। इलेक्ट्रान सभी मूलतत्त्वों में एक जैसे ही रहते हैं। किंतु उनकी संख्या के कारण परमाणु के गुणभेद होते हैं। नाभि केवल एक गुण की होती है। इसका अर्थ यह कि पूरे विश्व के दो भाग हैं। एक Nucleus और दूसरा Electron. अर्थात् सांख्य के अनुसार पुरुष (Nucleus) और प्रकृति (Electrons) है। यदि प्रकृति में पुरुष का बीज रखा तो विश्व के अलग-अलग प्रकार उत्पन्न होते हैं। यह सांख्य का द्वैत सिद्धांत विज्ञान ने ही सिद्ध किया है।

उपरोक्त दो मुद्दे यदि एकत्र किए तो हम सांख्य के द्वैत सिद्धांत तक पहुँचते हैं। अब कुछ Physico - Chemist कहते हैं कि Nucleus प्रधान है। उसको अलग करना संभव हुआ तो कोई भी पदार्थ बनाया जा सकेगा अथवा ऐसा भी पता लगेगा कि Nucleus के कारण या अन्य किसी से यह दो मूल प्रकार उत्पन्न होते हैं। इसका अर्थ यही है कि Nucleus और Electron के परे एक अवस्था तक जाने से सारे विश्व के कारण का पता चलेगा। मतलब विश्व का मूल, जिसे ईश्वर कहते हैं, उसका अस्तित्व है— ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

हरेक वस्तु का कोई न कोई गुण होता है। ईश्वर नाम का पदार्थ किसी ने देखा नहीं, किंतु उसके परिणाम के आधार पर हम कह सकते हैं कि स्वयं को व्यक्त करने का गुण इस अव्यक्त को ज्ञात है। ब्रह्मवृक्ष का मूल

और उसका गुण ऐसा दिखता है और यही सर्वाधिक योग्यता का है। एक व्यक्त वस्तु से दूसरी व्यक्त वस्तु निर्माण करना संभव है, किंतु अव्यक्त से व्यक्त का निर्माण होना तो चमत्कार ही होगा। ईश्वर के गुण सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान और सर्वज्ञ के हैं। जो स्वयं को इस रीति से व्यक्त करता है, उसके सामर्थ्य और ज्ञान के संबंध में कल्पना करना भी कठिन होता है। वह अव्यक्त सब वस्तुओं में व्यक्त रूप में रहता है, यह तो साफ ही है। जो ऐसा सर्वज्ञ, सर्व सामर्थ्यवान और सर्वव्यापी है, उसके न्याय और दया के संबंध में संदेह होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अब सवाल उठता है कि इस अव्यक्त को यह गुण कैसे प्राप्त हुए? जहाँ ये गुण दिखते हैं, वहाँ उसे प्रकट करने के लिए मस्तिष्क व शरीर होते हैं। फिर इस अव्यक्त को यह गुण कैसे प्राप्त हुए?

इसका उत्तर तत्त्वज्ञान में नहीं है। यदि है, तो ऊपर बताए अनुसार ही मिल सकता है, किंतु भक्ति मार्ग की ओर मुड़ने पर तुरंत दिखाई देता है। क्योंकि भक्ति किसकी? हम अव्यक्त के अत्युच्च व्यक्त-स्वरूप की भक्ति करते हैं। वह व्यक्त-स्वरूप ऐसा था और है, इसीलिए ईश्वर अव्यक्त ही होना चाहिए। अव्यक्तोपासना करनेवाले भी व्यक्त उच्चतम गुणों के समूह को परमेश्वर मानते हैं। हम व्यक्तोपासक भी वही कहते हैं। इस दृष्टि से यदि देखें तो सर्वगुणसंपन्न परमेश्वर अव्यक्त है, ऐसा ध्यान में आता है।

इन सबके मूल में Natural force और Electric force हैं, ऐसा जो मानते हैं और ईश्वर वगैरा सब झूठ है ऐसा कहते हैं, उनको यह अवश्य बताना चाहिए कि शक्ति या ओज किसी (Energy and Force) आधार के बिना नहीं रह सकता। उनका आधार वही अव्यक्त है। जिनको यह मान्य नहीं, उनमें से बहुत से प्रायः दुराग्रही रहते हैं। उनके लिए नास्तिकता फैशन मात्र है। व्यावहारिक मनुष्य कहलाने में उन्हें गर्व का अनुभव होता है। उनमें प्रश्नों के उत्तर न मिलने पर भी हमारे तर्क का यथार्थत्व खुले दिल से मान्य करने की प्रामाणिकता नहीं होती। कई नास्तिकवादी तो विश्व की ऊपरी चकाचौंध पर ही संतुष्ट रहते हैं और विचार करना टालते हैं। ऐसे दोनों प्रकार के उदाहरण मैंने देखे हैं।

ऊपर दिए हुए तर्कों को पूर्ण कहना अस्वाभाविक होगा, पर यह विचारों की एक दिशा है। पूरा विचार लिखने के लिए तो एक ग्रंथ ही लिखना पड़ेगा और वैसी मेरी योग्यता नहीं है। वैसा लिखने की आवश्यकता भी नहीं है, क्योंकि उपनिषदों ने ऊपर लिखा हुआ सब पहले ही अलग

रीति से सिद्ध किया है। यह विषय कितना व्यापक है, इसका उदाहरण पहले जिस व्यक्ति के संबंध में लिखा था और जिसके कारण यह सब प्रयास करने पड़े, उसने ही मुझे परसों यह सवाल पूछा था। उसको उत्तर दिए। उसे बीच में बोलने से मना किया था, तब भी बताने में चार घंटे लगे। फिर भी मुझे पूरा संतोष नहीं था और वह निरर्थक व्यक्ति ऐसा हास्यास्पद उत्तर देकर मुक्त हुआ कि 'यह सब ठीक है, किंतु हम इसे मान्य नहीं करते। उसका उत्तर सुनकर लगा कि अपने मुँह को व्यर्थ में ही कष्ट दिया। किंतु कुछ भी निरर्थक नहीं होता। अपने श्रम सफल हों या न हों, वह करने ही चाहिए, ऐसा स्वभाव होने के कारण जो किया, वह ठीक ही किया, ऐसी भावना बनी।

कल तुम्हारे द्वारा भेजा हुआ पोस्टकार्ड मिला।

अब महत्त्व की एक बात ध्यान रखना– बनारस से नागपुर आते समय बिलकुल सस्तेवाले कालभैरव के १०० गंडे (चार आने के मिलेंगे) लेते आना और श्री मुळे मास्टर को देना। तुम्हें आवश्यकता हो तो इसके अतिरिक्त लाना। इस काम के लिए श्री अलाटे की सहायता लोगे तो ठीक रहेगा। इसे भूलना नहीं, क्योंकि श्री मुळे को लोगों को गंडे बाँटने से बहुत प्रसन्नता होती है। मैं हर बार उनके लिए लाता था। कभी-कभी तो डाक से भी भेजता था।

तुम स्वयं के लिए क्या ले जाने वाले हो? बनारसी रेशमी साड़ी या और कुछ? जरीकाठ का कपड़ा ले जाने में भी कोई आपत्ति नहीं है। किंतु एक बात ध्यान में रखना कि केवल घरवाली के लिए ही नहीं, बहन और मामी के लिए भी ले जाना, अन्यथा उस बेचारी को क्या लगेगा, यह तुमको पता ही है। तुम्हारी बहन तो साफ कहेगी कि देखो – 'अपनी पत्नी के लिए सब कुछ लाता है, किंतु बहन के लिए लाने की याद नहीं रहती।' तब तुम भी उसे स्पष्टता से कह सकोगे कि तुम्हारा पति इतना पैसा कमाता है, क्या वह अपनी लाड़ली पत्नी के लिए जरी कपड़ा भी नहीं खरीद सकता? उसके लिए भाई पर निर्भर रहना पड़ता है? किंतु न ले जाने पर क्या कहोगे?

हाँ, मेरे कमरे में तीन संन्यासी रहने के लिए आए हैं, उनमें से एक उच्च स्थिति पर पहुँचे हुए हैं। भगवदुपासना और सत्य उनके ध्येय हैं। गृहस्थाश्रम में थे, तब बहुत मद्यपान करते थे। अब सब छोड़ चुके हैं।

पूर्वाश्रम में भी सदैव सच बोलते थे। एक बार निषिद्ध जगह पर लघुशंका करने पर पुलिस ने पकड़ा और कहा— 'मुझे कुछ दो, तो छोड़ दूँगा अथवा कोर्ट में थोड़ा झूठा बयान देने पर भी संभवतः छूट सकते हो।' उसके इस सुझाव पर इन महाशय ने उसे इतना पीटा कि उसके मुँह से खून बहने लगा। महाशय काफी शक्तिशाली हैं। पुलिस ने एक और शिकायत दर्ज कर दी। महाशय जी ने न्यायाधीश को सच्ची बात बता दी कि 'यह पुलिसवाला मुझे झूठ बोलने के लिए कहता था।' जुर्माना हुआ, वह देना संभव नहीं था, इसलिए कुछ दिन कारागार में रहना पड़ा। यह घटना वे चेन्नै में थे, तब की है। उस समय संन्यास ग्रहण नहीं किया था।

अन्य दो संन्यासी कुछ विशेष नहीं हैं, ऐसे ही लंगोटी धारण किए हैं। यदि एक सत्पुरुष की संगति के लिए कुछ सामान्य और अवांछनीय लोगों को भी साथ रखना पड़ा, तो कोई बात नहीं।

अब कुछ लिखता नहीं, किंतु इतना ही बताता हूँ कि स्वास्थ्य उत्तम है, व्यायाम शुरू है, जब समय मिले, तब उत्तर देना।

१० अप्रैल को वर्ष प्रतिपदा है, उस निमित्त नववर्ष की शुभकामनाएँ स्वयं रचित कविता के रूप में प्रेषित कर रहा हूँ—

एक संपले वत्सर आता गेला इतका काळ अहा ।
आजवरि केले काय काय ते नीट परिक्षुनि अता पहा ।
अजुनि किती तरि करावयाचे सिद्ध असा त्या करावया ।
दूसरे उगवे वर्ष आज हे, संधि अन्यही द्यावया।।

(एक संवत्सर समाप्त हुआ, इतना काल बीत गया। आज तक क्या-क्या किया, इसका ठीक से परीक्षण करो और आगे बहुत करना है, उसके लिए सिद्ध रहो। अन्य अनेक अवसर देने के लिए आज नये संवत्सर का उदय हो रहा है। —सं.)

कारण जागृत रहना आवश्यक है, यह मुझे बताने की आवश्यकता नहीं है, फिर भी पौर्वात्य कालगणना के उपलक्ष्य में पाश्चात्य शिष्टाचार का पालन करते हुए चार पंक्तियाँ लिखकर भेज रहा हूँ।

तुम्हारा

मधु

पत्र-क्रमांक – ७

मत्स्यशाला, चेन्नै
६ जून १९२९
ज्येष्ठ शु.२ शके १८५१

श्री बाबूराव तैलंग,

पत्र मिला। पत्र न भेजने के लिए मुझे दोष देने का कोई कारण नहीं था, क्योंकि पत्र लिखने के लिए दूसरी ओर से आए हुए पत्र का आधार लगता है, जो मुझे मिला नहीं। इसलिए मैंने भी लिखा नहीं। यदि विलंब होना अनुभव कर रहे थे तो कारण पूछने के लिए एक कार्ड भेजा होता।

इस बार जो विलंब हुआ है, वह क्षम्य है, उसके लिए कारण बहुत हैं। एक पूज्य भाऊजी यहाँ आए हैं, इसलिए घर के काम बढ़ गए हैं। दूसरे कार्यालय में भी काम अधिक है, रविवार को भी काम करना पड़ता है। इसलिए समय निकालना मुश्किल था। आज भी वैसा ही है। सुबह ७ बजे पत्र लिखना प्रारंभ किया है, किंतु आधे घंटे में सब छोड़कर जाना पड़ेगा। जो भी थोड़ा समय मिला है उसका उपयोग पत्रलेखन के लिए सोचा था, किंतु छौंक देते समय ध्यान न रहने के कारण दाल उबलते तेल में गिरी। दाल गाढ़ी होने के कारण तेल ने उछाल लिया और वह मेरे दाहिने हाथ पर आ गिरा, जिससे कलाई से लेकर कंधे तक हाथ जल गया। जगह-जगह पर फफोले उठ आए हैं। बहुत जलन हो रही है। आजकल पू. भाऊ जी ही रसोई पकाते हैं। मैं छोटी बहू जैसा केवल ऊपर का काम करता हूँ। आज हाथ थोड़ा ठीक है, इसलिए लिख रहा हूँ, अन्यथा और विलंब होना संभव था। ऐसा ही होता है, क्या करें?

१२ मार्च १९२९

संस्कृति के विषय में तुम्हारी दी हुई व्याख्या में मुझे एक कठिनाई लगती है। तत्त्वज्ञान अर्थात् दर्शन का क्या अर्थ है? हम जानते ही हैं कि अपने में शुद्ध द्वैत से शुद्ध अद्वैत तक तत्त्वज्ञान के सारे प्रकार हैं। द्वैत भी दो प्रकार का है – एक सांख्य है। जिसमें प्रकृति और पुरुष, नित्य और अक्षर हैं और इसी से सृष्टि का निर्माण हुआ है। ऐसा कहनेवाले निरीश्वरवादी हैं। दूसरे हैं भक्ति-प्रधान ईश्वरवादी। ईश्वर अलग है और इस सचेतन-अचेतन सृष्टि में जिनका अंतर्भाव है, वे हम अलग हैं। ईश्वर का भजन-पूजन करो और सुख में रहो, ऐसा कहनेवाले। ईसाई तत्त्वज्ञान से

कितना साम्य है यह मुझे बताने की आवश्यकता नहीं। ऐसे में ईसाई या मुसलमान बने तो भी दूसरे प्रकार का द्वैत माननेवाले होने के कारण अपनी संस्कृति पर कोई फरक नहीं पड़ेगा।

स्मृति के संबंध में भी वही समस्या है। आर्यसमाजी स्मृति नहीं मानते। इसलिए वे क्या अपनी हिंदू संस्कृति से अलग हुए? भागवत-धर्मी स्मृति को गौण मानते हैं, उनका क्या होगा?

अब विद्या के संबंध में विचार करें। आज हम जीवविज्ञान या प्राणिविज्ञान पढ़ते हैं, वह पहले नहीं थे। तब क्या जिस विद्या का पश्चिम में उदय हुआ और उसे ही पढ़नेवाले हम क्या अपनी विद्या से वंचित हो गए हैं? या यदि हमने आयुर्वेद की चरक संहिता, भावप्रकाश, माधवनिदान, सुश्रुत संहिता आदि ग्रंथो का अध्ययन न करते हुए Allopathy के Comparative anatomy का अध्ययन किया, तो क्या हमारी संस्कृति समाप्त हो जाएगी? हनीमेन की होमियोपेथी या अपने कृष्णराव जिसमें पारंगत हैं, उस क्रोमोपेथी का अध्ययन अपनी संस्कृति के लिए घातक सिद्ध होकर श्री कुलकर्णी क्या आर्य संस्कृति से दूर हो जाएँगे?

अब चित्रकला के विषय में देखो। मुंबई के सुप्रसिद्ध चित्रकार श्री धुरंधर पाश्चात्य पद्धति के अनुसार चित्र निकालते हैं, क्या उनको संस्कृति से बाहर निकाल दिया गया है?

सच बात तो यह है कि विद्या, कला, तत्त्वज्ञान पूरे विश्व की धरोहर होती है। अपने देश में उत्पन्न होने के कारण वह केवल हमारा ही है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। हमारी विशेषता एक ही है, वह है हमारी सर्वसाधारण मनोरचना, जिसके कारण विद्या उत्पन्न होनी संभव होती है। यह हमारी संस्कृति की विशेषता है। उससे जो भिन्न है, वह केवल अनुषंगिक है। किंतु अनुषंगिक होने के कारण उसका महत्त्व कम नहीं होता, क्योंकि इन बाह्य गुणों से ही उसके आंतरिक गुणो का परिपोष होता है। यदि अंदर के मूल गुण सशक्त होने के पहले ही बाह्य गुण बदले तो मूल संस्कृति भस्म हुए बगैर नहीं रहेगी। इसलिए अपने बाह्य प्रकारों की रक्षा करनी पड़ती है और उन्हें अधिक कार्यक्षम बनाना होता है।

ऐसा सोचकर ही मैंने कहा कि 'अध्यात्म' हमारी संस्कृति है और उसकी रक्षा करते हुए बाह्य आवरण बदला जा सकता है। यह भी कहा कि बाह्य भाग बदलने से यदि उसकी हानि होती हो, तो कुछ भी हो उसे

बदलना नहीं चाहिए।

१८ मार्च १९२९

यह सब ठीक है, पर हम प्रामाणिकता से जैसा लगे वैसा करें और दूरगामी विचार कर जितना बने, अपना कर्तव्य करते रहें।

ईश्वर के संबंध में जो लिखा है कि उसका पता ही नहीं लगेगा– यह बिलकुल सच है। ब्रह्मा के मुख से निकले हुए वेद भी 'नेति नेति' कहते हैं। इसीलिए ईश्वर को अनादि और अनंत कहते हैं।

कभी-कभी पदार्थ के गुणों से उसके परिणाम ध्यान में आते हैं, तो कभी परिणामों से गुणों का पता लगता है। ईश्वर एक अव्यक्त पदार्थ है। यहाँ तक पहुँचने के बाद यह स्पष्ट होता है कि उस अव्यक्त से व्यक्त सृष्टि का निर्माण हुआ है। इस परिणाम के आधार पर उस अव्यक्त में स्वयं को व्यक्त करने का गुण है, शक्ति है, ऐसा हम विश्वास से कह सकते हैं।

श्री मुळे मास्टर को गंडे और माला दी, यह बहुत अच्छा हुआ। इसके लिए आभार, अनंत आभार।

भेंट होना तो संयोग की बात होती है। क्योंकि हम सोचते एक हैं और होता है कुछ दूसरा ही। किसी के सपने में भी आया होगा क्या कि गत वर्ष मेरी तुमसे बनारस में भेंट होगी? किंतु संयोग से हम मिले ही। इस वर्ष की छुट्टियों में वह योग दिखता नहीं। फिर भी कभी तो भेंट होगी ही। केवल स्थान और समय का प्रश्न है। किंतु काल और दिशा सत्य है या केवल आभास, इस संबंध में तत्त्वज्ञान में भी रहस्य बना रहने के कारण उसके संबंध में चिंता करने का कोई कारण नहीं।

२३ मार्च १९२९

देखो, यह ऐसा होता है। आज सुबह की गाड़ी से पूज्य. भाऊजी नागपुर जाने के लिए निकले। उनको गाड़ी में बिठाकर वापस आया, तब से अस्वस्थ हूँ। अब रात्रि के ८ बजे हैं फिर भी मन स्थिर नहीं हुआ। संभव है, कल सुबह तक हो जाए।

अब छात्रवृत्ति के बारे में बात करें। जिनकी ओर से वह मिलना संभव था, वे स्वयं मार्च में आए। छुट्टी पर होने के कारण वे अमरीका, यूरोप आदि की यात्रा पर गए थे। वापस आने पर भी चेन्नै में पंद्रह दिन भी नहीं रहे। आज यहाँ, कल वहाँ ऐसा दौरा शुरू है। इसलिए उनका मेरा

विशेष संपर्क नहीं हो पाया। इस कारण छात्रवृत्ति भी नहीं मिल सकी।

अब बची मेरी डाक्टरी। इंग्लैंड में जाकर वहाँ दो साल तक रहने के बाद वह मिलेगी अथवा किसी बड़े विश्वविद्यालय में चार-पाँच साल तक काम कर, एक बड़ा शोधग्रंथ लिखने पर मिलेगी। अर्थात् डाक्टरी का प्रश्न ही समाप्त हो गया। उसके लिए बहुत पेपर नहीं लिखने पड़ते केवल एक बड़ा शास्त्रीय महत्त्व का पेपर लिखने से काम हो जाता है, पर ऊपर बताए दोनों में से किसी एक स्थान पर होने से ही होगा। मेरा तो अभी एक भी पेपर पूरा नहीं हुआ है।

मेरे यहाँ पर ही अध्यापक बनने की जो वार्ता उधर फैली है, वह सर्वथा निराधार है। यहाँ और अध्यापक की नौकरी? यहाँ के लोग ही पूरे हिंदुस्थान में नौकरी के लिए मारे-मारे घूमते हैं। वहाँ मेरे लिए नौकरी? यह इतना असंभव है कि उसकी किसी ने कल्पना कैसे की, यह रहस्य ही है।

संभवतः बनारस में जगह होगी। देखेंगे, अभी कुछ नहीं बता सकता। मैं प्रयास तो कर ही रहा हूँ, लेकिन ईश्वर पर छोड़ दिया है। कुछ भी हुआ तो डर नहीं। आगे का आगे सोचेंगे।

<u>२४ जून १९२९</u>

कर्म के झमेले में क्यों पड़ना? कर्म के सिद्धांत पर बहुत से ग्रंथ लिखे गए हैं, फिर भी उत्तर समाधानजनक नहीं मिलता। मेरे पास तो उधार की जानकारी है। जिनके पास से मैंने वह ज्ञान लिया उन श्री देसाई ने ही 'मैं नहीं बता सकता' कहा है, तब मेरी क्या बिसात?

यह भिखारी है, पीड़ित है, इसे मुझे कुछ देना चाहिए, ऐसा कहकर देनेवाला पूरे विश्व के सूत्र अपने हाथ में लेना चाहता है। समय पर देने की इच्छा होने से जो देता है, वह स्वयं के कर्म से स्फूर्त होकर देता है। दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि उस भिखारी के कर्म में वैसा दान मिलना था, इसलिए उस दाता को प्रेरणा हुई। किंतु इससे देनेवाले को कोई श्रेय नहीं मिलता। 'मैं' बड़ा होने के कारण देना और दयाबुद्धि से देना- इसमें काफी फर्क है। मुझे ऐसा लगता है कि श्री देसाई ने संभवतः वही सूचित किया है। तुकाराम महाराज की जो उक्ति 'मैं' देता हूँ ऐसा कहनेवाले के संबंध में नहीं अपितु अंतःकरण में दयाबुद्धि निर्माण होकर जो देता है उसके संबंध में है। वही साधु कहा जा सकता है और ईश्वर वहाँ ही वास करता है, ऐसी उनकी उक्ति है।

आखिर हमारा पत्र श्री देसाई ने पढ़ा ही। उन्होंने जो प्रश्न किया है, वह उचित ही है। यदि गलती से किसी का पैर फिसल गया और जमाने का ज्ञान या अनुभव न होने के कारण या हानि-लाभ की जानकारी न होने से किसी भोली-भाली लड़की के संबंध में वैसा हो सकता है (लड़कों के संबंध में भी हो सकता है) तो उससे उनका मन ही दूषित हुआ- इस प्रकार का आरोप करना ठीक नहीं। पश्चाताप से मन शुद्ध होता है (पश्चातापेन शुद्धता) किंतु एक बार अपवित्र हुआ शरीर फिर से शुद्ध नहीं होता, इसलिए उन्होंने जो कहा, वह ठीक है।

एक बात यह भी है कि लड़की की पवित्रता नष्ट करने के लिए बदमाश लड़के और पहले ही बहकी हुई लड़कियाँ या परिस्थिति कारण होती हैं। पहले अज्ञान के कारण शरीर बिगड़ता है और उसका अधिक संयोग हुआ तो मन भी बिगड़ने लगता है, ऐसा मेरा मत है। संभवतः किसी को यह स्वीकार न हो। श्री देसाई ने किया हुआ प्रश्न भी उचित है।

अब तुम जल्द ही बनारस वापस जाओगे। इसका अर्थ यह कि तुम्हें नागपुर में पत्र भेजना असंभव होगा। मैं भी जल्द ही नागपुर आ रहा हूँ। इसकी सूचना तुमको दूँगा ही, लेकिन संयोग देखो, तुम नागपुर छोड़कर जाओगे और मैं नागपुर पहुँचूँगा। वह भी थोड़े दिनों के अंतर से।

तुम उत्तीर्ण होकर अगली कक्षा में गए हो, यह बहुत ही आनंददायक समाचार है। मैंने पहले ही कहा था कि डरने की बात नहीं है। अब प्रारंभ से ही अध्ययन शुरू करो। स्वयं ही टिप्पणियाँ निकालो। बार-बार उसे स्मरण करो। किसी भी स्थिति में इस वर्ष बी.एससी. होना है। ईश्वर की कृपा से यदि मुझे वहाँ नौकरी मिली तो मैं भी तुम्हारी सहायता के लिए आता हूँ। नहीं आया, तो भी अध्ययन जारी रखो।

कुछ दिन पूर्व मामा का पत्र आया था। उसमें तात्या (तुम्हारा छोटा भाई) उसी कक्षा में रह गया है, ऐसा उल्लेख था। यह बहुत बुरा हुआ। अच्छा अध्ययन करके परीक्षा में उत्तीर्ण होना, यह तुम दोंनों का आद्य कर्तव्य है। तुम्हारे पिताजी परिश्रम से प्राप्त किया धन तुम्हारी पढ़ाई में लगाते हैं, वह सार्थक करना तुम्हारी जिम्मेदारी है। बाकी सब गौण। यह करने के बाद यदि समय मिला तो, मिलता ही है। पढ़ाई छोड़कर यदि संघ-संघ करते बैठोगे तो वह मूर्खता होगी। संघ में रहना अच्छा है, किंतु परीक्षा में यशस्वी होकर घर के लोगों के परिश्रम को सार्थक करना उससे

भी अच्छा है, यह भूलना नहीं चाहिए। पिताजी ने दिया हुआ कर्तव्य पूरा नहीं कर सकते और चले सारे हिंदू समाज का कर्तव्य पूरा करने। घर के चार लोगों की सेवा करना नहीं आता और निकले अखिल हिंदू समाज की सेवा करने। इसमें कोई अर्थ नहीं। फिर भी तुमको जैसा उचित लगे, वैसा करो। मैंने अपना मत तुम्हारे सामने रखा है। उसका विचार करना या न करना तुम्हारे पर निर्भर है।

मेरा स्वास्थ्य ठीक है, हाथ भी अच्छा हो चुका है। थोड़ी खाँसी है, जो कल-परसों तक ठीक हो जाएगी। उधर सब ठीक होगा ऐसी आशा करता हूँ। आप की नकसीर के लिए एक औषध सुझाऊँ क्या? विशेष कुछ नहीं। सुबह-शाम ५-५ मिनिट शीर्षासन करते जाओ। मुझे उससे लाभ हुआ, इसलिए कह रहा हूँ।

श्री देसाई का पत्र तीन-चार दिन पहले ही आया है, वे स्वस्थ है। 'वृत्तदर्पण' भी जल्दी से भेजनेवाले हैं। उनको अभी उत्तर नहीं भेजा, क्योंकि यह पत्र पूरा करना था। अब कल-परसों में लिखूँगा। नागपुर से कम से कम एक (याने मेरे इस पत्र का उत्तर) पत्र आएगा, ऐसी आशा है।

तुम्हारा

मधु

रि रि रि

(मनुष्य स्वभाव के विभिन्न पहलू और उसका सूक्ष्म निरीक्षण शब्दों के माध्यम से प्रकट करने की कला से परिपूर्ण यह पत्र श्रीगुरुजी द्वारा अपने नवपरिचित और संगीत के जानकार मित्र श्री वामनराव वाडेगाँवकर को लिखा है।)

पत्र-क्रमांक – ८

द्वारा बी.बी.रायकर,बी.ए.
सर्कल ६, महाल, नागपुर
३ अगस्त १९३१

प्रिय श्री वामनराव

आपका अनपेक्षित रूप से तुरंत भेजा गया पत्र मिलने के बावजूद मैंने कई दिनों से उत्तर नहीं लिखा। आप कहेंगे कि यह विचित्र है, किंतु आपने मेरे स्वभाव की पहचान की होती, तब कुछ भी विचित्र नहीं लगता।

फिर भी जो पत्र मैं लिख रहा हूँ, वह पहले लिखा होता तो अच्छा होता, यह मैं खुले दिल से मान्य करता हूँ। इस विलंब के लिए क्षमायाचना करना अपना कर्तव्य मानते हुए भी मित्रता में इस औपचारिकता को अनावश्यक मानता हूँ।

मुझे स्मरण है कि मैंने कहा था कि विस्मरण की बुरी आदत मुझमें नहीं है। किंतु 'दृष्टि आड़ सृष्टि' यह मराठी कहावत मुझपर लागू नहीं होती। इतना सब कहने के उपरांत भी पत्रोत्तर न देने के कारण मेरे संबंध में मत व्यक्त हो सकते हैं, यह मुझे मानना ही होगा। मेरे स्वभाव में एक गंभीर त्रुटि है और वह, याने दीर्घसूत्रता। मुझे इसकी कल्पना होने के बावजूद उसके संबंध में जो विचार करना आवश्यक है, वह न करने के लिए मैं शर्मिंदा हूँ। संगीत में रुचि लेनेवाले लोग भावुक होते हैं, ऐसी मेरी धारणा है और वह गलत भी नहीं है। इसलिए मेरा उत्तर न मिलने से आपको कितना दुःख हुआ होगा, इसकी कल्पना मैं कर सकता हूँ। अपने स्वभाव की यह त्रुटि जल्दी से जल्दी दूर करने का विचार है।

परमप्रिय श्री वामनराव आपका विचार मेरे मन से कभी भी लुप्त नहीं हुआ। मुझ जैसे एक अतिसामान्य अपरिचित के साथ संगीत के संबंध में और उससे अधिक महत्त्व की बात याने मित्रत्व का खुले दिल से आपके साथ जो संवाद हुआ, उसका स्पंदन मेरे हृदय में है। उसके कारण मेरा हृदय भर आता है। आपसे मुंबई के प्लेटफार्म पर मुलाकात होगी, यह मैंने सपने में भी नहीं सोचा था, किंतु उसी क्षण से मैं आपकी ओर खिंचा चला गया, यह बात सत्य है। यद्यपि इस आकर्षण का कारण मैं बता नहीं सकता, पर यह केवल भावना का खेल नहीं है। इसके पीछे मानवी मन के लिए अनाकल्पनीय अज्ञात, फिर भी सत्य कहे जाने वाला अंतःप्रवाह है। आपको शायद वह कम हितकारक लगा होगा, किंतु मुझपर उसका अति हितकर परिणाम हुआ। मनुष्य मात्र सपने में भी कल्पना नहीं कर सकता, इतनी अद्‌भुत और विस्मयकारक चीजें स्वर्ग और भूतल पर हैं। अनेक सुप्रतिष्ठित महानुभावों से आपका घनिष्ठ संबंध होते हुए भी आप मुझ जैसे अति सामान्य स्तर के मित्र से बराबरी का व्यवहार करते हैं, इसका आश्चर्य होता है। सर्वशक्तिमान परमेश्वर पर मेरा पूरा विश्वास है। इसलिए यह असंभव घटना उसके कारण ही घटी है, इस पर मेरा पूरा भरोसा है। अतः सदैव परमेश्वर के ऋण में रहना चाहता हूँ।

अरे, मैं तो मरुभूमि जैसे समझे जानेवाले तत्त्वज्ञान के क्षेत्र में

भटक गया। मुझे धरातल पर उतरकर यहाँ के सुख-दुःख में सहभागी होना चाहिए।

योग्य रीति से क्यों न हो, किंतु जिस व्यक्ति को आपने ज्ञान दिया, उसपर आता हूँ। वह प्रायः मेरे जैसा ही है, फरक इतना ही है कि गत दो सप्ताह से पत्र लिखने का विचार मन में आता रहा और वह कल तक टलता रहा। उसके मन में तो एक क्षण के लिए भी पत्र लिखने का विचार नहीं आया। ग्वालियर से पत्र लिखने का कभी उसने निश्चय किया ही नहीं। वह आठ दिन में वापस आएगा, ऐसा उसकी आदत को देखते हुए कहा नहीं जा सकता। किसी के पूछने पर 'दो दिन में निकलनेवाला हूँ' ऐसा वह हर किसी को बताता रहता है। इस अनिश्चितता के कारण उसके व्यवहार में एक प्रकार की उदासीनता आई है। बालाघाट होकर ग्वालियर जाऊँगा, ऐसा उसने नागपुर छोड़ते समय कहा था। मुझे अनुमान था कि वह एक सप्ताह के बाद ग्वालियर पहुँचेगा। वहाँ जाकर परिस्थिति से अवगत कराने में उसे कम से कम एक सप्ताह तो लग ही सकता है। उसके बाद ही उसका पत्र आपको और मुझको मिलना संभव है। इस विलंब के लिए आपने उसको क्षमा करना चाहिए। आप जब उसको पुनः पत्र लिखें तब उसको विलंब के लिए दोष न लगाएँ तो अच्छा होगा, क्योंकि स्वभाव से वह अतिभावुक है। ऐसा भी कहा जा सकता है कि उसका मन छोटे बच्चे जैसा सरल है। सीख देने के लिए पत्र का प्रयोग करने पर कोई सादा शब्द भी उसकी भावना को ठेस पहुँचा सकता है। मेरे बारे में यदि कहा जाए तो आप कितने भी कठोर शब्दों का प्रयोग करें, मेरे नित्य के मुक्त स्वभाव में यत्किंचित भी फरक नहीं पड़ेगा। वैसे, मैं टीका-टिप्पणी की खास चिंता नहीं करता। दत्तू से अधिक बाह्य विश्व का अनुभव होने के कारण क्रोध को संयम में रखना मुझे संभव होता है। यह अतिशयोक्ति नहीं है, आप दत्तू से पूछ सकते हैं। उससे यही उत्तर मिलेगा, शायद उसको क्रोध नहीं आएगा, किंतु उसकी भावना को ठेस जरूर पहुँचेगी।

आपके नागपुर छोड़ने के बाद मेरी तबीयत खराब हो गई थी। सर्दी, खाँसी, बुखार से त्रस्त था। भूख भी नहीं लगती थी। किंतु एक सप्ताह से ठीक हूँ। थोड़ा सुधार है, धीरे-धीरे भूख भी लग रही है। इसी समय दत्तू का यहाँ से जाना अखरता है। हर सायं उसकी याद आती है। आपको कितना भी विस्मयकारक लगा हो, फिर भी पत्रोत्तर के लिए मेरे द्वारा हुआ विलंब ध्यान में न लें, ऐसी मैं प्रार्थना करता हूँ। जानबूझ कर

विलंब से पत्र भेजने का विचार मेरे मन में कतई नहीं आया। फिर भी विलंब के लिए क्षमाप्रार्थी हूँ। इसके बाद मैं नियमित रूप से और अविलंब पत्रोत्तर देनेवाला हूँ। इसका अनुभव आपको आएगा ही।

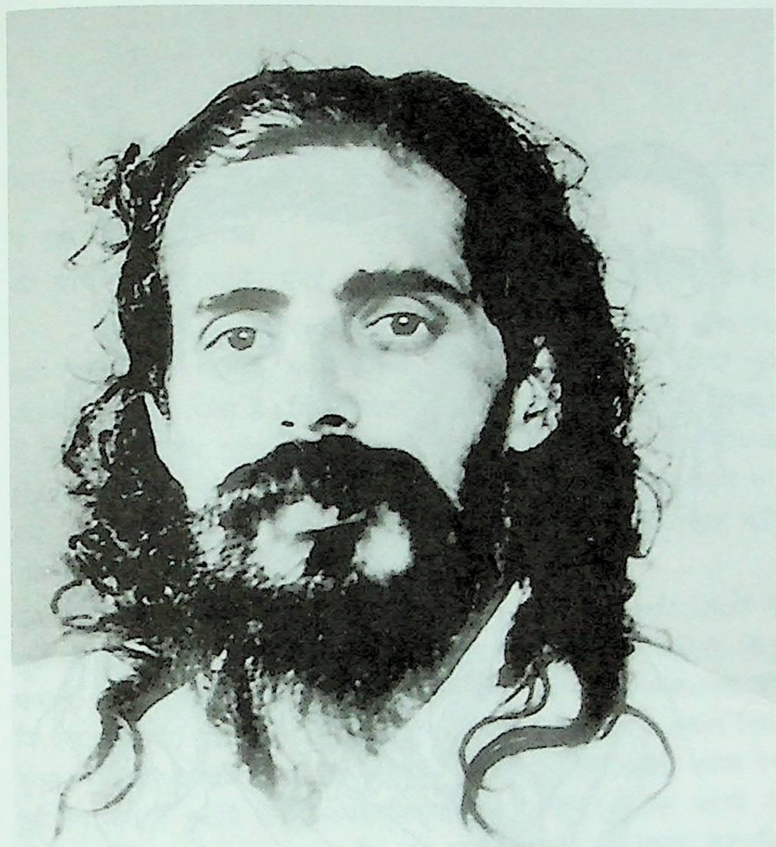
आपका स्वास्थ्य अच्छा रहे, यह मेरी कामना है। आपके संबंध में मेरे मन में सदा आदरभावना ही रहेगी, ऐसा आश्वासन मैं आपको देता हूँ।

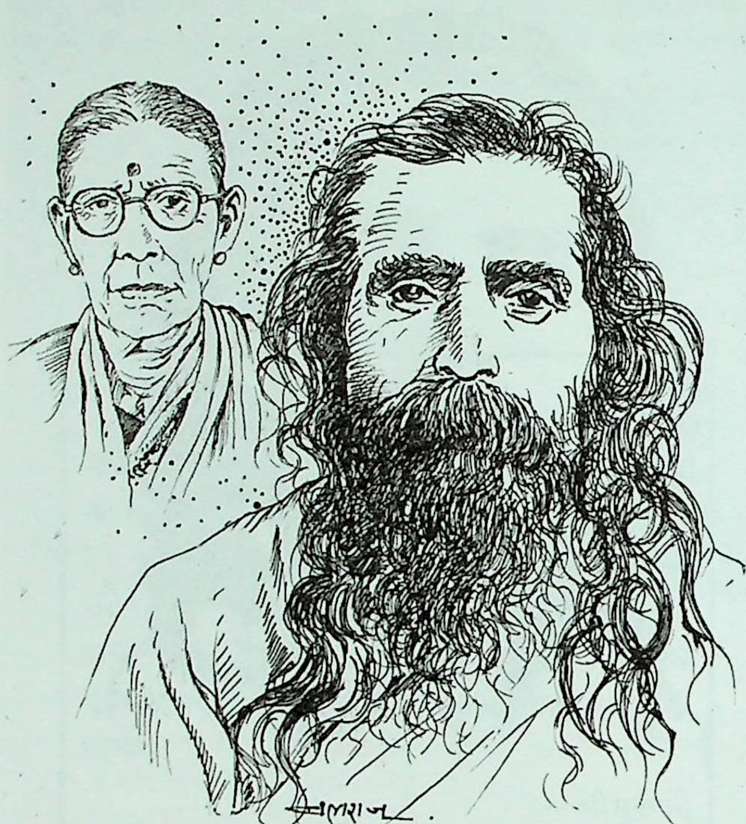
आपका

मा.स.गोळवलकर

हमारे देश ने लोकतांत्रिक प्रणाली को अपनाया है; परंतु इस व्यवस्था की सफलता के लिए आवश्यक है कि जनसामान्य को पर्याप्त प्रशिक्षित एवं प्रबुद्ध बनाया जाए। केवल अक्षरज्ञान देने से उद्देश्य प्राप्ति नहीं होगी। हमारे राष्ट्रजीवन के राजनैतिक, आर्थिक आदि विविध पक्षों के विषय में दायित्व एवं भूमिका के प्रति लोगों को जागरूक बनाना होगा।

— श्रीगुरुजी





(श्री गुरुजी तथा उनकी माता जी)

कुछ अपनी ....

१. प्रारंभिक अध्यापन

श्री वामनराव देशपांडे, मुंबई — काशी, २ सितंबर १९३१

मैं गत मास (अगस्त, सन् १९३१) की १६ तारीख को अचानक यहाँ (प्राणिविज्ञान विभाग, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी) आ गया हूँ। यहाँ मुझे अस्थायी नौकरी मिली है। विश्वविद्यालय के कार्यालय का तार मुझे नागपुर में प्राप्त हुआ और तुरंत यहाँ आना पड़ा। प्राणिविज्ञान विभाग में निदर्शक (Demonstrator) की हैसियत से मैं काम कर रहा हूँ। एक रिक्त स्थान पर यह अस्थायी नियुक्ति है। अतः मैं फिर कब बेकार हो जाऊँगा, कहा नहीं जा सकता।

अब भी मेरे निवास की व्यवस्था नहीं हुई है। किंतु मेरे मित्रों ने मुझे अपने कमरे में स्थान दे दिया है। मेरा स्वास्थ्य कुछ ठीक नहीं है, किंतु एकाध महीने के भीतर ठीक हो जाऊँगा। हमारे विभाग के प्राध्यापक श्री वि.एल.पवार कुछ समय के लिए छुट्टी पर गए हैं, जिससे एक स्थान रिक्त हुआ। मैं इसी विश्वविद्यालय का छात्र हूँ; अतः मेरी नियुक्ति इस स्थान पर हुई है। नौकरी यद्यपि उतनी आकर्षक नहीं है, तथापि मुझे वह करनी ही होगी, क्योंकि करना आवश्यक है। यह पद जनवरी, अधिकतम फरवरी, १९३२ तक रिक्त है, परंतु मुझे पता लगा है कि वह और एक साल रिक्त रहेगा। आशा है, तब तक मैं यहाँ रहूँगा।

२. वैसा का वैसा ही हूँ

श्री वामनराव देशपांडे, मुंबई — काशी, ६ अक्तूबर १९३१

मुझे इस समय सौ रुपए वेतन मिलता है। इस नौकरी में स्थायी होने पर अधिकतम २००-२५० रुपए वेतन प्राप्त होगा। वेतन के संबंध में

मेरी शिकायत नहीं है; किंतु नौकरी की अनिश्चितता बेचैन कर देती है। फिर भी उपाय ही क्या है?

विश्वविद्यालय में नौकरी मिलने से मैं बहुत बड़ा हुआ, यह बात नहीं है। मैं जैसा और जितना था, वैसा और उतना ही हूँ। क्योंकि मैं पाँच फीट, छः इंच लंबा हूँ और मेरा वजन भी १०६ पौंड ही है। नौकरी के लिए अभिनंदन करने जैसा उसमें कुछ नहीं। उस कारण यदि तुम समझते हो कि मैं ऐंठ दिखा रहा हूँ, तो यह तुम्हारी भूल है।

३. व्याधियों से त्रस्त

श्री सद्गोपालजी,

१० नवंबर १९३४

एक और महत्त्वपूर्ण बात है, और यह है मेरे शरीर के विषय में। यह क्षुद्र शरीर मुझे स्वस्थ नहीं बैठने देता। उसकी जितनी भी देखभाल करूँ, सब निरर्थक है। मैं दुर्बल होता जा रहा हूँ।...अभ्यास करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। पाचन बिगड़ा हुआ, बुखार, पुनः-पुनः आनेवाली दुर्बलता – ये सब बातें मुझे दिनभर कमरे में ही रहने को बाध्य करती हैं और यह सब बढ़ ही रहा है। इन सबसे छुटकारा कैसे पाना यह प्रश्न मुझे चिंतित कर रहा है। औषधियों से अस्थायी आराम मिलता है। एक-दो दिन ठहरकर, यह सब चीजें मेरे कमरे के अंदर फिर से प्रवेश कर जाती हैं। मैं असमर्थता का अनुभव कर रहा हूँ। मैं संतोषपूर्वक काम भी नहीं कर सकता। (मूल अंग्रेजी)

४. जन्म के साथ अपना भाग्य

मा. श्री मा.ना.घटाटे, नासिक

२ जून १९५४

आपका तथा अन्य बंधुओं का विचार ज्ञात हुआ। आप चाहते हैं कि संघ शिक्षा वर्ग के प्रवास के बाद मैं नासिक में रहूँ और विश्राम करूँ। आपके पत्र के हर शब्द से जो चिंता तथा आत्मीयता प्रकट हो रही है, उसकी अनुभूति के परिणामस्वरूप, मुझे जो आनंद प्राप्त हुआ और जो कृतज्ञता हृदय में उमड पड़ी, उसे शब्दांकित करना मेरे लिए असंभव है।

हर मनुष्य अपने जन्म के साथ अपना भाग्य भी ले आता है। हम कितना भी कहें, उस भाग्य को सर्वथा बदल देना असंभव सा ही रहता है। मुझे लगता है, मेरे लिए ऐसी कोई विश्रांति की बात कम से कम इस समय, भाग्य में नहीं है। नाटक में नट जिस प्रकार स्वीकृत पात्र का अभिनय करते हैं, ठीक उसी प्रकार जीवन में भी हमें स्वीकृत कार्य के अनुसार ही कृति करना उचित होगा। और फिर विश्राम भी किस आधार पर लें? ....इस श्रेष्ठ मंदिर को मेरे ही शक्तिहीन हाथों का त्रुटिपूर्ण आधार दिए बिना दूसरी गति नहीं है। यह अपने-अपने भाग्य का खेल है। दिखता है कि यही मेरे लिए प्रभु की आज्ञा है। आज्ञापालन का एकमात्र आनंद ही मेरे जीवन में मुझे उपभोग के लिए प्राप्त है। अतः आप मेरे लिए न चिंता करें, न खेद। श्री प्रभु की इच्छानुसार जो भी चलेगा, चलने दीजिए।

यह सब पढ़कर आप को ठीक नहीं लगेगा। आपकी तीव्र इच्छा के अनुसार मैं नहीं चल पा रहा हूँ, इसका मुझे भी पराकोटि का दुःख है, परंतु उसके लिए कोई उपाय नहीं है। अतः प्राप्त परिस्थिति में हम समाधान मानें यही उचित है फिर और एक महत्त्व की बात है। इस समय श्री बाला साहब (देवरस) के स्वास्थ्य-लाभ का भार आपके जिम्मे है। वे यदि पूर्ण स्वस्थ होकर आते हैं, तो मुझे सब कुछ प्राप्त हुआ समझिए। आप उनकी ओर ध्यान दें। मैं तो अब टूट रहा हूँ। गिरते हुए मकान का मोह भला किस काम का? (मूल मराठी)

ꣳ ꣳ ꣳ

५. अनायासेन मरणं विना दैन्येन जीवनम्

श्री जगदीशचंद्र शास्त्री,

११ सितंबर १९५४

मेरे पूज्य पिताश्री ८१ वर्ष की आयु में पूर्ण स्वास्थ्य का अनुभव करते हुए एक रात्रि में सोए, तो दूसरे दिन प्रातः उठे ही नहीं। अकस्मात् दैनंदिन निद्रा चिरनिद्रा में परिणत हो गई। मुद्रा प्रसन्न थी, अतः बिना कष्ट के उन्होंने नश्वर शरीर छोड़ अनंतत्व की ओर प्रयाण किया। ऐसी मृत्यु भाग्य से ही प्राप्त होती है। कहा है कि 'अनायासेन मरणं विना दैन्येन जीवनम्' यह पुण्यकर्म से ही मिलता है।

ꣳ ꣳ ꣳ

६. सब कुछ ईश्वराधीन

श्री मोरोपंत पिंगले

४ जून १९५५

मेरी मनःस्थिति कुछ विचित्र हो गई है। अपना यह शरीर अधिक सुचारु रूप से चले अथवा सुखरूप रहे, इस हेतु कुछ करने की इच्छा तक नहीं निर्माण हो रही है। इतना ही नहीं, अपितु ऐसा लगता है कि शरीर की उपेक्षा कर, जो भी प्राप्त कर्तव्य सम्मुख आएगा, उसमें अपनी बची-खुची अल्पस्वल्प इच्छा तथा शक्ति लगा देना चाहिए, फिर जो कुछ भी परिणाम हो, होता रहे। शरीर स्वास्थ्य के विषय में एक अनुल्लंघ्य औदासीन्य मन पर छाया हुआ है। इसीलिए पुणे आने के बारे में कुछ भी निश्चय नहीं कर रहा हूँ। मनपर बलपूर्वक प्रयास करने पर ही वह हो सकेगा, अन्यथा वैसा योग नहीं दिखाई देता! परंतु आगे का सब कुछ ईश्वराधीन है। जो भी होगा, यथावकाश आप को ज्ञात होगा ही। (मूल मराठी)

७. मैं घृत-सेवन कैसे करूँ?

श्री नारायणराव धनागरे, वाशिम (विदर्भ)

२० जुलाई १९५५

मेरे लिए भेजा गया घी प्राप्त हुआ, यह आपको विदित हुआ है ही। आहार में अधिक घृत-सेवन की आपकी सूचना पूर्णतः उचित है। प्रयत्न करूँगा। बाधा केवल मेरे मन की ही है। मेरे चारों ओर के आत्मीय जनों को खाद्य-पेय का सुख है ही, ऐसा नहीं कहा जा सकता। सारी परिस्थिति ही वैसी है। ऐसी स्थिति में मेरी मनःस्थिति अत्यंत विचित्र होती हुई, मैं अनुभव करता हूँ, तथा शरीर सुदृढ़ रखने को आवश्यक, परंतु सबको दुर्लभ अन्न-पदार्थ गले के नीचे उतारना असंभव होता है। इसका क्या उपाय है? ऐसा स्वभाव क्यों और कैसे बना, कह नहीं सकता, परंतु प्रत्यक्ष अनुभव ऐसा है। फिर भी प्रयास करूँगा। इस प्रयत्न में सफलता मिलने की आशा बहुत कम है। (मूल मराठी)

८. जब तक भगवान चाहे

श्रद्धेय गुरुबंधु श्री स्वामी अमिताभ महाराज,

२८ मार्च १९५८

मैं सानंद हूँ। इन दिनों में कुछ दुबर्लता एवं थकावट का अनुभव कर रहा हूँ, परंतु यह अवस्था अल्पकाल ही रहेगी। जितने कालखंड तक भगवान मुझसे रंगभूमि पर काम कराना चाहते हैं, तब तक श्री श्री ठाकुर की कृपा से एवं आपके आशीर्वाद से मैं अपना काम कर सकूँगा, ऐसा विश्वास है। यहाँ सब बंधु स्वस्थ हैं और वे आपको प्रणाम कहते हैं। (मूल अग्रेजी)

९. मातृसेवा

श्री अमिताभ महाराज, विवेकानंद नगर, पं. बंगाल

१७ अप्रैल १९५९

आपसे बिदा होकर बिलासपुर-दुर्ग होते हुए रात्रि ११ बजे नागपुर पहुँचा। सब कुशल रहा। यह आप तथा श्री श्रीगुरुमहाराज जी के आशीर्वाद का फल है।

आज प्रातः पूज्य ताई (श्रीगुरुजी की माताजी) को अमरकंटक का पुनीत जल, स्नान के समय दे सका। आपका आशीष भी सुनाया। सब प्रवास का वर्णन सुनकर उसे बहुत सुख हुआ। अब गुड़ भी ले जाकर दूँगा। भगवत्कृपा होने से ही ऐसे पुण्यमय सुयोग प्राप्त होते हैं। आपका पवित्र सहवास अमरकंटक जैसे पुण्य क्षेत्र में मुझे मिला, यह सब श्री श्रीगुरुमहाराज की कृपा से ही हो सका है, अन्यथा मैं वहाँ जा सकता, ऐसा दिखता नहीं।

श्री श्री ठाकुर के चरणों में दंडवत प्रणाम कर आपको साष्टांग प्रणिपात करता हूँ।

१०. बात कमंडलु की

श्री रामकृष्ण नेने, काशी

२ जुलाई १९५९

ठाकुर गुरुजनसिंह के निकट मैंने अपना कमंडलु मरम्मत के लिए

दिया था। उसकी मरम्मत हो चुकी होगी। उसके पुराने तथा खराब हुए अंश सत्कारपूर्वक श्री गंगाजी के प्रवाह में विसर्जित किए जाएँ, या मेरे पास भेज दिए जाएँ। मैं अपनी सुविधा से उन्हें विसर्जित कर दूँगा। परंतु आप ही कर डालें तो एक जिम्मेवारी उत्तम रीति से पूर्ण होने का मुझे संतोष होगा। कमंडलु अत्यंत सावधानी से बाँधकर श्री रज्जूभय्या के साथ, जो शीघ्र ही नागपुर की बैठक के लिए आनेवाले हैं, भेजने की व्यवस्था करें।(मूल मराठी)

११. माता की रुग्णावस्था से चिंता

श्री नारायणराव धनागरे, वाशीम (विदर्भ) ६ जुलाई १९५९

....और एक चिंता का विषय है। वह है तीर्थस्वरूप माता जी का अर्थात् ताई का स्वास्थ्य। जब आप यहाँ आए थे, तब भी उनका स्वास्थ्य ठीक नहीं था। अभी दुर्बलता बहुत है और पीठ का दर्द अधिक है। अन्न-सेवन की रुचि कम हो गई है। आहार अत्यल्प हुआ है। अतः प्रत्यक्ष कार्य की दृष्टि से नियोजित प्रवास स्थगित कर मैं उनके पास ठहरूँ ऐसा उनका स्वाभाविक आग्रह है। उसका उल्लंघन करना कितना कठिन है, यह आपको बताना अनावश्यक है। आजकल मुझे प्रतीत हो रहा है कि अब मुझे मातृसुख का आनंद अधिक दिनों तक प्राप्त नहीं होगा। फिर जैसी भी परमेश्वर की इच्छा हो, उसी में प्रसन्न रहना, इतना ही मेरे हाथ में है। (मूल मराठी)

१२. 'नियतं कुरु कर्म त्वं'

श्रीमत् अमिताभ महाराज, विवेकानंद नगर २८ अक्तूबर १९५९

श्री श्री ठाकुर की असीम कृपा से शरीर ठीक है। कार्यवृद्धि का भी समाचार आ रहा है। यह तो स्पष्ट है कि संपूर्ण राष्ट्र की परिस्थिति गंभीर होती जा रही है। अपना प्रयत्न सच्चाई से, निःस्वार्थता से चलाना इतना ही अपने हाथ में है। शेष श्री श्री ठाकुर की अतर्क्य लीला में जो निश्चित किया गया हो, उसपर ही पूर्णरूपेण निर्भर होने के कारण मैं अधिक मनःताप करता नहीं। आपके शुभाशीष से सर्व संकटों से मुक्त हो लक्ष्यपूर्ति होगी, यह सोचकर निश्चिंत हूँ।

ती. ताईजी का स्वास्थ्य अब साधारण ठीक ही है, किंतु क्षीणता स्पष्ट दिखाई देती है। अन्य सब बंधुगण भी सकुशल हैं। आपको विनम्र प्रणाम करते हैं।

ॐ ॐ ॐ

१३. सारगाछी-स्मरण

श्रीमत् स्वामी अमृतानंदजी, आसनसोल ३ सितंबर १९६०

....बात-बात में कल रात्रि में सारगाछी के अमृतमय निवास-काल का स्मरण जाग उठा। क्या कहूँ कि मन की कैसी अवस्था हुई है? यह स्मरण भी आता रहता है कि उस असीम सौभाग्य की प्राप्ति के आप ही कारण हैं, और कृतज्ञता से हृदय भर जाता है। किंतु यह कोरे शब्दों में व्यक्त करने का विषय न होने से कुछ लिख नहीं सकता।

ॐ ॐ ॐ

१४. आयु की समस्या

चि. सौ.गोखले, पुणे १ मार्च १९६१

....एक वर्ष बीत गया। आयु बढ़ी। उसका अभिनंदन क्या करना? कालचक्र घूमता रहता है एवं इच्छा हो या न हो आयु बढ़ती जाती है। उसमें किसी भी व्यक्ति का कुछ पुरुषार्थ नहीं है। केवल एक चुभन रहती है कि और एक वर्ष का प्रदीर्घ काल अपनी आयु में से कम हुआ, परंतु गंतव्य स्थान अब भी दूर ही है। पहुँचने की दृष्टि से जो हलचल हुई वह कितनी फलदायी हुई, इसका अंदाज लगाना भी कठिन है। यह विचार नित्य ही मन को अस्वस्थ करता रहता है। इसलिए आयु बढ़ी, यह अभिनंदन की बात है या तरस खाने की, यह समस्या ही है। (मूल मराठी)

ॐ ॐ ॐ

१५. सिर दर्द

पं. श्री. दा.सातवलेकर, पारडी जिला सूरत २२ मार्च १९६१

....मेरा सिर कभी-कभी दर्द करता है। विशेषकर पौर्णिमा तथा अमावास्या को कुछ दुर्बलता अनुभव करता हूँ और फिर सिर दुखने लगता है। तीव्र दुःख अपवादात्मक रीति से क्वचित् हो जाता है। तथापि आपने जो उपाय सुझाया है, उसका अवलंब जब तक मैं यहाँ हूँ, तब तक तो करूँगा ही, प्रवास में भी जिस दिन सुविधाजनक होगा, अवश्य करूँगा।

...आपका स्वास्थ्य कैसा है? ईश्वर करे, ठीक बना रहे और आपका वेदज्ञान वितरण का कार्य सुदीर्घ काल तक चलता रहे। उसके द्वारा राष्ट्र की सुप्त अस्मिता जागृत हो यही श्री प्रभु के चरणों में प्रार्थना है।(मूल मराठी)

१६. मैं जैसा का वैसा ही

पूज्यपाद श्री अमिताभ महाराज, इंदौर १७ अगस्त १९६१

....आपने अपने पत्र में मुझे 'माननीय गुरुजी' ऐसा संबोधन किया, देखकर बड़ा संकोच होता है। आपके लिए मैं जैसा २५ वर्ष पूर्व था, वैसा ही हूँ। यही मेरी धारणा है और यह धारणा सदैव बनी रहे, यह श्री श्री ठाकुर से, श्री बाबा से तथा आपसे मेरी प्रार्थना है।

१७. पूर्णतः जगज्जननी के स्वाधीन

श्री सुमंत.एस.बांकेश्वर, मुंबई २० अगस्त १९६१

....भविष्य विषयक ज्योतिष-नक्षत्र विद्या की मेरी जानकारी नहीं के बराबर है। मेरे जीवन का जो भी अंश शेष बचा हुआ है, पूर्णतः जगज्जननी श्री माँ के स्वाधीन है। उनकी ही इच्छा से सब होगा।

१८. श्रद्धेय श्रीस्वामी विमलानंदजी महाराज, कालडी

१४ अगस्त १९६२

११ अगस्त १९६१ प्रातः मेरी पूजनीय माता का देहावसान हुआ। उनके स्वास्थ्य के विषय में इसके पूर्व मैंने आपको लिखा था। अब जो होने ही वाली थी, वह बात हो गई। इस अतिभीषण आपत्ति में श्री ठाकुर की कृपा से मन संतुलित रखना मुझे संभव हो पाया।

१९. माँ की जीवन-ज्योति अनंत में विलीन

श्री दादासाहेब सोमण, मेहकर (बुलढ़ाना) १६ अगस्त १९६२

स्वयं का स्वास्थ्य दुर्बल होते हुए भी आपने कष्ट उठाया तथा मुझे मातृवियोग के कठिन प्रसंग में धीरज बँधाया, यह आपके स्नेहपूर्ण स्वभाव

के अनुरूप है। ती. मातृ श्री गईं। यह प्रकृति के नियमानुसार ही हुआ। क्षीण होते-होते जीवन-ज्योति सहजता से अनंत में विलीन हो गई। अंतकाल में अति शांत वृत्ति थी।(मूल मराठी)

ꣻ ꣻ ꣻ

२०. अब भारत माता मुझपर प्रेम की वर्षा करेगी

श्री रामाराव, एड्वोकेट, राजमहेंद्री — २८ अगस्त १९६२

परमेश्वर की कृपा से और आप सब लोगों की सदिच्छाओं से असहनीय मातृवियोग का दुःख मैं संतुलित मन से धीरज के साथ सह रहा हूँ। अब मैं देश में प्रवास करने पर विचार कर सकता हूँ, किंतु वह सुखद मातृस्पर्श अब मुझे नहीं प्राप्त होगा।

मेरी पूर्ण श्रद्धा है कि अब मातृभूमि ही मुझे स्नेहमयी माता सी प्रेरणा देती रहेगी।

ꣻ ꣻ ꣻ

२१. कर्तव्य ही जीवन का संबल

पं. श्यामनारायण मिश्रजी, लखनऊ — ३० अगस्त १९६२

आपका स्नेहपूर्ण पत्र यथासमय पहुँचा। वियोग किसी को भी दुःख देता है। माता का तो असीम दुःखदायक है। फिर मेरे लिए संसार में माता और अपना ईश्वरीय कार्य इनके अतिरिक्त कहीं नाता न होने के कारण मेरे जीवन में एक बड़ी शून्यता उत्पन्न हुई है। लौकिक दृष्टि से मैंने शोक व्यक्त नहीं किया, परंतु हृदय की अवस्था वही जाने। अब अपने विशाल परिवार की आत्मीयता ही मनःशांति दे रही है। यही स्नेह और अपना कर्तव्य यही जीवन का संबल है। इसी कारण जीवन में रुचि भी है, अन्यथा इस जगत् में रहने का कोई आकर्षण नहीं है।

ꣻ ꣻ ꣻ

२२. सांत्वना पत्र का उत्तर

(श्रद्धेय ताईजी के स्वर्गवास के पश्चात् प्राप्त सांत्वना पत्र के उत्तर में)

श्री हीरेंद्रबाबू, कोलकाता — ३० अगस्त १९६२

'....जो भी मेरे भाग्य से प्राप्त हुआ है, मुझे सहना पड़ेगा। मेरा

पूर्ण विश्वास है कि जो भी होता है, भगवान की कृपा से ही होता है, और यही धारणा मुझे सांत्वना देती है। अब मुझपर अपने पवित्र ईश्वरीय संघकार्य के अतिरिक्त और किसी का अधिकार नहीं रहा है। संघ का कार्य प्रगतिपथ पर बढ़ता हुआ यथाशीघ्र अपने ईप्सित जीवनकार्य की सफलता अनुभव करेगा, ऐसी मैं आशा करता हूँ। वैसे समय के शुभ संकेत दृष्टिगोचर हो रहे हैं।...'

२३. यह भी भगवदिच्छा

श्री अमलकुमार बसु, कोलकाता — ३० अगस्त १९६२

"....मेरे समान आप सब बंधुओं का दुःखाहत होना स्वाभाविक है। किंतु पूज्य ताई का अंतिम समय शांत था। भगवत्स्मरण चलता था, शोक करने का कारण कम है। शोक तो अपने लिए है कि उनका स्नेहपूर्ण दर्शन अब इहलोक में नहीं होगा, परंतु यह भी भगवदिच्छा ही है। और उसमें हम लोगों को संतुष्ट होना उचित है। संतुष्ट होना इसलिए भी है कि अब अपने पवित्र कार्य के अतिरिक्त दूसरा कोई प्रबल आकर्षण रहा नहीं।

२४. मैं सुखी व स्वस्थचित्त हूँ

श्री हितजीवन जी शास्त्री, वृंदावन — १ सितंबर १९६२

आपकी श्री भगवान के चरणों में की हुई प्रार्थना अवश्य सफल होगी, ऐसा मैं मानता हूँ, क्योंकि संपूर्ण शरीर शिथिल हो जाने पर, शब्दोच्चारण की शक्ति न रहने पर, खाना-पीना बंद हो जाने पर अंतिम रात्रि में जब मैंने कहा कि अपने को कुछ सोचना नहीं है, किसी बात की चिंता करना नहीं है, अपना काम केवल 'श्रीकृष्ण गोविंद हरे मुरारे' आदि जपना है, तो उस आसन्नमरण अवस्था में भी 'हूँ' कहकर उन्होंने होठों की हलचल, जो पहले से चलती थी, अधिक स्पष्ट कर दी – इस प्रयत्न में कि शब्द उच्चारित हों। 'यं यं वापि स्मरन् भावम्' के अनुसार सब कुछ उत्तम है। भगवान के श्री चरणों का सान्निध्य अवश्य ही प्राप्त है।

इस विचार से मैं सुखी हूँ। वैसे अपने बृहत्परिवार के असंख्य बंधुओं ने मेरे दुःख का भार उठा लिया है। इस कारण भी मैं स्वस्थचित्त हूँ।

२५. सांत्वना पत्र का उत्तर

श्री श्योबरण सिंह, आगरा　　　　१ सितंबर १९६२

'....शोक तो होता ही है। किंतु अपने सब आत्मीय देशभर में हैं, उन्होंने उसके अंश ग्रहण कर मेरा भार बहुत हलका कर दिया है। आगे जिस कार्य की प्रेरणा देते हुए अपनी मातृसुलभ इच्छा आकांक्षाओं को पूज्य माताजी ने स्वहृदय से सर्वथा हटा दिया था, उसमें पूर्णतया लगा रहना – यही उसको परलोक में सुख देगा, ऐसा जानकर चलने का प्रयास कर रहा हूँ। अपने सब आत्मीय सहकारियों के आधारपर ही यह प्रयास चलाने में सफलता मिलेगी।...'

२६. मातृवियोग का दुःख सुसह्य, क्योंकि...

पं. परमेश्वरानंदजी, कपूरथला, पंजाब　　　　१ सितंबर १९६२

मेरे लिए मातृवियोग का दुःख सुसह्य हुआ क्योंकि अपने देशव्यापी परिवार के सब छोटे-बड़े बंधुओं ने वह भार स्वयं अपने उपर उठाकर मुझे बहुत मनःशांति प्रदान की। आपके पत्र से मुझे स्नेहपूर्ण आशीर्वाद प्राप्त होने का सुख मिला है। हृदय में कृतज्ञता का भाव होते हुए भी आभार-प्रदर्शन करने का साहस इसलिए नहीं होता कि कहीं उसमें रुक्ष औपचारिकता का आभास न हो।

परंतु यह सत्य है कि जीवन में कुछ सूनापन सा लग रहा है। मेरे लिए निष्कंटक पथ हो, एतदर्थ जिसने अपनी मातृसुलभ आशा-आकांक्षाओं को हृदय से सर्वदा हटा दिया था, उसका अभाव ऐसी शून्यता उत्पन्न कर रहा है। उसकी व्यथा दूर करने का एक ही मार्ग है कि जिस कार्य के लिए उसने अपनी स्वाभाविक इच्छाओं को नष्ट किया था, उससे जीवन की पूर्ण शक्ति लगाकर मन को अन्य कुछ सोचने के लिए अवसर ही न मिलने देना। इस दृष्टि से अभी नागपुर के कार्यकर्ताओं की बैठक चालू कर दी है।

२७. कार्य का ही आकर्षण

श्री स्वामी सदानंदगिरि, विभौरसाहिब पंजाब　　　　२ सितंबर १९६२

पूज्य माताजी भगवत्स्मरण करते हुए इहलोक से विदा हुई। अतः उनकी आत्मा को सद्गति प्राप्त होगी ही। आप जैसे वीतराग श्रेष्ठों का

आशीष भी साथ है। फिर चिंता का कारण ही नहीं है। यह विचार एवं सब बन्धुओं ने मेरे दुःख का भार उठाने की तत्परता रखने के कारण मेरा मन व्याकुलता से बचा रहा। अब कार्य का ही आकर्षण है, अन्य कोई खिंचाव नहीं है। अतः नागपुर के कार्यकर्ताओं की बैठक हो रही है।

ঢ ঢ ঢ

२८. ताई की मृत्यु से जीवन में कुछ सूनापन आया है

श्री धर्मवीरजी, हिस्सार (हरियाणा) ३ सितंबर १९६२

भगवत्स्मरण करते-करते शरीर त्याग करने के कारण सद्‌गति निश्चित मिलती है। अतः पूज्य माताजी के परलोक संबंध में चिंता नहीं है।

मेरा वही एक अतीव प्रबल स्नेह का बंधन मुझे सांसारिक जीवन से बाँध रखनेवाला था, सो अब नहीं है। जीवन में कुछ रिक्तता, कुछ सूनापन आया है। उसे कार्य से भरने का प्रयास कर रहा हूँ। अब यही एक आकर्षण है। इसके लिए ही मातृसुलभ इच्छा आकांक्षाओं को हृदय से सर्वथा हटाकर पूज्य 'ताई' ने मेरा मार्ग प्रशस्त किया था, उसमें आशीर्वादपूर्वक प्रोत्साहन दिया था। इसी कार्य में रमकर ही मन शांत हो सकता है, प्रसन्न रह सकता है।

ঢ ঢ ঢ

२९. अनौपचारिक-औपचारिक कृतज्ञता

श्री ए.डि.मणि, सांसद-दिल्ली ४ सितंबर १९६२

".... (मातृवियोग के) इस अति दुःखद वियोग को सतही मानसिक संतुलन एवं समत्वभाव से सहने का यद्यपि मैंने प्रयास किया है, जीवन में एक प्रकार की रिक्तता, जिसकी पूर्ति कठिन है, मैं अनुभव कर रहा हूँ। मुझे विश्वास है कि आप जैसे महानुभावों की सहसंवेदनाएँ और शुभेच्छाएँ परमात्मा की कृपा से प्राप्त मेरे कार्य को तत्परता से करते रहने में बहुत बड़ा संबल सिद्ध होगा, और इसी से मुझे व्यथित करनेवाला वियोग कम कष्टप्रद होकर उसे सहने की धृति मुझे प्राप्त होगी।

आपके प्रति आभार प्रदर्शन, आपके अपने स्वभाव के अनुकूल रहेगा या मात्र रुक्ष लोकाचार का स्वरूप बनेगा, मैं अनभिज्ञ हूँ। परंतु अंग्रेजी में व्यवहार करते समय, पारस्परिक संबंध निकटवर्ती, घनिष्ठ और अनौपचारिक रहते हुए भी आभार प्रदर्शन का रिवाज है। इसीलिए मुझे

लगता है कि आपकी स्नेहभरी सह-संवेदना के कारण निर्माण हुए मेरे हृदय के शुद्ध सरल कृतज्ञता के भाव आपको अनुचित प्रतीत नहीं होंगे।.....
(मूल अंग्रेजी)

३०. नाम-स्मरण कर शरीर-त्याग

श्री प्रेमचंदजी, भिवानी-हरियाणा ५ सितंबर १९६२

"....पूज्य माताजी कई वर्षों से रुग्ण ही थीं। गत फरवरी से तो स्वास्थ्य अतीव गिर चुका था। केवल अपनी मनःशक्ति से इतने दिन जी सकी, क्योंकि मैंने अनुरोध किया था कि सर्व वर्गों के निमित्त का मेरा प्रवास पूर्ण होने तक जीवन को बनाए रखे। मेरे लौट आनेपर बहुत तीव्र गति से क्षीणता बढ़कर अनायास, शांति से श्री भगवान का नाम-स्मरण कर शरीर त्याग किया। इस कारण मेरे मन को भी बहुत धैर्य प्राप्त हुआ।"

३१. स्नेहमय, कृपामय आश्रय स्थान का अभाव

श्री रामस्वरूपजी, एडवोकेट, पटियाला ७ सितंबर १९६२

....माता के वियोग का जो दुःख होता है, उसकी बराबरी हो नहीं सकती। मेरा सांसारिक, स्नेहमय, कृपामय वह एक ही आश्रयस्थान था। अब एक अभाव-सा बना है। इसलिए आप जैसे आत्मीय जनों के स्नेह-भरे संवेदना-पत्रों से मन को बहुत शांति मिली है। अपने कार्य में भी यह शक्ति है कि उसमे लग जाने से शोक-मोहादि स्पर्श भी नहीं कर सकते। इस से हृदय को बल प्राप्त हुआ।

३२. रिक्तता का अनुभव

श्री मोतीराम मीरचंदानी, जोधपुर ७ सितंबर १९६२

"....ऐहिक जीवन में समाधान प्राप्त करने का, मेरी पूज्य माता ही मेरा एकमात्र आधार था। वह अब नहीं रहा। एक प्रकार की रिक्तता मैं अनुभव कर रहा हूँ। यह तो शीघ्र या कुछ समय के पश्चात् आनेवाली ही थी। उसका शीघ्र ही प्राप्त अनुभव मैं अच्छा ही मानता हूँ, क्योंकि वह बहुत व्याधिग्रस्त थी। गत छः मास से अधिक समय बिस्तर पर ही थी।

उसकी स्मृति, किंतु, जागृत थी और उसने स्वयं को भगवान की इच्छा के प्रति समर्पित करने के कारण इहलोक छोड़ते समय भगवान का नामोच्चार करते हुए देहत्याग किया। इससे मुझे बहुत समाधान मिला।....''

३३. स्वार्थवश यह पत्र भेज रहा हूँ

मा. श्री रामनारायण शास्त्री, इंदौर २ अक्तूबर १९६३

....स्वार्थवश यह पत्र भेज रहा हूँ। गत तीन-चार दिनों से दक्षिण भुजा में पूर्ण स्कंध प्रदेश से लेकर बहुत वेदना होने लगी है। पहले तो थी, किंतु लगातर रहती नहीं थी, तीव्रता भी कम थी। अब दिन-रात है, बीच-बीच में चमक सी आकर दुःख बहुत हो जाता है। यह क्यों हुआ होगा, यह मेरी समझ में नहीं आता। मैंने केवल एक बात नित्य से अधिक की है अपने हाथों से आपने दिए हुए तैल से शरीर को मलने का प्रयत्न करता रहा। आज ही कर नहीं सका। अतः अभ्यंग अब बंद ही है। इस प्रकार शरीर को तैलाभ्यंग करने के श्रम से दुःख बढ़ा हो, यह सोचकर ही बंद किया है। औषधि का और सब सुपरिणाम है। स्कंध की वेदना से निद्रा में भी बाधा आती है, अन्यथा निद्रा न आने का जो कष्ट कभी-कभी रहता था, उस स्थिति में भी सुधार प्रतीत हो रहा था। टिमरनी में आप आएँगे, तब तक आपको सोचने के लिए यह अभी से सूचित कर रहा हूँ। आपको मेरे शरीर के संबंध में सोचने का कष्ट देना न देना इस असमंजस में गत दो दिन गए। अंततोगत्वा आज मन में उत्पन्न हुए संकोच को दबाकर यह लिखने की धृष्टता की है।

३४. मानवी प्रयत्न का आभास

पूज्यपाद स्वामी अमूर्तानंदजी, टिमरणी १० दिसंबर १९६३

....वैसे स्वास्थ्य अच्छा है। शरीर में जो व्यथा है, वह भी पूर्वापेक्षा कम है। कम-अधिक होना कोई विशेष बात नहीं है। और फिर जो चिंता करनेवाले हैं, वे उचित ही करेंगे। जिसकी कृपा से सब चलता है, उसपर ही सब छोड़ रखा है, तब भी मानवी प्रयत्न का आभास करते रहना पड़ने से औषधि का सेवन चला रहा हूँ।

३५. पवित्र पर्व पर सश्रद्ध प्रणाम

श्रीमत् स्वामी अमूर्तानंदजी, अंजड, बड़वानी २७ अप्रैल १९६४

....वैसे इस समय लिखने योग्य कुछ विशेष नहीं है। परंतु आज श्री गुरुपौर्णिमा का पवित्र पर्व होने के कारण इस पत्र रूप से अपने सश्रद्ध प्रणाम प्रथम समर्पण करने के हेतु यह लिख रहा हूँ। आप स्वीकार करेंगे यह विश्वास है। श्री श्री ठाकुर की महती कृपा से सब कुशल है।

ि ि ि

३६. निदान में बाधा

पूज्यपाद स्वामी अमूर्तानंदजी, २१ अप्रैल १९६८

माननीय श्री रामनारायण जी शास्त्री जी औरंगाबाद गए थे, इस कारण आपके दर्शन नहीं कर सके, इतना ही ठीक नहीं हुआ। परंतु जो श्री श्री ठाकुर की इच्छा होती है, वैसा ही होता है, यह मेरा विश्वास है, जिसको मैं आपके ही अनुग्रहपूर्ण माध्यम से पा सका हूँ।

मेरे स्वास्थ्य के संबंध में माननीय डा. मुले (सोलापुर) ने अनेक स्थानों पर अनेक कार्यकर्ताओं को पत्र भेजकर अकारण चिंता का वातावरण बनाया दिखता है। उनके मन में अतिशयोक्ति तथा अतिरंजन के दोष हैं, जिनका प्रमाण रक्त-परीक्षण में सब 'नार्मल' होने के 'रिपोर्ट्स' से मिलता है। इससे एक कठिनाई यह हुई है कि माननीय श्री रामनारायण शास्त्री जी के मन में पहले से ही वह मत दृढ़ हो गया और उसी दृष्टि से वे भी सोचने लगे। अपना स्वतंत्र मत स्वयं अपने ही परीक्षण पर आधारित करने में बाधा की निर्मिति हुई। Preconceived notion से 'करेक्ट जजमेंट' करने में बाधा पड़ती ही है।

अब होशंगाबाद में आपकी सन्निधि में माननीय श्री शास्त्रीजी से परामर्श करने का सुयोग अगले मास में है ही। ....सतना तक आपके पुण्य सहवास में रहने का श्रेष्ठ अवसर मिलनेवाला है ही।

....श्री चरणेषु विनीत--

ि ि ि

३७. 'पवित्रवस्तु' संबंधित परामर्श

स्वामी अमूर्तानंदजी, मोहीपुरा २७ सितंबर १९७१

....एक बात का स्मरण दिलाना भूल गया।

आगामी नवंबर की ११ को मैं खेड़ीघाट पहुँच रहा हूँ। दिनांक १३ की अपराह्न में वहाँ से चलकर खंडवा होता हुआ, मैं मुंबई जा रहा हूँ। उस समय आप खेडीघाट आश्रम में उपस्थित हों, तो बहुत आनंद होगा और मेरे पास की पवित्र वस्तुओं को कहाँ प्रतिष्ठित किया जाय, इसके संबंध में आपसे मार्गदर्शन भी प्राप्त हो सकेगा। इस दृष्टि से आपको प्रार्थना करने हेतु यह पत्र लिखा है। विश्वास है कि आप अवश्य आने की कृपा करेंगे।

३८. मुझपर बड़ा ही उपकार हुआ है

मा. श्री बाबा भिडे, पुणे १६ नवंबर १९७२

....आपने जो निर्णय लिया है, वह पूर्णतः आपकी अधिकार-कक्षा में है। मुझपर बड़ा उपकार ही हुआ है, क्योंकि आपका पत्र देखते ही माननीय श्री आप्पाजी के मन का प्रस्फुट विचार भी प्रकट हो सका। जब वे मुझसे मिले, तब उन्होंने बताया कि विदर्भ के दोनों स्थानों के कार्यक्रम स्थगित कर दिए है, और सब जिलों में पत्र भी चले गए हैं। अभी भी मुंबई में किए गए उपचारों के परिणाम तकलीफ दे रहे हैं। कंठदुःख, कुछ भी खाने पीने की असमर्थता, (असह्य वेदनाओं को सहन करते हुए पानी पीता हूँ, या भोजन करता हूँ।), गला बैठना, कई बार शब्द का बाहर न निकलना, ऐसा सब चल रहा है। और पंद्रह दिनों तक इस पीड़ा से मुक्त हो पाऊँगा— ऐसे लक्षण नहीं दिखाई देते। अतः यदि कार्यक्रम होते तो मैंने वहाँ जाकर केवल अपनी हँसी करा ली होती, उस कठिन अवस्था से आपने मेरा रक्षण किया है।(मूल मराठी)

३९. प्रस्तावना लिखना असाध्य

श्री केशवरावजी जोशी, पुणे २ अप्रैल १९७३

अभी तो शरीर बहुत दुर्बल हुआ है। दिन-प्रतिदिन दुर्बलता बढ़ रही है। डाक्टर बंधुओं की बातचीत एवं व्यवहार से लगता है कि स्वास्थ्य

के बारे में वे निराश बने हैं। मात्र ईश्वरीय कृपा और श्रेष्ठ पुरुषों के आशीर्वाद का ही सहारा है, परंतु यह भी तो उन्हीं की कृपामय इच्छा पर निर्भर है। आपके द्वारा पूज्य गुरुमहाराज श्री गुळवणी महाराजजी का आशीर्वाद अवगत हुआ है। योगीराज महोदय की कृपा पर निर्भरता अनुभव कर रहा हूँ, अन्यथा जो होना है, सो होता रहे।

इस अवस्था में चिंता हो रही है कि 'शक्तिपात योग रहस्य' ग्रंथ के लिए प्रस्तावना का लेखन कैसे संभव होगा। विषय गहन एवं दुर्बोध अवश्य है, परंतु सभी साधकों को अपने-अपने मार्ग का अनुसरण करते समय शक्तिपात अपरिहार्य रूप से आवश्यक होने के कारण वह स्नेहार्द्र, अपनत्व का, और महत्त्वपूर्ण है। अतः संक्षेप में लिखने से अपेक्षानुरूप नहीं हो सकेगा। मुझे विश्वास है कि मेरी इस अवस्था को देखकर आप मुझे क्षमा करेंगे। विशेष रूप से पूज्य श्री गुरुमहाराजजी के चरणों में इस निवेदन को प्रस्तुत कर वे क्षमा करें, इस हेतु नम्र अनुरोध है।

उनके चरणों में साष्टांग अभिवादन। सभी साधकों को सस्नेह नमस्कार।(मूल मराठी)

卐卐卐

४०. श्रीमद् कामकोटि पीठ आचार्य का दर्शन

स्वामी अमूर्तानंदजी महाराज, मोहिपुर ६ अप्रैल, १९७३

...मेरे दो पत्र आपकी सेवा में पहुँच चुके हैं। इन दिनों में श्वास फूलने से कष्ट होता है। थोड़ा सा चलना-बोलना भी कठिन हो जाता है। माननीय श्री शास्त्रीजी ने पूर्व परीक्षण करके तथा अन्य डाक्टरों से परामर्श कर औषधि-योजना की है। उससे क्रमशः सुधार हो रहा है। मुंबई में डा. देसाईजी से परामर्श करने हेतु डा. थत्ते गए थे। उनके कहने के अनुसार दस Injection भी लगवाए। शीघ्र ही पूर्ण स्वास्थ्य-लाभ होने की आशा है। माननीय श्री शास्त्रीजी आपको सब समाचार योग्य प्रकार दें, ऐसी उन्हें सूचना दे रहा हूँ। आगे रविवार ८-४-७३ को दोपहर में वे नागपुर आकर सोमवार को लौटेंगे (तब बात करूँगा)।

वर्षप्रतिपदा का कार्यक्रम श्रीमद् कामकोटि पीठ शंकराचार्य महाराज की सुविधा के लिए रामनगर में रखा था। महाराज पैदल ही आते हैं। रेशमबाग आना उनके लिए कष्टप्रद होता, क्योंकि उनका निवास रामनगर में 'भगवत्पाद सभा' मे हैं। कार्यक्रम अच्छा हुआ। भाषण हुआ, जिसका अनुवाद वर्णेकरजी ने किया।

अब रामनवमी के उपरांत श्री आचार्य स्वामी उत्तर की यात्रा के लिए प्रस्तुत होंगे, मुझे दर्शन देने के लिए दिनांक २ की रात्रि में साढ़े नौ बजे के लगभग अपने डा. हेडगेवार भवन में पधारे थे। बड़ी कृपा हुई। शेष सब श्री श्री ठाकुर की कृपा है। इस वर्ष वर्षा ठीक हो और उधर के सब बंधुओं के कष्ट दूर हों। इति शम्।

४१. पूजावस्तु गोलवलकर कुलोत्पन्न को सौंप देने की योजना

श्री वासुदेव गोलवलकर, पुणे ३ मई १९७३

पिछली बार मेरी पूजा-वस्तुएँ आपके पास रखने के विषय में मैंने कहा था और उस योजना को आपने अत्यंत आनंद से मान्यता भी दी थी। बाद में पुणे में मिलने पर आपने पूछताछ भी की थी कि पूजा वस्तुएँ लाए अथवा नहीं। किंतु मेरे ज्येष्ठ गुरुभाई श्रीमद् स्वामी अमूर्तानंद जी ने पूछा कि क्यों जल्दबाजी करते हो? अतः मैंने सभी वस्तुएँ नागपुर में ही रखी थीं। अब लगता है कि आपके यहाँ उन वस्तुओं की स्थिर व अच्छी व्यवस्था करने में विलंब नहीं करना है। किसी एक विश्वस्त व्यक्ति द्वारा उनको आपके पास पहुँचाऊँगा। उनको एक पीढ़े या आसन पर रखें। प्रतिदिन स्नान के पश्चात एक विल्वपत्र चढ़ाकर धूप-अगरबत्ती जलाएँ, सायंकाल हाथ-पैर धोकर केवल धूपबत्ती लगाएँ। इतना ही पर्याप्त है, और कोई झंझट नहीं।

परंतु इस विषय के बारे में एक कठिनाई ध्यान में आई है। ज्ञात हुआ कि आपने मकान बदल लिया है और वह छोटा है। सुना है कि यह भी बदल जाएगा। उस स्थिति में वस्तुएँ रखने में कठिनाई होगी न? इसके बारे मे बिना विलंब सूचित करें। निःसंकोच सूचित करें। तब आगे की बात तय करने में सुविधा होगी। मैं महीना भर यहीं रहनेवाला हूँ। प्रवास पर नहीं जाऊँगा और फिलहाल आपके उत्तर की प्रतीक्षा करता रहूँगा। शेष सर्व कुशल।(मूल मराठी)

४२. पूज्य वस्तुएँ कुलबंधु के पास पहुँचा दीं

पूज्य स्वामी अमूर्तानंद जी महाराज, मोहिपुरा ३ मई, १९७३

मेरे पास जो पूज्य वस्तुएँ चंदन की पेटी में थीं, उन्हें आपकी

सूचना के अनुसार मैंने पुणे श्री वासुदेव गोलवलकर के पास भेज दिया। डा. सीताराम महाराज जशपुर से आए थे। २० अप्रैल को चलकर कुछ दिन के लिए पुणे गए। उन्हीं के साथ वस्तु दी थी। उन्होंने पहुँचने के कुछ समय में स्वयं जाकर उचित स्थान पर पहुँचा दी। वस्तु पहुँच गई है तथा सम्मान से रखी गई है, उस संबंध में जो सूचनाएँ मैंने पत्र लिखकर भेजी थीं, उनका योग्य पालन हो रहा है, ऐसा चि. श्री वासुदेव गोलवलकर का पत्र आ चुका है। एक महत्त्व का काम हुआ। यह सूचित करने के लिए ही यह पत्र लिखा है।

...शेष श्री. श्री ठाकुर की असीम कृपा से कुशल है।

४३. होई है सोई जो राम रचि राखा

श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी, झूंसी ५ मई, १९७३

आपका कृपापत्र दिनांक १-५-७३ को मिला।......

अपने श्रीक्षेत्र काशी का कार्यक्रम पूर्ण कर उसी सायंकाल मैं कोलकाता लौटने के लिए चल पडा। वहाँ से असम प्रांत में प्रवास के निमित्त जाकर फिर बिहार में तीन स्थानों पर कार्यक्रम थे, उनमें गया। अंतिम स्थान राँची था। वहाँ से चलकर ११ मार्च को कोलकाता लौट आया और १४ मार्च को नागपुर पहुँचा। राँची में गाड़ी में चढ़ने के लिए जाते समय श्वास बहुत फूल गया और कुछ समय के लिए मुझे लेटे रहना पडा। यह प्रथम सूचना स्पष्टतया ध्यान में आनेवाली थी।

नागपुर में यह श्वास फूलना बढ़ता गया और कुछ पग चलना, थोड़ा सा भी बोलना अति कष्टप्रद हुआ। ....

आज की स्थिति में सुधार अवश्य हुआ है परंतु चलना-बोलना अभी भी कठिन है, कुछ कम, परंतु कठिन है। सीढ़ियाँ चढ़ना-उतरना या चढ़ाव पर चढ़ना-उतरना असंभव है। इस कारण प्रवास का प्रश्न ही नहीं उठता। अब तो अपने ग्रीष्म काल के संघ शिक्षा वर्ग प्रांत-प्रांत में प्रारंभ हो चुके हैं, परन्तु मेरा कहीं जाना नहीं होगा। नागपुर के वर्ग में भी नहीं जां सकूँगा। केवल आनेवाले शिक्षार्थियों से दो-चार, दो-चार करके अपने ही कमरे में मिलने का प्रयत्न करने का सोचा है। वह भी कितनी मात्रा में निभा पाऊँगा, कुछ कह नहीं सकता।

यह सब सोचकर आपका झूंसी जाकर रहने का सुझाव अतिप्रिय होते हुए भी संभव नहीं होगा, ऐसा आज की स्थिति से अनुभव होता है। दूसरा विषय आपके नागपुर आकर रहने का है। आपके नियमों में से गोदुग्ध, गोधृत तो अपने यहाँ ही बन सकता है, क्योंकि इन दिनों अपनी चार गायें दूध दे रही हैं। मैं भी गोदुग्ध, गोघृत का ही प्रयोग कर रहा हूँ। परंतु अन्य नियम तो चलाना असंभव दिखता है।

आपने श्री बद्रीनारायणजी की यात्रा और उन पुण्य क्षेत्रों में आपका सहवास तथा श्री भागवत प्रवचन का अत्यंत सुखद स्मरण कराया है। आपसे श्री भगवान श्रीकृष्ण जी की लीलाओं को सुनकर कौन भाव-गद्गद् नहीं होगा? आपकी मुझे पूर्ण श्री भागवत सुनाने की इच्छा बड़ा अनुग्रह है। मेरी परीक्षित से तुलना करना हास्यास्पद है, परंतु उस प्रसंग का स्मरण हुआ जब सात दिनों में श्री शुकदेव महामुनि ने उन्हें संपूर्ण श्रीमद् भागवत् सुनाकर उनका उद्धार किया। आप तो इस युग में श्री शुकाचार्य तुल्य ही हैं। आपकी वाणी में, कंठ में अलौकिक माधुर्य है। कथा सुनाते समय आपकी तन्मयता मन को मोहित करनेवाली है। आपसे श्री भागवत सुनना पूर्वजन्मों के पुण्यसंचय से ही हो सकता है। अब यह पुण्यसंचय मेरे पास होने की आशंका है, क्योंकि इस परिस्थिति में मैं इस सुअवसर का लाभ उठाने से वंचित हो रहा हूँ।

परंतु मनोयोग से स्मरण में जुटा हूँ। दूसरा काम नहीं है, यह सौभाग्य है। सामान्य दैहिक कर्म और मेरे मित्र के द्वारा नहलाए जाने के पश्चात् नित्यकर्म का पालन और फिर आराम कुर्सी में पड़े-पड़े स्मरण का आनंद आपके कृपाशीर्वाद से यह चल रहा है। नहीं तो "प्रयाणकाले कफवातपित्तैः कंठावरोधे स्मरणं कुतस्ते" की अवस्था में जीवन नैया डूब जाएगी।

मैं समझता हूँ कि मैंने अपनी स्थिति तथा इस पुनीत सुझाव के अनुसार करने में असमर्थता पर्याप्त स्पष्ट की है। मेरा स्वास्थ्य सुधारपर है। 'अच्युतानंदगोविंदनामस्मरणम् भेषजम्। नश्यन्ति सकलाः रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्' का अनुभव कर रहा हूँ। श्री वर्षप्रतिपदा के कुछ आगे-पीछे अति गंभीर स्थिति होने की आशंका चिकित्सकों को भी थी। परंतु अब वह स्थिति नहीं है और अपने सहयोगी कुछ राहत की साँस ले रहे हैं। एक चिकित्सक आए थे। उनके औषधि-प्रयोग के बहुत कुछ सुझाव थे। मैंने

उन्हें एक ही, छोटा सा उत्तर दिया, ''होई है सोई जो राम रचि राखा'' फिर चिंता का या दुःख का कारण ही क्या है।

शेष भगवत्कृपा से कुशल है। आपके तथा संपूर्ण आश्रम के मंगल की कामना से प्रार्थना करता हूँ।

इति शम्। श्री भगवच्चरणों में विनीत।

ि ि ि

हमारी सभी प्रवृत्तियाँ और विषय–भोग एक ओर धर्म तथा दूसरी ओर मोक्ष के बीच सधे हुए हैं। जैसे दोनों तटों के बीच बहती नदी जीवनदायिनी होती है, परंतु उनका उल्लंघन करते ही वह विनाशकारी हो जाती है। ठीक यही स्थिति मानव–जीवन के प्रवाह की है। धर्म और मोक्ष के बीच बहता जीवन–प्रवाह व्यक्ति व समाज दोनों के लिए सुखदायी होता है।

— श्रीगुरुजी

यह सब सोचकर आपका झूंसी जाकर रहने का सुझाव अतिप्रिय होते हुए भी संभव नहीं होगा, ऐसा आज की स्थिति से अनुभव होता है। दूसरा विषय आपके नागपुर आकर रहने का है। आपके नियमों में से गोदुग्ध, गोधृत तो अपने यहाँ ही बन सकता है, क्योंकि इन दिनों अपनी चार गायें दूध दे रही हैं। मैं भी गोदुग्ध, गोघृत का ही प्रयोग कर रहा हूँ। परंतु अन्य नियम तो चलाना असंभव दिखता है।

आपने श्री बद्रीनारायणजी की यात्रा और उन पुण्य क्षेत्रों में आपका सहवास तथा श्री भागवत प्रवचन का अत्यंत सुखद स्मरण कराया है। आपसे श्री भगवान श्रीकृष्ण जी की लीलाओं को सुनकर कौन भाव-गद्‌गद् नहीं होगा? आपकी मुझे पूर्ण श्री भागवत सुनाने की इच्छा बड़ा अनुग्रह है। मेरी परीक्षित से तुलना करना हास्यास्पद है, परंतु उस प्रसंग का स्मरण हुआ जब सात दिनों में श्री शुकदेव महामुनि ने उन्हें संपूर्ण श्रीमद् भागवत् सुनाकर उनका उद्धार किया। आप तो इस युग में श्री शुकाचार्य तुल्य ही हैं। आपकी वाणी में, कंठ में अलौकिक माधुर्य है। कथा सुनाते समय आपकी तन्मयता मन को मोहित करनेवाली है। आपसे श्री भागवत सुनना पूर्वजन्मों के पुण्यसंचय से ही हो सकता है। अब यह पुण्यसंचय मेरे पास होने की आशंका है, क्योंकि इस परिस्थिति में मैं इस सुअवसर का लाभ उठाने से वंचित हो रहा हूँ।

परंतु मनोयोग से स्मरण में जुटा हूँ। दूसरा काम नहीं है, यह सौभाग्य है। सामान्य दैहिक कर्म और मेरे मित्र के द्वारा नहलाए जाने के पश्चात् नित्यकर्म का पालन और फिर आराम कुर्सी में पड़े-पड़े स्मरण का आनंद आपके कृपाशीर्वाद से यह चल रहा है। नहीं तो ''प्रयाणकाले कफवातपित्तैः कंठावरोधे स्मरणं कुतस्ते'' की अवस्था में जीवन नैया डूब जाएगी।

मैं समझता हूँ कि मैंने अपनी स्थिति तथा इस पुनीत सुझाव के अनुसार करने में असमर्थता पर्याप्त स्पष्ट की है। मेरा स्वास्थ्य सुधारपर है। 'अच्युतानंदगोविंदनामस्मरणम् भेषजम्। नश्यन्ति सकलाः रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहम्' का अनुभव कर रहा हूँ। श्री वर्षप्रतिपदा के कुछ आगे-पीछे अति गंभीर स्थिति होने की आशंका चिकित्सकों को भी थी। परंतु अब वह स्थिति नहीं है और अपने सहयोगी कुछ राहत की साँस ले रहे हैं। एक चिकित्सक आए थे। उनके औषधि-प्रयोग के बहुत कुछ सुझाव थे। मैंने

उन्हें एक ही, छोटा सा उत्तर दिया, ''होई है सोई जो राम रचि राखा'' फिर चिंता का या दुःख का कारण ही क्या है।

शेष भगवत्कृपा से कुशल है। आपके तथा संपूर्ण आश्रम के मंगल की कामना से प्रार्थना करता हूँ।

इति शम्। श्री भगवच्चरणों में विनीत।

हहह

हमारी सभी प्रवृत्तियाँ और विषय–भोग एक ओर धर्म तथा दूसरी ओर मोक्ष के बीच सधे हुए हैं। जैसे दोनों तटों के बीच बहती नदी जीवनदायिनी होती है, परंतु उनका उल्लंघन करते ही वह विनाशकारी हो जाती है। ठीक यही स्थिति मानव–जीवन के प्रवाह की है। धर्म और मोक्ष के बीच बहता जीवन–प्रवाह व्यक्ति व समाज दोनों के लिए सुखदायी होता है।

— श्रीगुरुजी

इति श्री

(अपने देहावसान के पश्चात् संघ-कार्य की समुचित व्यवस्था आदि के बारे में श्रीगुरुजी द्वारा २ अप्रैल १९७३ को तीन पत्र लिखकर उन्हें सुरक्षित रख दिया गया। ६ जून १९७३ को श्रीगुरुजी के पार्थिव शरीर की अंत्ययात्रा प्रारंभ होने के पूर्व इन पत्रों को पढ़कर सुनाया गया)

---

१. नवीन सरसंघचालक की नियुक्ति

सर्व स्वयंसेवक बंधुओं को

गत एक मास से शरीर का शक्ति-क्षय द्रुत-गति से हो रहा है। डाक्टर बंधु निराश हो गए हैं। सबके मन में एक ही विचार आ रहा प्रतीत होता है कि यह शरीर अब अत्यल्प काल का साथी है।

तब अपने संघकार्य की व्यवस्था का एक महत्त्व का प्रश्न सामने आता है। संघकार्य अपने संविधान के अनुसार सुचारु रूप से चलेगा ही। उसी संविधान के अनुसार नूतन सरसंघचालक की योजना करने का वह प्रश्न है। अखिल भारतीय कार्यकारी मंडल के जिन सदस्यों से मैं मिलकर विचार कर सका वे सब पुराने, दीर्घ काल के अनुभवी मँजे हुए कार्यकर्ता हैं और भिन्न-भिन्न प्रांतों के संघचालक पद पर से कार्य में संलग्न हैं। सबसे बातें होने पर उन सबका सारभूत निर्णय प्रकट करने का मेरा सद्यःकालीन सरसंघचालक के नाते दायित्व है।

उस दायित्व को पूरा करते हुए मैं यह निर्णय प्रकट कर रहा हूँ कि मेरे शरीर के शांत होने के पश्चात्, सरसंघचालक-पद का भार, सबको

परिचित श्री मधुकर दत्तात्रेय उपाख्य बालासाहेब देवरस ग्रहण करेंगे।

अपने कार्य की स्नेहपूर्ण एकात्मता की पद्धति, व्यक्ति-निरपेक्षता, ध्येयनिष्ठा आदि विशेषताओं को ध्यान में रखकर सब छोटे-बड़े स्वयंसेवक बंधु अपने परम पूज्य सरसंघचालकजी के मार्गदर्शन में संघकार्य की पूर्ति हेतु काया-वाचा-मनसा जुटे रहेंगे और कार्य शीघ्र लक्ष्यपूर्ति कर सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है। सब बंधुओं को सादर नमस्कार। इति शम् ।

२. स्मारक आवश्यक नहीं

अपना कार्य राष्ट्र-पूजक है, ध्येय-पूजक है, व्यक्ति-पूजा को उसमें स्थान नहीं है। मेरा शरीर अल्पकाल का साथी रहा है, ऐसा डाक्टर बंधुओं का मंतव्य प्रतीत होता है। शरीर नश्वर तो है ही, कभी न कभी जाएगा। उसके जाने पर शेष शव का श्रृंगार आदि बातें विचित्र लगती हैं। वैसे ही संघ का ध्येय और उस ध्येय का दर्शन करानेवाले संघनिर्माता, इनके अतिरिक्त और किसी व्यक्ति का व्यक्ति इस नाते से महत्त्व बढ़ाना, उसके स्मारक बनाना आवश्यक नहीं है। मैंने तो ब्रह्मकपाल में अपना स्वतः का भी श्राद्ध कर रखा है, जिससे बाद में किसी पर श्राद्धादि का बोझ न रहे।

ये अति थोड़े में कहा है। इसका विस्तार से अर्थ सब समझ सकेंगे, यह मेरा पूरा विश्वास है। इति।

३. करबद्ध क्षमायाचना

परम प्रिय आदरणीय स्वयंसेवक बंधुगण!

२१ जून १९४० को परमपूजनीय डा. हेडगेवारजी का शरीर शांत हो गया और उनकी इच्छा के अनुसार सरसंघचालक-पद का गुरुभार मेरे पर आ पड़ा। मैं तो कुछ भी जानता नहीं था। तो भी सब पुराने कार्यकर्ताओं ने बड़े प्रेम से सहकार्य किया, मार्गदर्शन किया और इतने दीर्घकाल तक, लगभग ३३ वर्ष, मैं इस भार को वहन करता आया। अब भगवान की इच्छा दिखती है कि दूसरे योग्य व्यक्ति को यह दायित्व देकर, कार्य अधिक अच्छी प्रकार और अधिक द्रुत गति से पूर्णता की ओर बढ़ावें। और अब वह योजना हो रही है।

इस दीर्घ काल में मेरे स्वभाव-वैचित्र्य के कारण या अन्यान्य

न्यूनताओं के, दोषों के कारण अपने अनेक कार्यकर्ताओं को मानसिक दुःख हुआ होगा। मैं सब से करबद्ध क्षमा-याचना करता हूँ। अंत में श्रीसंत तुकारामजी का वचन उद्धृत कर रहा हूँ, जिससे सब भाव समझ में आ सकेंगे–

शेवटची विनवणी। संतजनीं परिसावी।।
विसर तो न पडावा। माझा देवा तुम्हांसी।।
आता फार बोलों कायी। अवघें पायी विदित।
तुका म्हणे पडतों पायां। करा छाया कृपेची।।

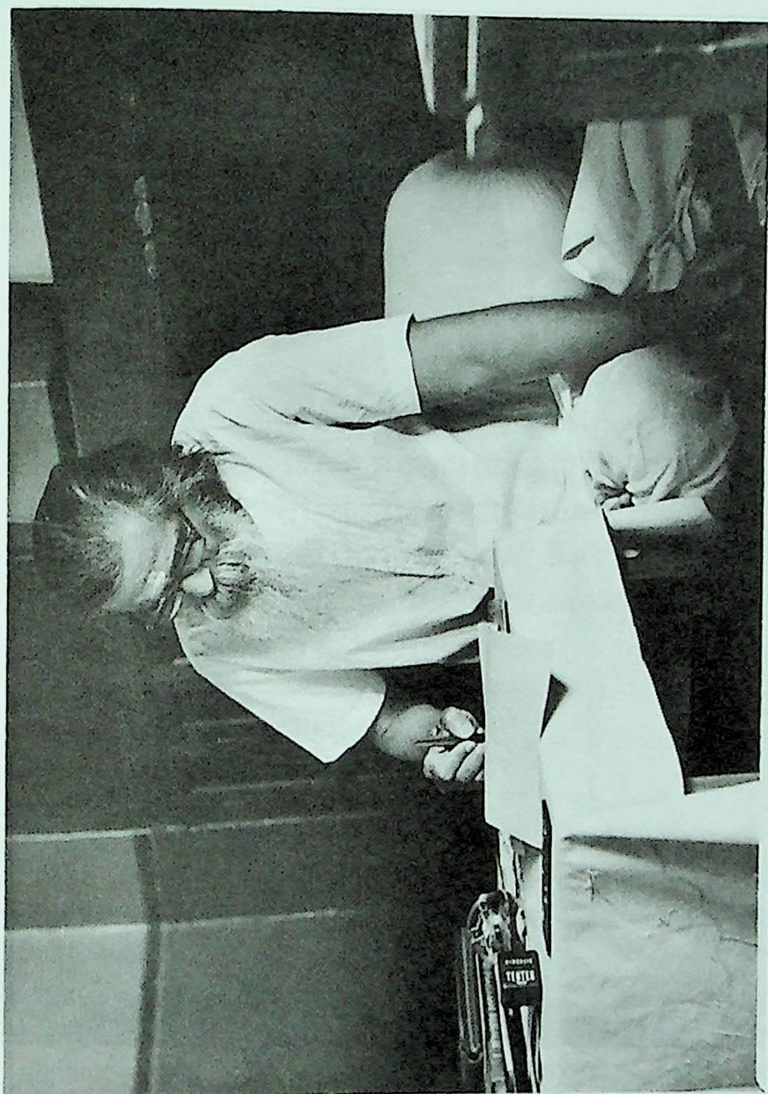
(हिन्दी अनुवाद)

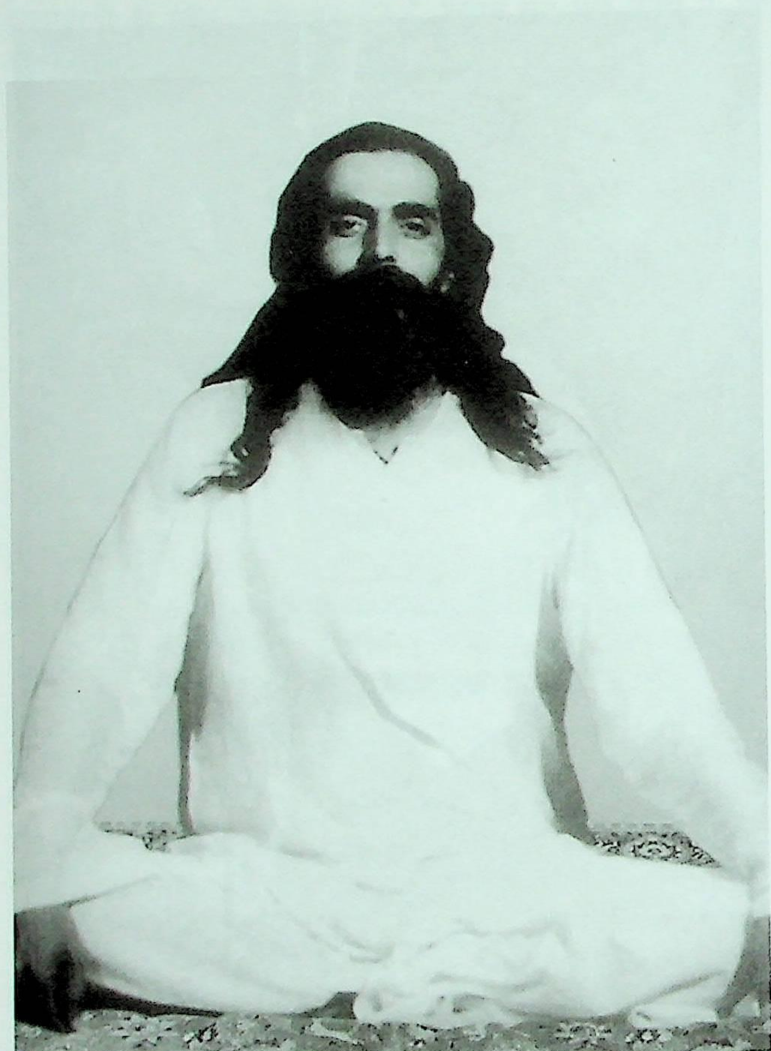
अंतिम ये प्रार्थना। संतजन सुनें सभी।।
विस्मरण न हो मेरा। आपको प्रभो कभी।।
अधिक और क्या कहूँ। विदित सभी श्रीचरणों को।।
तुका कहे पैरों पड़ूँ। करें कृपा की छाँह को।।

ि ि ि

यदि महान जागतिक लक्ष्य में हम सफलता प्राप्त करना चाहते हैं तो हमें प्रथम अपना उदाहरण प्रस्तुत करना होगा। हमें विदेशी वादों की मानसिक शृंखलाओं और आधुनिक जीवन के विदेशी व्यवहारों तथा अस्थिर 'फैशनों' से अपनी मुक्ति कर लेनी होगी। परानुकरण से बढ़कर राष्ट्र की अन्य कोई अवमानना नहीं हो सकती। हम स्मरण रखें कि अंधानुकरण माने प्रगति नहीं। वह आत्मिक पराधीनता की ओर ले जाता है।

— श्रीगुरुजी





अखंड आनंद के पथ पर

अपनी जन्मजात विरक्त भावना के कारण संन्यास धारण कर आत्मोन्नति के लिए श्री गुरुजी बंगाल स्थित सारगाछी के श्रीरामकृष्ण आश्रम में स्वामी विवेकानंद के गुरुभाई स्वामी अखंडानंद जी की शरण में पहुँचे थे। उन्होंने आश्रम की पद्धति के अनुसार दीक्षा ली थी। दीक्षा की उत्सुकता व दीक्षा-प्राप्ति के अपने आत्मानुभव को उन्होंने अपनी दैनंदिनी में लेखबद्ध किया था। उस दैनंदिनी के उपलब्ध अंश अविकल रूप से यहाँ प्रस्तुत हैं।

---

१३ दिसंबर १९३६/सायं

परम चैतन्य से यह पूछे जाने पर कि वह यहाँ कैसा अनुभव करते हैं, उन्होंने कहा कि अब वह अपने जीवन में पहले से कहीं अधिक अच्छे हैं और वे स्वयं को परिवर्तित अनुभव कर रहे हैं। बाबा ने उन्हें बड़ी कृपापूर्वक आश्वस्त किया कि वह पूरी तरह एक-दूसरे ही व्यक्ति हो गए हैं। उन्होंने आगे कहा कि वह परम चैतन्य के उत्थान के लिए श्री श्री गुरु महाराज से अनवरत प्रार्थना कर रहे हैं, विश्वास दिलाया कि अब उनका सब कुछ ठीक होगा। इस पर परम चैतन्य इतने अभिभूत हुए कि उन्होंने भावविह्वल होकर अवरुद्ध कंठ से धन्यवाद प्रकट किया। इसके बाद बातचीत की दिशा भारत की ओर मुड़ गई। परम चैतन्य ने कहा कि वह अनुभव करते हैं कि उनकी दृष्टि में इस राष्ट्र के पास एक महान धरोहर

है, जिसने देशवासियों को एक दिशा दी, जिसने उन्हें गरीबी के बावजूद संतोष प्रदान किया, जो सुसंपन्न पाश्चात्यों के लिए एक साथ आशा और निराशा का विषय है। बाबा ने परम चैतन्य को आगे बताया कि यह देश भौतिक रूप से कितना अवसादग्रस्त है। यह कितनी दयनीय बात है कि बहुतांश जनसंख्या को एक बार का पूरा भोजन भी प्राप्त नहीं होता और न ही अपना तन ढकने के लिए एक चिथड़ा उनके पास है। उन्होंने मत प्रकट किया कि प्राप्त विवरण के अनुसार संयुक्त राज्य अमरीका कहीं अधिक अच्छी स्थिति में हैं। तब परम चैतन्य ने कहा, 'नहीं महोदय, वहाँ जनसंख्या के ७० प्रतिशत से अधिक भाग को मात्र उतना ही उपलब्ध है, जितना कि जीवित रहने के लिए आवश्यक होता है और वे बड़ी कठिनाई से अपना जीवना चला पाते हैं। उनमें एक करोड़ दस लाख लोगों के पास जीविकोर्पार्जन का कोई साधन ही नहीं है और न ही उनके पास अपनी कोई जगह है, जहाँ वे अपना सिर छुपा सकें। नीग्रो लोगों की झोपड़पट्टियों की दुखःद स्थिति का जो विवरण मिलता है, उसमें बताया जाता है कि अंतःवासियों को गीला करती टपकती छतें हैं, वे एक छोटी-सी कोठरी में चार पाँच लोग एक-दूसरे से सटकर रहते हैं, जिसमें एक सामान्य व्यक्ति भी ठीक प्रकार से नहीं रह सकता। दीवारों की मिट्टी उन पर गिरती रहती है। उनके पास न भोजन है, न वस्त्र, न काम।

एक मध्यमवर्गीय परिवार को १५०० डालर की आवश्यकता होती है, जबकि ७० प्रतिशत जन २५० डालर ही प्राप्त कर पाते हैं। नए राष्ट्रपति रुजवेल्ट अचल संपत्ति, धन और औद्योगिक संस्थाओं का अधिग्रहण कर प्रत्येक दीन बेरोजगार को जोतने के लिए जमीन का टुकड़ा देकर अलास्का मे बसाने का प्रयास कर रहें हैं।

यह एक ऐसी कारुणिक स्थिति थी, जिसके द्वारा पवित्र पिता स्वयं को इस चीत्कार में सर्वाधिक दुःख के साथ व्यक्त कर रहा था।

इसके बाद उन्होंने बुकर टी. वाशिंगटन, उसके बचपन, उसके कष्ट और कु. स्टो द्वारा रचित 'द अंकिल टोम्स केबिन' के संबंध में बताया। परम चैतन्य ने कहा कि यह सब वास्तविक स्थितियों का बहुत ही सौम्य चित्रण है।

परम चैतन्य ने बाद में मुझसे कहा कि सारी व्यवस्था के कारण अधिकांश लोग न तो मकान के स्वामी हैं, न ही फर्नीचर, बरतन, कार और किसी अन्य वस्तु के मालिक हैं। क्योंकि उनकी कीमत 'किराया और

क्रय' पद्धति द्वारा चुकाई जानी है। यदि कोई किश्त नहीं चुकाई जा सकी तो उस गरीब बेचारे को मकान से निकाल दिया जाएगा और उससे हर वस्तु छीन ली जाएगी। ओह! हमारा सुसभ्य पश्चिमी जगत् कितना भयानक है। और महिलाएँ, यद्यपि उनमें से अब कुछ बिगड़ रही हैं, तथापि पुरुषों की तुलना में वे अधिकांश अधिक सुसंस्कृत और अध्यात्मुखी हैं। और बाबा ने आनंदा की ओर इंगित करते हुए कहा– यह कन्या महान भक्त है, हजारों में एक।

'विश्वेश्वरे तु सुधिया गलितेऽपि भेदे
भावेन भक्ति सहितेन समार्चनार्हः।
प्राणेश्वरे चतुरया मिलितेऽपि चित्ते।
वस्त्रांचलैर्व्यवहितोऽपि निरीक्षणीयः।।'

यह वह पद्य है, जिसे परमहंस महापुरुष टोकरी बाबा, जो जामनगर में रहते थे, गाया करते थे। वे इस प्रकार अपनी शिवपूजा का औचित्य प्रकट करते थे। यद्यपि वह शुद्ध अद्वैतवादी थे, तथापि स्वामी विवेकानंद कहा करते थे– बाबा महान रसज्ञ हैं। बाबा दूसरी पंक्ति में 'समार्चनाख्य' गाया करते थे। किंतु स्वामी जी ने उन्हें वर्तमान श्लोक में वर्णित शब्द का परामर्श दिया, जो काफी कुछ अन्वर्थ है, जिसका अनुमोदन कर टोकरी बाबा ने आनंद के साथ स्वीकार किया।

पद्य का अर्थ है–

यद्यपि पत्नी अपना मन अपने पति के मन में इतनी पूर्णता से विलीन कर देती है कि फिर उसके संबंध में कोई लज्जा या गोपनीयता स्वीकार नहीं होती, तथापि वह जब भी उसे देखने की इच्छा करती है, तब वह उसे खुलेआम न देखकर घूँघट में अपना चेहरा छिपाकर उस पर लज्जालु दृष्टि डालती है।

इसी प्रकार आराधक एवं आराध्य का सारा भेद सृष्टि के एक परमात्मा मे विलीन हो चुका हो सकता है, फिर भी आराध्य, साक्षात्कार प्राप्त व्यक्ति के द्वारा भी पूजे जाने योग्य है।

१६ दिसंबर १९३६

एक बार मैं गिर पड़ा और एक प्याला जो श्री बाबा को बहुत प्रिय था, मुझसे टूट गया। लेकिन उन्होंने कहा, 'सावधानी रखो, शीघ्रता में मत रहो। वह एक अच्छा प्याला था। तुम्हें चोट तो नहीं लगी?' इस प्रकार

उनकी महान दया ने मेरे पश्चात्ताप भरे मन को तथा जहाँ मुझे चोट लगी थी उस जगह की पीड़ादायी त्वचा को कुछ सांत्वना प्रदान की।

दूसरी बार चूँकि मेरे पैर गीले थे और भंडार में घुसने की मुझे जल्दी थी, मैं फिसल गया और स्वयं को संतुलित करने के सारे प्रयत्नों के बाद भी गिर पड़ा, किंतु मुझे चोट नहीं लगी। उस समय श्री बाबा दोपहर का भोजन कर रहे थे।

तीसरी बार जब मैं श्री बाबा का हुक्का लेकर उठ रहा था, मेरे सिर में चोट लगी, और फिर तब, जब मोमबत्ती जलाकर उसे श्री बाबा के कक्ष में मुझे ले जाना था, खिड़की के दरवाजे के कोने से लगी टक्कर से मैं एक क्षण के लिए चकरा गया। सिर के बीचों-बीच बड़ी तीव्र पीड़ा हुई। आह!

विभूति आया। मैंने उससे टिंचर आयोडीन लगाने को कहा। उसने कहा, 'यदि रक्त निकला हो तब टिंचर लगाना ठीक होगा, अन्यथा वह हानिकारक होगा।' मैं उससे सहमत हुआ। उसने चोट खाये स्थान का परीक्षण किया। त्वचा फटी नहीं थी। इसलिए टिंचर आयोडीन को अनावश्यक माना। उसने कहा कि श्री बाबा जैसे महापुरुषों के संरक्षणदायी पंखों तले इस प्रकार की दुर्घटनाएँ मंगलकारी होती हैं। वे इस बात का संकेत हैं कि एक बड़ी विपत्ति, जिसे पूरी शक्ति से घटित होना था, प्रभु के प्रेम की सुदृढ़ रक्षा-दीवार से टल गई और वह संकट इतने छोटे रूप में घटित हुआ। उसने कहा कि श्री माँ (सारदा) ने यह पूछे जाने पर कि महापुरुष के साथ रहने की क्या उपयोगिता है, बताया था कि भाग्य द्वारा नियत कटार का वार मात्र एक काँटे की चुभन भर रह जाता है। क्योंकि कर्म का अपना प्रभाव तो रहेगा ही, उसकी तीव्रता कम हो जाती है। यह चोट इसी प्रकार की है।

कितने विश्वासपूर्वक वे सबसे कहते हैं– 'मेरी सेवा करो, यही पर्याप्त है। किसी अन्य साधना की आवश्यकता नहीं। बस, तुम्हें इतना भर करना है। तुम मात्र मेरी सेवा से सब कुछ पा लोगे।'

शरीर की ओर उनका किंचित मात्र ध्यान नहीं है। वे एक बार बड़ी उत्सुकता से सुस्वादु व्यंजनों की एक पूरी सूची देते हैं, जिन्हें वे ग्रहण करना चाहते हैं। किंतु भोजन करते समय उनका उस ओर कोई ध्यान नहीं रहता। आज के भोजन के लिए उन्होंने किसी अचार विशेष के लिए कहा

था। मैं भोजन के समय वहाँ था। किंतु मुझे उस संबंध में कुछ पता नहीं था। जब कुछ क्षणों बाद अचिंत्य महाराज आए और उन्होंने मुझे वह दिखाया, तब मैं उसे उन्हें परोसने के लिए ले गया। तब वे बोले 'यह क्या है? मैंने तो उसके लिए कभी नहीं कहा, पर अब उसे तुम ले ही आए हो तो मुझे थोड़ा-सा दे दो।'

वे १४ अंजलि ठंडे पानी से अपनी आँखें धोते हैं। एक बार उन्होंने अनजाने ही दाँत साफ करने और उसके बाद आँखे धोने के क्रम को बदल दिया। वे पहले आँखें धोने लगे और १४ अंजलि जल के बाद अपने हाथ-मुँह पोंछने लगे। मैंने कहा, 'लेकिन अभी तो दाँत साफ करने हैं।' वे बोले, 'तुम मुझे आँखों के लिए गरम पानी दो। अच्छा, मुझसे क्रम बदल गया है, लेकिन तुमने मुझे सदैव याद दिलाते रहना चाहिए।'

मैंने उन्हें पोतलवार के पत्र और उससे मुझे जो पीड़ा पहुँची, उसके बारे में बताया। इस पर उन्होंने कहा, 'माया का दुःख तो होगा ही।'

१६ दिसंबर १६३६

उनका शरीर कोमल है और मेरी हथेलियाँ कठोर हैं। कल मैं उनके पैरों की मालिश करने लगा। ठेठवाली हथेलियों से उन्हें कष्ट हुआ। उन्होंने कहा, 'तुम अपने हाथों का उपयोग आंत्रशोथ की चीरफाड़ पर करो। दुःखी मत हो।' किंतु जगदीश ने मेरा स्थान लिया। फिर भी इस सायंकाल मैंने ही मालिश की। मेरी हथेलियों की त्वचा से उनकी त्वचा कई बार खुरच गई, किंतु उस ओर उनका कोई ध्यान नहीं था। फिर भी मैं अपने सुधरे हुए कौशल पर स्वयं को बधाई दे रहा था कि तभी तेल पोंछते समय उनके पैर के अंगूठे में गमछा उलझ गया। मुझे तुरंत उसे बाहर निकालना पड़ा।

अचिंत्य और अमिताभ महाराज का गायन हो रहा था। अचिंत्य द्वारा माँ का गीत गाया गया। वे संज्ञा शून्य हो गए। उच्च चेतन-अवस्था में उन्होंने मधुरता से पुकारा- 'माँ, जगतरक्षिणी, ज्ञानाधीश्वरी।' इस अवस्था में अद्वैत में निरंतर विलीन होते हुए उन्होंने उस पीड़ा को तुरंत अनुभव किया जो मैंने उन्हें (अपनी कठोर हथेलियों द्वारा) पहुँचाई थी। उन्होंने उसके बारे में मुझे बताया... (दैनंदिनी की अंतिम दो पंक्तियाँ नहीं समझी जा सकीं, क्योंकि उसके कागज का किनारा कटा-फटा है -सं.।)

<u>२४ दिसंबर १९३६</u>

ईसा का जन्मदिन। मैंने श्री बाबा से उनकी कृपा के लिए प्रार्थना की। उन्होंने कहा, 'हाँ, वह तुम्हें शीघ्र प्राप्त होगी।' हुआ यह कि ब्रह्मचारी महाराज पिछले तीन दिनों से प्रति शाम उनकी मालिश करते हैं। उन्होंने गुरुदेव से मेरे बारे में बोला। ब्रह्मचारी महाराज ने मुझसे कहा, 'शीघ्रता करो, दीक्षा के लिए तुरंत कहो, अन्यथा इस अवसर को खोने के बड़े संकट में आ जाओगे।'

मंगलवार की रात और पूरे बुधवार को मैं अपने मन को स्थिर नहीं कर सका, क्योंकि मुझमें साहस का अभाव था। ओ मेरे हृदय! तब मैंने (स्वयं से) कहा, 'यदि मुझे कुछ क्षण मिल सकें तथा उन्हें अकेला पा सकूँ।' प्रातः नित्य कर्म के समय सेवा करने के बाद मैं साहसिक हो सकता था और तब उनसे कृपा की प्रार्थना कर सकता था। उन्होंने मेरी मौन प्रार्थना सुनी और आज सुबह ३.४५ पर मुझे बुलाया। मैं उनकी सेवा में लग गया। इसके बाद घोल और मक्खन तैयार किया, तब उन्होंने कहा, 'यदि तुम्हें असुविधा न हो तो मुझे अपना मुँह धो लेना चाहिए।' मैं कैसा असावधान था। मैंने तुरंत उसकी पूरी व्यवस्था की। नित्यकर्म की स्वच्छता पूरी होने पर, उनके आदेशानुसार मैं रोशनी ले गया, क्योंकि सौभाग्यवश रघुवीर दौड़ लगाने बाहर गया हुआ था और गोपाल सोया पड़ा था। परम चैतन्य भी। मैंने पूरा साहस जुटाया और कक्ष में प्रवेश किया। वह ध्यान मुद्रा में बैठे थे। वह एक स्तोत्र सुन्दर ढंग से गा चुके थे। दूसरा (स्तोत्र) आरंभ करें उससे पहले मैंने अपने घुटनों पर बैठकर अपने गले में अटके शब्द को जोर लगा कर बाहर निकाला, 'महाराज जी!' मेरे अंग-प्रत्यंग काँप रहे थे और मेरी आँखों से आँसू बह रहे थे। उन्होंने पूछा, 'क्या है?' आह! शब्दों ने मुझे कितना असफल किया। आँसुओं का बड़ा घूँट निगल कर मैं सुबकते हुए मात्र इतना कह सका, 'महाराज जी, मेरे ऊपर कृपा कब होगी?' चूँकि वह मेरे शब्दों को समझ नहीं सके, मैंने अपने उन्हीं शब्दों को फिर से दोहराया। तब वह असीम करुणा के साथ बोले, 'होगी! अब दस-बारह दिन की छुट्टी है, उसमें और लोग दर्शन के वास्ते आएँगे, उन्हीं के साथ होगा। मैं कह दूँगा, अब जाओ।' इस महान आनंद को अपने भीतर समा पाने में असमर्थ होने के कारण सुबकते कंठ से मैंने अनेक बार कहा, 'जय प्रभु', और मैं बाहर आ गया।

उन्होंने स्तोत्र आरंभ किया। मैं अपने अनियंत्रित आनंद के कारण

रोया, और खिड़की से उन्हें देखकर विनम्र कृतज्ञता में उनके प्रति झुक गया। उस प्रणाम की अपूर्व शांति! वह दिवस अत्यंत सुखद रहा, क्योंकि वे परम दयालु हैं।

मैं प्रसन्न हूँ और उनके चरणों में तेल मलते हुए उनके मधुर शब्द सुन रहा हूँ। वे कह रहे थे, 'कितनी अच्छी थी सम्राज्ञी विक्टोरिया और जार्ज पंचम भी।'

<u>२५ दिसंबर १९३६</u>

वह सुबह से ८ दीक्षा दे चुकने के कारण अस्वस्थ्य हैं। उन्होंने कुछ नहीं खाया। उन्हें अतिसार सरीखा कुछ है।

अरे, मैं दुःख सहन करूँ और वह सब व्याधियों से मुक्त हो जाएँ. ....

उन्हें कितना ज्ञान है। उन्होंने चार दिनों में ग्रिफिथ कृत हिंदी व्याकरण 'भाषा-भास्कर' का ज्ञान प्राप्त किया और खेतरी के महाराजा को हिंदी में एक लंबा पत्र लिख भेजा। एक बड़े पंडित ने, जिसने उसे पढ़ा, कहा कि वह अप्रतिम है और उसमें छोटी-सी त्रुटि भी नहीं है। ऐसे प्रबुद्ध और स्मृति......मार्को पोलो ....उन्होंने हृदयंगम कर लिया है। (कागज के किनारे कटफट गए हैं —सं.)

<u>२७ दिसंबर १९३६</u>

सायंकाल। जब मैं उन्हें प्रणाम कर चुका और भंडार कक्ष, जो प्रायः मेरा विश्रामस्थल हुआ करता है, की ओर जाने लगा, तब उन्होंने मुझे बुलाया। मुझे अधिक समीप बुलाया और लगभग फुसफुसाते हुए कहा, 'बाहर से आए दीक्षार्थियों का हम पर बड़ा दबाव है। उन्हें चले जाने दो। अभी मेरठ के रामलाल यहाँ हैं। उन्हें जाने दो। तब तुम्हें, जगदीश और रोबिन को दीक्षा दी जाएगी।' मैंने अनुभव किया कि मेरा हृदय परिपूर्ण और मन अत्यंत शांत हो गया है। मैंने केवल 'जय प्रभु' कहा और अपने घुटने मोड़कर नत हो गया। उन्होंने अपनी कृपा का हाथ मेरे सिर पर रखा। वह स्पर्श कितना आनंदपूर्ण था। अब मैं उस सुखदाई क्षण की प्रतीक्षा में हूँ।

<u>६ जनवरी १९३६</u>

ओह! वह समय कब आएगा। वह किसी न किसी कारण टलता जा रहा है। क्योंकि नव वर्ष के दिन अन्नपूर्णा, भक्ति, अखिलानंद स्वामी,

अर्जेन्टाइना के विजयानंद (पशुपति महाराज), ओकांरानंद (अनंग महाराज), गंगेश्वरानंद (द्विजेन महाराज), रामेश्वरानंद (हरीश महाराज) और विनय महाराज आए और नव वर्ष दिवस आनंदपूर्वक मना। उस दिन के पहले और उसके बाद दिनभर श्री बाबा अत्यन्त व्यस्त रहे। इसलिए मैं अन्य दो कृपावंचितों के साथ रहा।

इन दिनों वे फल, दूध और उपमा के अतिरिक्त और कुछ नहीं ले रहे हैं। (मेरा अनुमान है) संभवतः ३० दिसम्बर को वे बोले, 'संन्यासी कितना अनासक्त निर्भीक आदि होता है।' उन्होंने यह भी बताया कि अस्ति, भाति, प्रिय (अर्थात सत् चित् आनंद) नाम और रूप ये पाँच किस प्रकार अस्तित्व को अभिव्यक्त करते हैं, इनमें प्रथम तीन ब्रह्म हैं और अंतिम दो विश्व। परम सत्य मात्र सच्चिदानंद है।

आज रात को श्री माँ का ८२वां जन्मदिन आश्रम में बड़े स्तर पर मनाया गया। सब गाँववालों को भोजन कराया गया। वे (श्री बाबा) दिन भर आनंदमग्न रहे। सायंकाल होते-होते वह अस्वस्थ हो गए। (मुख्य रूप से पेट और पीठ की व्याधि से) रात को भोजन नहीं होना था, इसलिए उन्होंने सबको एक साथ बुलाया और दाना के एक नवागत, अचिंत्य महाराज व अमिताभ महाराज के साथ भजन-गायन आरंभ किया। उनकी भाव-भंगिमा बदल गई। वे इतनी ऊँचाईयों में विचरण करने लगे, जिसे मैं माप नहीं सकता। रात्रि के १० बज चुके हैं, मात्र इस उल्लेख से ..... (पृष्ठ फटा हुआ है -सं)।

देर से सोने का अर्थ होगा- देर से जागना। उन्होंने कहा, 'क्या हुआ यदि १० बज गया। तब भी रात्रि के ८ घंटे पड़े हैं। योगी को चार घंटे से अधिक नहीं सोना चाहिए। वह तो निरा भोगी है, जिसे ७ या ८ घंटे की निद्रा चाहिए। वह, जो परमात्मा का साक्षात्कार करना चाहता है, वह क्या कभी सो सकता है? उसका हृदय तो उसके (परमात्मा) लिए निरंतर तीव्र आकांक्षा कर रहा होगा। वह तो उसके प्रत्यक्ष दर्शन के लिए और उसमें मग्न रहने के लिए सदैव आतुर रहेगा। उसे नींद कैसे आएगी? श्री श्री ठाकुर रात को पंचवटी की ओर भागते हुए जाया करते, अपने हाथ मरोड़ते, रोते और अपना चेहरा धरती पर रगड़ते हुए कहते- 'एक दिन और बीत गया, ओ माँ! और मुझे तेरे दर्शन का कृपा लाभ नहीं हुआ।'- ऐसा कहते हुए उनकी अश्रुधारा फूट पड़ती।'

'स्वामी जी (स्वामी विवेकानंद) जब अमेरिका से लौटे, तब वे अपने गुरुभाईयों को प्रशिक्षण दिया करते थे। देर रात, यहाँ तक कि २ बजे तक, सोने के लिए जाते थे। हमेशा की तरह जागने के समय– ठीक चार बजे सबको जागना होता था। इस तरह, एक बार वे बहुत देर से सोए। उन्होंने मुझे घंटी बजाने को कहा। हमारे पास स्टेशन की तरह एक बड़ी घंटी थी। मैंने उसे बजा दिया जिसकी आवाज सबके कानों में पड़ी। हरि महाराज (स्वामी तूरियानंद) भयंकर थे। हम उनसे भयभीत रहते थे। वे एकदम गरज उठे। 'किरे? क्या बात है?' और अपने चढ़ी हुई त्यौंरियाँ मेरी ओर की। और देखो, स्वामी जी स्वयं मेरे पीछे खड़े थे। बाकी सब इतने शीघ्र जागने के लिए बड़बड़ा रहे थे, क्योंकि वे बहुत देर से सोये थे। फिर वे सब जगे। ऐसा था हमारा अनुशासन। अधिक मत सोओ। अधिक सोने से अधिक रोगों और कुविचारों से ग्रसित हो जाते हैं। जागने से कोई कभी बिगड़ता नहीं।'

रात्रि १.३० तक भजन गाए जाते रहे और वे स्वयं भी बार-बार भजनों की तानें मिलाते रहे। जब सब लोग जाने लगे तब विभूति को देखते हुए बोले– 'देखो, वह कैसे दिखता है। मानो विश्राम के अभाव के कारण, बिचारा, मुरझा गया हो।'

'विश्राम। समय की बात कौन कर सकता है, जबकि वह अपने पूरे मन से ब्रह्म के लिए व्याकुल हो। देश, काल और कार्य-कारण, सब इस सापेक्ष संसार की बाते हैं। घड़ी क्यों देखना? देखो, ब्रह्म देश-काल-कार्यकारण से परे है। जो ब्रह्म की भावातीत प्रकृति को जानता है और जिसका हृदय उसके साक्षात्कार के लिए जल रहा है, वह समय से प्रभावित नहीं होता। ब्रह्म की तुलना में हमारा सापेक्ष अस्तित्व ही क्या है?'

'कल्पों तक का विचार करो, तब भी 'अकाल' अनंत है, अपार है। अब लो, आकाश। कितना विशाल! अमेय उसमें अगणित भुवन तैर रहे हैं, जिसमें अपना जगत् बिंदुमात्र है, एक लघुतम कण, अगण्य शून्य!'

'जब मैं हिमालय में था, मैंने 'दशरथ का डांडा' का आरोहण किया। वहाँ गहरा एकांत था और मेरे चारों ओर एक के ऊपर एक हिमाच्छादित चोटियाँ थीं। मैं गहरे ध्यान में डूब गया। तब ठाकुर मेरे सामने स्वयं प्रकट हुए और मेरी बाँह पकड़कर बोले, 'देख, यह परम सत्य ब्रह्म है।' शांत, सुंदर, भव्य और उत्तुंग मन भावातीत विराटता और

अनंतता में विलीन हो गया। यदि हिमालय वहाँ न होता, तो कोई नहीं बता सकता कि वहाँ कब से खोया रहा।'

'ऐसा है ब्रह्म, देश, काल और कार्यकारण से परे। यदि कोई उस तक पहुँचना चाहता है, तो वह संसारी गणित का कोई विचार कैसे कर सकता है। तुम घड़ी देखते हो और फिर कालातीत को साक्षात करना चाहते हो?'

७ जनवरी १९३७

बाबा ने जगदीश से, जिसने दीक्षा के लिए निवेदन किया था तथा कनखल जाने की अनुमति चाही थी, अपना नित्य का कार्य आरंभ करने के लिए कहा। मैं इतना अच्छा और चुपचाप रहा, इतनी आंतरिक शांति प्रदर्शित की, पिछले लगभग दो माह से उनकी भली प्रकार सेवा करता रहा, दीक्षा के लिए अधीर नहीं हुआ। और इसलिए उसके साथ मुझे भी दीक्षा प्रदान की जाएगी। मेरा हृदय जोर से धड़कने लगा।

उन्होंने कहा– 'दीक्षा शुक्रवार को होगी।'

८ जनवरी १९३७

शुक्रवार आया। बहुत ठंड थी। वह सुबह देर से ६.४० पर जगे। उन्होंने कहा– 'मैं अस्वस्थ अनुभव कर रहा हूँ। इसके साथ ही प्रचलित प्रथा के अनुसार जगदीश ने पिछली रात अनशन नहीं किया था। आज उसे वह करना चाहिए और कल दीक्षा के लिए तैयार रहना चाहिए।'

मैं (मन ही मन) मानता हूँ कि मेरे लिए भी (दीक्षा दिए जाने का) निश्चय है। मैंने एकादशी का व्रत किया। किंतु मुझे अब तक सीधे-सीधे कुछ नहीं बताया गया है। ओह! मेरा हृदय कितना धड़क रहा है।

पिछली रात काली का महाप्रसाद था। मंदिर उत्तर की ओर करीम बाजार की दूसरी गली में है। मेरे मन में उथल-पुथल है। घर की तथा दूसरी सब प्रकार की स्मृतियाँ मेरे भीतर उमड़ रही हैं। आज सुबह वे दिखाई दिए। जब वे बोले, उनके शब्दों से प्रेम बरसता था।

१३ जनवरी १९३६, बुधवार, तिल संक्रांति

मेरे लिए परमोत्तम दिन, स्वर्णिम शब्दों में लिखे जानेवाला दिन। क्योंकि युगों-युगों के, लक्षलक्ष अगणित जन्मों का संचित सौभाग्य इस दिवस मुझपर मुस्कराया और गुरुदेव द्वारा एक दिव्य आनंद मुझे कृपापूर्वक

प्रदत्त हुआ। उस दिन के अनुभव वस्तुतः अत्यंत पवित्र हैं। उस पवित्रता की अभिव्यक्ति में शब्द असमर्थ हैं। मैं उन्हें कभी विस्मृत नहीं कर सकता। गुरुदेव की दृष्टि, उनका प्रेम, उनका समग्र प्रभाव, जिस प्रकार उन्होंने अपनी कृपा से मुझे दिव्य आनंद प्रदान किया– मैं सोचता हूँ, मैं आशा करता हूँ, मैं कभी भूल नहीं पाऊँगा। मेरे अंग-प्रत्यंग काँप रहे थे। मैंने स्वयं को परिवर्तित अनुभव किया। मैं वह नहीं हूँ, जो कुछ क्षण पूर्व था।

१६ जनवरी १६३७

सुबह। नित्यकर्म के बाद वे गाते-गाते समाधिस्थ हो गए। कुछ समय बाद उन्होंने 'परम् ब्रह्म', 'शिव शंकर' कहा और पूर्ण शांति छा गई।

१८ जनवरी १६३७

दोपहर को मुझे लगभग तीन मिनिट के लिए ठसका आया। और अपने भीतर किसी अवर्णनीय पीड़ा का अनुभव हुआ।

भक्ति, अन्नपूर्णा, उसकी और फ्रनसीस की बेटी आई थी। स्वामी गंगेश्वरानंद और चिदानंद भी। ओह! दिन किस प्रकार व्यतीत हुआ!

१६ जनवरी १६३७

'ठसका'। पिछली शाम से अनेक बार आया। मैं थोड़ा अस्वस्थ्य अनुभव कर रहा हूँ। क्यों?

२४ जनवरी १६३७

अत्यंत आनंदपूर्ण दिनों में से और एक दिन। उन्होंने शाम को मुझसे पूछा– 'क्या पका अनानास है?' सकारात्मक उत्तर मिलने पर उन्होंने मुझे उसे काटने के संबंध में निर्देश दिए। इसके बाद उन्होंने इसी संबंध में हाथों से संकेत दिए। फिर एकाएक बोले– 'तुम्हारा सर्व कल्याण हो। तुमको आत्मदर्शन हो, यही मेरी गुरु महाराज जी से प्रार्थना है। जो कुछ मुझमें अच्छा हो, सो मैं सब तुमको देता हूँ। मेरा भला तुमको मिले, तुम्हारी सब बुराई मुझे मिल जाए। अपनी बुराई तुम मुझे दे दो, मैं सुख नहीं चाहता, दुःख ही चाहता हूँ। मेरी प्रार्थना है कि भगवान मुझे दुःख दे, जिसमें कि तेरा विस्मरण कभी न हो। सुख क्या है, वह अच्छा नहीं। देखो हमारे लिए प्रत्यक्ष भगवान ने कैसे कष्ट सहे हैं। श्रीकृष्ण का जन्म हुआ और माता का एक बार भी दूध न पी सके कि उन्हें माता को छोड़ दूर ग्वालों के यहाँ जाकर रहना पड़ा। वहीं वे बड़े हुए। किंतु वहाँ भी उन्हें कुछ सुख नहीं

मिला। सदैव असुरों से विपत्ति प्राप्त होती ही गई। उन्होंने जो सहा, उसके सामने हम लोगों का दुःख है ही क्या? इसलिए मैं दुःख ही चाहता हूँ। अतः तुम्हारी सब बुराई तुम मुझे दो और मेरा सब भला तुम्हारा हो। जाओ। यही मेरा तुम्हें आशीर्वाद है। आज की संध्या का स्मरण रखना ! जाओ, तुम्हारा सब भला हो! इससे और अच्छा आशीर्वाद हो ही क्या सकता है?'

इसके बाद थकान के कारण उन्होंने कहा कि वे इससे अधिक बोल नहीं सकते। मैं चला आया। वस्तुतः इससे अधिक अच्छा आशीर्वाद क्या हो सकता है? मेरा सारा शरीर रोमांचित हो गया। मैं केवल दुःखी इसलिए हूँ कि शब्द मुझे विफल कर रहे हैं और मैं स्वयं को बिल्कुल व्यक्त नहीं कर पा रहा हूँ। मैं उनके प्रति केवल श्रद्धानत हो सका। ओ प्रभु! तू मुझे, अपने इस तुच्छदास को, अपनी उदारतापूर्वक कृपा प्रदान करता है, प्रभु, तू मुझे वह क्षमता प्रदान करता है, जिससे मैं तेरी उदारता ग्रहण कर सकूँ, क्योंकि मैं निर्बल हूँ और मेरा मानसिक पात्र रिसता है। मुझे शक्ति, विरक्ति भक्ति दे, जिससे मैं तेरी कृपा, जो तूने मेरी अयोग्यता के बाद भी बड़े वात्सल्य और दयापूर्वक प्रदान की है– के योग्य बन सकूँ। ओ प्रभु, मैं तेरा सेवक बनने का पात्र बन सकूँ।

हमारी संस्कृति कहती है कि 'ध्येय', अर्थात् सामाज हित को प्राप्त करने का 'साधन', याने व्यक्ति भी शुद्ध एवं पवित्र होने चाहिए।

— श्रीगुरुजी



शब्द संकेत : खंड ६

खंड ७ : पत्राचार

संतवृंद, विदेशस्थ बंधु, नेतागण, अन्य मतानुयायी, माता, भगिनि, प्रबुद्ध जन तथा सामाजिक संस्थाओं के कार्यकर्ताओं को लिखे पत्र।

खंड ८ : पत्र-संवाद

स्वयंसेवकों व कार्यकर्ताओं को लिखे पत्र।

खंड ९ : भेंटवार्ता

प्रश्नोत्तर, वार्तालाप, प्रमुख लोगों से वार्तालाप। पत्रकारों के सम्मुख भाषण। महत्त्वपूर्ण भेंट तथा अनौपचारिक चर्चाएँ।

खंड १० : संघर्ष के प्रवाह में

प्रतिबंध के समय सरकार से हुआ पत्राचार। उस समय दिये गए वक्तव्य। आभार प्रदर्शन। बाद के अभिनंदन समारोह। भारत–चीन व भारत–पाकिस्तान युद्ध के समय की जनसभाएँ, बैठकें, शिविर, पत्रकार वार्ता तथा वक्तव्य।

खंड ११ : चिंतन-सुधा

संपादित विचार नवनीत

खंड १२ : स्मरणांजलि

श्री गुरुजी के बारे में महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों, संसद व विधानसभा तथा समाचार–पत्रों द्वारा श्रद्धांजलि।



डा. हेडगेवार स्मारक समिति, नागपुर